एक ऐतिहासिक रूपरेखा

अनुवाद : नेमिचन्द्र जैन

Hindi Translation Of
The Culture And Civilisation of
ANCIENT INDIA—in Historical Outline
Originally Published by
Routledge and Kegan Paul, London

प्रथम हिन्दी संस्करण	१९६९
प्रकाशक	राजकमल प्रकाशन (प्राइवेट) लिमिटेड, ८, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
मूल्य	रु० २५.००
मुद्रक	नवीन प्रेस यूनिट नं० २ ७०, इण्डस्ट्रियल एस्टेट, ओखला, नई दिल्ली-२०
सज्जा	श्री सुखदेव दुग्गल

विषय-सूची

चित्र-सूची

आकृतियाँ

मानचित्र

छायाचित्र

प्राक्कथन

निस्संदेह इतिहास लिखने की वजाय बदलना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, ठीक उसी प्रकार जैसे मौसम के बारे में केवल बात करने की बजाय उसके संबंध में कुछ करना वेहतर है। स्वाधीन संसदीय जनतंत्र में प्रत्येक नागरिक यह अनुभव करता माना जाता है कि वह वातें करने वाले और चुनाव के विशेषाधिकार के लिए उस पर कर लगाने वाले प्रतिनिधियों का चुनाव करके स्वयं इतिहास रच रहा है। कुछ लोगों को अव यह संदेह होने लगा है कि यह शायद पर्याप्त नहीं है, और यदि शीघ्र ही कुछ और न किया गया तो समस्त इतिहास कहीं अणु-युग के साथ ही अचानक समाप्त न हो जाये।

भारत के गौरवपूर्ण अतीत के वारे में तथ्य अथवा सहज बुद्धि की किसी वाधा के विना जो कुछ भी कहा गया है उसमें से वहुत-सा भारतीय चुनावों से भी अधिक स्वतंत्र है। चर्चा अधिकतर अनिश्चित तिथियों और राजाओं तथा पैग़म्बरों की उचित ही अल्पविदित जीवनियों को लेकर होती रही है। मुझे लगता है कि ऐसी सामग्री के अभाव में भी, जो अन्य देशों में इतिहासकार के लिए अनिवार्य समझी जायेगी, भारतीय इतिहास की मुख्य धाराओं को अंकित करने की दिशा में कुछ अधिक उपलब्धि संभव है। कम-से-कम यह पुस्तक, विद्वत्ता प्रदर्शित किये विना, यही करने का प्रयास करती है।

मैं मि० जॉन इरविन का इस पुस्तक को उसके घोषित उद्देश्य के अधिक उपयुक्त बनाने के लिए विशेष परामर्श देने, चित्रों का चुनाव करने और पुस्तक की छपाई की देखभाल करने के लिए विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ। उनका और प्रोफेसर ए० एल० वैशम का मैं इसलिए भी आभारी हूँ कि उन्होंने इसके लिए एक अंग्रेज़ प्रकाशक खोज निकाला। श्री सुनील जाना ने कृपापूर्वक भारत के कबीलाई और ग्रामीण जीवन

के अपने कुछ उत्तम चित्रों को सम्मिलित करने की अनुमति दी है। मैं मिस मार्गरेट हाल को मानचित्रों और आकृतियों की परिश्रमपूर्वक जाँच करने के लिए और मि० सेम्योन तियुलएव को सोवियत यूनियन से चित्रात्मक सामग्री की अनुकृतियाँ बनाने और फोटो लेने के लिए धन्यवाद देना चाहता हूँ।

इस पुस्तक में यदि कोई मौलिकता है तो वह मेरे स्वतंत्र रूप में क्षेत्र-कार्य के ऊपर ही आधारित है। उन मित्रों और छात्रों का, जिन्होंने मेरी पद्धतियों के प्रति आस्था प्रकट की है और हार्दिक उत्साह से उनका समर्थन किया है, मुझ पर इतना ऋण है कि वह थोड़े-से शब्दों में नहीं कहा जा सकता।

पूना
जुलाई ३१, १९६४

डी० डी० कोसाम्बी

प्राचीन भारत
की
संस्कृति
और
सभ्यता

पहला अध्याय

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारतीय परिस्थितियाँ

भारत को तटस्थता और सूक्ष्मता से देखनेवाले किसी भी निष्पक्ष पर्यवेक्षक को दो परस्पर-विरोधी विशेषताएँ दिखाई पड़ेंगी : अनेकरूपता और साथ ही एकता।

यहाँ की अन्तहीन विविधता विस्मयकारी, प्रायः वेमेल, जान पड़ती है। वेशभूषा, भाषा, लोगों की शारीरिक आकृतियाँ, रीति-रिवाज, रहन-सहन का स्तर, आहार, जलवायु, भौगोलिक विशेषताएँ—सभी में अधिक-से-अधिक भिन्नताएँ मौजूद हैं। धनी भारतीय या तो यूरोपीय पोशाक पहनते हैं, या मुस्लिम प्रभाव वाले अथवा तरह-तरह के रंग-विरंगे भारतीय ढंग के ढीले-ढाले मूल्यवान वस्त्र। सामाजिक स्थिति के दूसरे छोर पर चिथड़ों में वे भारतीय हैं, जो एक छोटी-सी लँगोटी के अतिरिक्त प्रायः नंगे ही रहते हैं। सारे देश की कोई एक राष्ट्रीय भाषा या लिपि नहीं है; दस रुपये के नोट पर दर्जन भर भाषाएं और लिपियां दीख पड़ती हैं। भारत में कोई अलग प्रजाति नहीं; भारतीय गोरी चमड़ी और नीली आंखोंवाले भी होते हैं और काली चमड़ी और काली आँखोंवाले भी। और इनके बीच हर संभव मध्यवर्ती प्रकार के लोग भी मिल जाते हैं, यद्यपि बाल सबके प्रायः काले ही होते हैं। कोई विशिष्ट भारतीय आहार नहीं, यद्यपि भात, सब्जियां और मसाले यूरोप की अपेक्षा अधिक खाए जाते हैं। उत्तर भारतीय को दक्षिण भारत का भोजन रुचिकर नहीं

लगता, और न दक्षिण भारतीय को उत्तर का। कुछ लोग मांस, मछली अथवा अण्डे छूते तक नहीं; बहुत-से लोग गाय का मांस खाने की अपेक्षा भूखों मरना अधिक पसंद करेंगे और सचमुच करते भी हैं, पर कुछ अन्य लोग ऐसी पाबंदी नहीं मानते। आहार-संबंधी ये रूढ़ियाँ रुचि नहीं धर्म पर आधारित हैं। जलवायु भी देश में सभी प्रकार की मिल जाती है : हिमालय पर लगातार बर्फ़ जमी रहती है, कश्मीर में उत्तरी यूरोप जैसा मौसम होता है; राजस्थान में गरम रेगिस्तान और दक्षिणी पठार पर बसाल्ट और ग्रेनाइट के गरम पहाड़ हैं; दक्षिणी छोर पर उष्णकटिबंधीय गरमी और पश्चिमी घाट की कंकरीली मिट्टी में घने जंगल हैं। दो हज़ार मील लंबा तट, चौड़ी और उपजाऊ रौसली घाटी में विशाल गंगा और उसकी सहायक नदियों का समूह, कम जटिल अन्य बड़ी-बड़ी नदियाँ, कुछ बड़ी-बड़ी झीलें, कच्छ और उड़ीसा के दलदल—इन सबसे एक महाद्वीप का चित्र पूरा हो जाता है।

एक ही प्रदेश, ज़िले या शहर के भारतीयों में सांस्कृतिक भिन्नताएँ भी देश के विभिन्न भागों के बीच भौतिक भिन्नताओं के समान ही व्यापक हैं। आधुनिक भारत में रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसा व्यक्ति उत्पन्न हुआ जिसका विश्व-साहित्य में मूर्धन्य स्थान है। पर ठाकुर के अंतिम निवास से थोड़ी ही दूर पर संथाल तथा अन्य निरक्षर आदिम जातियों के लोग मौजूद हैं जो आज भी उनका नाम न जानते होंगे। उनमें से कुछ तो अभी तक आहार-संग्रह की अवस्था से आगे नहीं बढ़े हैं। नगर में बैंक, सरकारी कार्यालय, कारखाना या वैज्ञानिक संस्थान जैसी कोई प्रभावशाली आधुनिक इमारत का डिज़ाइन किसी यूरोपीय वास्तुशिल्पी या उसके भारतीय शिष्य ने भले ही बनाया हो। पर जिन गरीब मज़दूरों ने उसका वास्तविक निर्माण किया होगा वे आम-तौर पर बिलकुल अनगढ़ औज़ारों का प्रयोग करते हैं। यह भी संभव है कि उनकी मज़दूरी का भुगतान एकमुश्त किसी फ़ोरमैन या चौधरी को किया जाता हो जो साथ ही उनकी छोटी-सी श्रेणी (गिल्ड) का प्रधान और उनके कुल का मुखिया भी हो। निश्चय ही ये मज़दूर उन लोगों के काम के बारे में कुछ भी नहीं जानते जिनके लिए ये भवन खड़े किये गये हैं। वित्त-व्यवस्था, अधिकारियों द्वारा प्रशासन, कारखाने में पेचीदा मशीनों से होनेवाला उत्पादन, और विज्ञान का विचार तक उन इंसानों की मानसिक परिधि के बाहर है जो बड़े कष्ट से जंगलों में या ऐसी भूमि के किनारे पर रहते आये हैं जिस पर बहुत अधिक खेती हो चुकी है। उनमें से अधिकांश जंगल की अकाल-जैसी अवस्था से भागकर आये हैं और शहर में सस्ते-से-सस्ते प्रकार के गुलाम मज़दूर बन गये हैं।

किन्तु इस दीखनेवाली अनेकरूपता के बावजूद एक दोहरी एकता भी मौजूद है। ऊपर शासक वर्ग के कारण कुछ समान विशेषताएँ मिलती हैं। यह वर्ग है भारतीय

व्यवसायियों या पूंजीपतियों का, जो भाषा, प्रादेशिक इतिहास इत्यादि के कारण विभाजित होने पर भी हितों की समानता के फलस्वरूप दो समुदायों में एक साथ हैं। वित्त और कारख़ानों में मशीनों द्वारा उत्पादन वास्तविक पूँजीपति वर्ग के हाथों में है। उत्पादन के वितरण पर मुख्यतः टुटपूँजिया दूकानदारों के वर्ग का प्रभुत्व है जो अपनी बड़ी संख्या के कारण बहुत शक्तिशाली है। अनाज का उत्पादन बहुत अधिक छोटी जोतों में होता है। करों और कारखानों के माल के लिए नक़द पैसा चुकाने की आवश्यकता ने किसान को ज़बर्दस्ती टुटपूँजिया वर्ग का एक पिछड़ा हुआ और अनिच्छुक अंश बना दिया है। खेती की सामान्य अतिरिक्त उपज भी आढ़तियों और महाजनों के हाथ में होती है, जो आमतौर पर बढ़कर बड़े पूँजीपति नहीं बन पाते। सबसे धनी किसानों और महाजनों के बीच कोई ख़ास भेद नहीं होता। चाय, कॉफ़ी, कपास, तम्बाकू, सन, काजू, मूँगफली, गन्ना, नारियल आदि नक़दी फ़सलें अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार से या कारख़ानों में होने वाले उत्पादन से जुड़ी हुई हैं। कभी-कभी इनकी खेती आधुनिक पूँजीवादी मालिक बड़े-बड़े भूमि-खण्डों पर मशीनों की सहायता से भी करते हैं। उनका मूल्य बड़े-बड़े प्रायः विदेशी, वित्तपति निर्धारित करते हैं, और अधिकांश मुनाफ़ा हज़म कर जाते हैं। दूसरी ओर बहुत-सी उपभोग की वस्तुएँ, विशेषकर बरतन और कपड़ा जैसी चीज़ें आज भी दस्तकारी तरीकों से बनती हैं और कारखानों के उत्पादन के साथ प्रतियोगिता के बावजूद वैसे ही बनती जाती हैं। राजनैतिक परिस्थितियों पर पूँजीपति वर्ग के इन दोनों समुदायों का ही पूरा प्रभुत्व है, जिन्हें पेशेवर लोगों (वकील इत्यादि) तथा बाबुओं का वर्ग विधानसभाओं और प्रशासनतंत्र के साथ जोड़ता है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि ऐतिहासिक कारणों से भारत में सरकार ही सबसे बड़ी उद्यमकर्ता है। बड़े पूँजीपति के रूप में उसकी परिसम्पत्ति सारे भारतीय पूँजीपतियों की परिसम्पत्ति के बराबर होगी, यद्यपि वह विशेष प्रकार के विनियोगों में केन्द्रित है। रेलें, हवाई सेवाएँ, डाक-तार, रेडियो और टेलिफोन, कुछ बैंकें, जीवन बीमा और सुरक्षा उद्योग तो पूरी तरह राज्य के हाथ मे हैं ही, बिजली और कोयले के उत्पादन की भी किसी हद तक यही स्थिति है। तेल के कुओं पर राज्य का अधिकार है। बड़े-बड़े तेल-शोधक कारखाने अभी तक विदेशी कंपनियों के हाथ में अवश्य हैं, यद्यपि राज्य के तेल-शोधक कारखाने भी शीघ्र ही भरपूर उत्पादन करने लगेंगे। इस्पात अभी तक अधिकांश निजी क्षेत्र में था, पर अब राज्य ने भी बड़े पैमाने पर लोहे और इस्पात का उत्पादन शुरू कर दिया है। दूसरी ओर, राज्य अनाज का उत्पादन नहीं करता। जब अनाज की दुर्लभता (जो प्रायः दूकानदार या आढ़तिये झूठमूठ पैदा कर देते हैं) के कारण सस्ते मजदूर शहरों को छोड़कर जाने

लगते हैं तो राज्य मुख्य औद्योगिक केन्द्रों में राशन-व्यवस्था द्वारा आयात किये हुए अनाज का वितरण करता है। इससे बड़े और छोटे दोनों श्रेणी के पूंजीपति संतुष्ट रहते हैं, क्योंकि इससे दोनों में से किसी के मुनाफ़े पर कोई आँच नहीं आती। अनिश्चित खाद्य-स्थिति का सीधा इलाज और उसे स्थिर करने का उपाय यही है कि कृषि-करों को अनाज के रूप में वसूल किया जाय और अनाज के भंडार और वितरण का कार्य प्रभावकारी ढंग से सरकार अपने हाथ में ले ले। यह सुझाव बहुत बार दिया जा चुका है—और प्राचीन भारत में यही प्रथा थी भी—किन्तु इस दिशा में अभी तक कुछ नहीं हुआ है। आयात होनेवाला अनाज न तो कुशलतापूर्वक यांत्रिक साधनों से उतारा जाता है, न आधुनिक अनाज-भंडारों में रखा जाता है, और न यंत्रों की सहायता से साफ़ ही किया जा सकता है। उपभोग सामग्री का उत्पादन निजी क्षेत्र में होता है। पर इस क्षेत्र में भी राज्य का हस्तक्षेप दो कारणों से आवश्यक हो जाता है। एक तो, उसके बिना अनियंत्रित उत्पादन और निरंकुश लोभ के कारण अर्थ-व्यवस्था भंग होने का डर है, विशेषकर इसलिए भी कि बहुत-सा कच्चा माल और अधिकांश मशीनें विदेशों से मँगानी पड़ती हैं जिसके लिए विदेशी मुद्रा की बड़ी कमी है। दूसरे, पूंजीपति वर्ग सत्ता सँभालने के पहले ही दुर्लभता, सीमित उत्पादन और काले बाजार की अर्थव्यवस्था से दो महायुद्धों में होनेवाली वस्तुओं की कमी के कारण पूरी तरह परिचित हो चुका था। वास्तव में ये महायुद्ध और उनके कारण उत्पन्न वस्तुओं की कमी ही पूंजी के इकट्ठा होने और अंततः अंग्रेज़ों के हाथ से भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरित होने का कारण थी। उदाहरण के लिए, राज्य को अब बाध्य होकर प्रतिजैविक पदार्थों और औषधियों का बड़े पैमाने पर एकाधिकारी उत्पादक बनना पड़ रहा है, क्योंकि निजी क्षेत्र ने इस मामले में अत्यन्त घातक ढंग से अपने लोभ और मानव-कल्याण के प्रति तिरस्कार का भाव प्रदर्शित किया। सरकार अपने नियंत्रणकारी कर्तव्य का पालन करने और भावी विकास की योजना बनाने के कारण सभी वर्गों से परे जान पड़ती है। अंग्रेज़ों से प्राप्त प्रशासन और उच्च अधिकारीतंत्र सदा ही अपने को हर भारतीय वस्तु से ऊपर मानता और उसी प्रकार व्यवहार करता आया है। निस्संदेह अंतिम विश्लेषण में सरकार का संचालन केवल एक ही वर्ग के लोग करते हैं। इस भाँति सरकार किसका और कैसे नियंत्रण करती है यह इस बात पर निर्भर है कि सरकार पर किसका नियंत्रण है। हाल में चीन के साथ सीमा-सम्बन्धी झड़प के कारण केन्द्रीय राजसत्ता को ऐसे असाधारण तानाशाही अधिकार प्राप्त करने का अवसर मिल गया, जिनके फलस्वरूप समाजवाद अथवा अन्य कोई लक्ष्य जल्दी से प्राप्त करना संभव है। किन्तु फिर भी यदि देश समाजवाद से पहले की भाँति ही दूर है, तो इस व्यंगोक्ति में कुछ-न-कुछ सचाई अवश्य होगी कि हम

सड़क पर ठीक दिशा में नहीं चल रहे हैं। इस सबके बावजूद, कट्टर-से-कट्टर आलोचक को भी यह तो मानना पड़ेगा कि स्वाधीनता के बाद से प्रगति हुई है, भले ही जितनी अधिक हो सकती थी और होनी चाहिए थी उतनी न हुई हो। अनावश्यक मानव-रचित अकाल, जिनके कारण बंगाल और उड़ीसा में अंग्रेज़ी शासन के अंतिम दिनों में लाखों की जानें गईं, आज उतने ही अयथार्थ लगते हैं जितनी औपनिवेशिक कुशासन की अन्य भयानक बुराइयाँ।

आधुनिक शासक वर्ग

भारतीय शहरी पूँजीपति वर्ग की सबसे स्पष्ट विशेषता है उस पर विदेशी छाप। स्वाधीनता के चौदह वर्ष बाद भारत में अंग्रेज़ी अभी तक प्रशासन, बड़े व्यवसाय और उच्च शिक्षा की भाषा बनी हुई है। बेशुमार अधिकारहीन समितियों में सहायतापूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत करने से अधिक परिवर्तन के लिए कोई महत्त्वपूर्ण प्रयास नहीं किया गया है। बुद्धिजीवी अपने वस्त्रों तक में, बल्कि उससे भी अधिक साहित्य और कला में, नवीनतम ब्रिटिश फ़ैशन की नक़ल करता है। भारतीय उपन्यास और कहानी, भारतीय भाषाओं में भी, विदेशी आदर्शों अथवा विदेशी प्रेरणाओं पर आधारित आधुनिक रचनाएँ हैं। भारतीय नाटक दो हज़ार वर्ष से भी पुराना है, पर आज का शिक्षित भारतीय रंगमंच, और अधिकांश भारतीय सिनेमा, अन्य देशों के रंगमंच और सिनेमा के नमूने पर है। भारतीय काव्य में यह विदेशीपन कुछ कम है, यद्यपि विषयवस्तु और छंदों के चुनाव में वह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

यह बुद्धिजीवी वर्ग यूरोप महाद्वीप की साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के गौरवपूर्ण कोष की, घटिया अंग्रेज़ी पुस्तकों के चर्वित-चर्वण को छोड़कर, प्रायः उपेक्षा ही करता है। सच बात यह है कि भारत में समस्त पूँजीवादी ढंग आरोपित और बाह्य है। देश में धन का बड़ा भारी सामन्ती और सामन्ती-पूर्व संचय था जो सीधा आधुनिक पूंजी नहीं बना। उसमें से बहुत-सा तो अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ों ने लूट लिया। जब वह धन इंगलैंड पहुँचा तो उसने उस देश में बड़ी भारी औद्योगिक क्रांति की और यंत्रों द्वारा उत्पादन से संबद्ध होकर सच्चे अर्थों में आधुनिक पूंजी का रूप धारण किया। इस परिवर्तन के कारण भारत के साधनों का शोषण बढ़ गया क्योंकि प्रशासन और सैनिक प्रबंध लगातार अधिकाधिक भारी होता गया। पेंशन, मुनाफ़े और ब्याज की रक़में अधिकांश इंगलैंड को ही जाती थीं। इसके अतिरिक्त भारत के कच्चे माल का मूल्य विदेशी शासकों की सुविधा के अनुसार चुकाया जाता था। नील, पटसन, चाय, तम्बाकू, कपास की खेती इतने बड़े पैमाने पर की गयी कि पूरे ज़िलों की अर्थव्यवस्था बदल गयी। नियंत्रण सारा

विदेशी हाथों में था, क्योंकि माल तैयार करने का काम इंगलैंड में होता था। तैयार माल का एक अंश भारत के बड़े भारी बाज़ार में बड़े मुनाफ़े की दरों पर बेचा जाता था। यह मुनाफ़ा लंदन के महाजनों और बरमिंघम तथा मैन्चैस्टर के कारख़ानेदारों की जेबों में पहुँचता था। अनिवार्यतः गौण वित्तीय वृद्धि बंबई, मद्रास और कलकत्ता के नये शहरों में भी हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह भी पता चला कि भारतीय मज़दूरों को मशीनों पर काम करना सिखाने में खर्च कम है। बंबई की कपड़ा मिलें और कलकत्ते की जूट मिलें इस जानकारी के और १८५७ के विद्रोह के दमन का खर्च पूरा करने के लिए ब्रिटिश कपड़े पर लगाये गये करों के परिणामस्वरूप बनीं। मशीनों पर काम करनेवाले मज़दूरों की आवश्यकता रेलों के लिए भी थी। प्रथम भारतीय कालेज और विश्वविद्यालय इससे भी पहले की इस जानकारी के कारण स्थापित हुए कि प्रशासन और व्यापारी कारोबार के लिए किरानी बाहर से निर्यात करने की बजाय भारतीयों को प्रशिक्षित करना निश्चित रूप से कम महँगा है। भारतीय न केवल काम-काज जल्दी सीख जाते थे बल्कि विदेशी को दिये जानेवाले वेतन के एक-तिहाई से लगाकर दसवें हिस्से तक में ईमानदारी और कुशलता से काम करते थे। निस्संदेह, सब ऊँची जगहें विजेता शासक वर्ग के लिए आरक्षित थीं। अंततः भारतीय बिचौलियों ने देखा कि वे अपने अलग कारख़ाने लगा सकते हैं। इस मैदान में सबसे पहले बंबई के पारसी आगे आये। उनमें से बहुत-से ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारी सहयोगियों के रूप में, विशेषकर चीन के ऊपर थोपे गये अफ़ीम के व्यापार में, बहुत धन कमा चुके थे। १८८० से बड़े-बड़े भारतीय महाजनों और कारख़ानेदारों के साथ नये ढंग के राष्ट्रवाद और एडमंड बर्क तथा जॉन स्टुअर्ट मिल से प्रेरणा प्राप्त भारतीय राजनैतिक नेता अधिकाधिक प्रमुखता प्राप्त करने लगे।

यद्यपि इस पूँजीपति वर्ग का प्रारंभ विदेशी व्यापारियों के स्थानीय मुनीमों के रूप में हुआ, पर वह एक से अधिक वर्ग से मिलकर बना था, उसकी रचना उस कहीं पुराने भारतीय समाज में से हुई थी जिसमें वर्ग-विभाजन पहले से ही मौजूद था। वास्तव में आधुनिक भारतीय पूँजी का बड़ा भाग प्राचीन सामंती और महाजनी संचय का परिवर्तित रूप है। आधुनिक युग में भारत के राजों-रजवाड़ों को भी ग़रीबी से बचने के लिए अपनी जमा की हुई सम्पत्ति को शेयरों या सरकारी ऋणों का रूप देना पड़ा। सामंती, महाजनी और व्यवसायी परिवार, विशेषकर उनके स्त्री-समुदाय, अपने धार्मिक अंध-विश्वासों के बाह्य रूपों से कभी मुक्त न हो सके। बुद्धिजीवी और पेशेवर लोग ऐसे अन्य समूहों से आये जो दोनों में से किसी के अंतर्गत न थे। वे अंग्रेज़ी औपनिवेशिक शासन को हटाने के संघर्ष के दौरान देशभक्ति और राष्ट्रीय अभिमान की आवश्यकता को बड़ी तीव्रता से अनुभव करते थे। इसने नये बुद्धिजीवी

वर्ग को अपने देश के अतीत की खोज के लिए प्रेरित किया, और कभी-कभी तो उसने ऐसे गौरवशाली अतीत का आविष्कार कर डाला, जिसका कहीं पता न था। (यह समस्या जापान में कभी नहीं उठी, यद्यपि वह भी हाल ही में आधुनिक होनेवाला प्राच्य देश है। जापान की राष्ट्रीय परम्परा सदा सशक्त और सुप्रमाणित रही है। जापान का औद्योगीकरण विदेशी शासन के विना एक राष्ट्रीय स्थानीय पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में हुआ। इसके वावजूद जापानी बुद्धिजीवी वर्ग ने अपने मेइजी युग में पाश्चात्य संस्कृति के अध्ययन और अनुकरण का काम बड़े ज़ोर-शोर से किया। इससे प्रकट होता है कि ऐसे सांस्कृतिक परिवर्तनों के बड़े गहरे अंतर्वर्ती कारण होते हैं। केवल सैनिक अधिकार और नये फैशन के अनुकरण के आकर्षण से इस प्रवृत्ति की पूरी व्याख्या नहीं हो सकती।) किंतु उसी भारतीय पूंजीपति वर्ग ने लंबे और तीखे संघर्ष के वाद अंग्रेज़ शासकों को भारत से निकाल दिया। यदि भारतीय जनता के बड़े भाग ने इस पूंजीपति वर्ग के अग्रगामी पक्ष का नेतृत्व स्वीकार न किया होता तो अंग्रेज़ों का यह निष्कासन संभव न होता। इस संघर्ष में भारतीय पक्ष शस्त्रसज्जित न था। स्वाधीनता संग्राम के संचालक महात्मा गांधी की और तिलक जैसे कई पूर्ववर्तियों की विचारधारा और पद्धतियाँ गांधी के ताल्सताय और इस प्रकार सिल्वियो पेलिको से सीधे संवंधसूत्र के वावजूद, वेहद भारतीय जान पड़ती हैं। इन पद्धतियों के विना यह संदिग्ध है कि इस शताब्दी के प्रारंभ से भारत में मौजूद विशेप परिस्थितियों को देखते हुए, नेतृत्व इतना कारगर हो पाता। इसलिए इस तथ्य का कि इस संघर्ष के वावजूद और उसके तुरंत वाद भी भारतीय मध्य वर्ग में पाश्चात्य संस्कृति के लिए आकर्षण वढ़ गया है, विशेष महत्त्व और गहरा कारण है। सांस्कृतिक परिवर्तन का आधार उन प्रकट रूपों के वाहर खोजना आवश्यक है जिन्हें आमतौर पर संस्कृति का सार माना जाता है।

नया भारतीय पूंजीपति वर्ग जर्मनी और इंगलैंड तो दूर, जापान के पूंजीपति वर्ग की तुलना में भी तकनीकी दृष्टि से पिछड़ा हुआ था। उसे किसी नई यांत्रिक-पद्धति अथवा महत्त्वपूर्ण आविष्कार का श्रेय नहीं है। आधुनिक औद्योगिक उत्पादन के लिए मशीनें, वित्त-व्यवस्था, वल्कि राजनैतिक सिद्धान्त तक सशरीर इंगलैंड से आयात किये गये थे। देश में ग़रीव भूमिहीन भारतीय मज़दूरों का एक वड़ा वर्ग पहले से ही मौजूद था। इस कारण नया पूंजीपति वर्ग भारतीय औद्योगिक सर्वहारा वर्ग की अपेक्षा कहीं ज़्यादा तेज़ी से विकसित हुआ। औद्योगीकरण की वास्तविक समस्याएँ स्वाधीनता के वाद ही सामने आई। इस दिशा में भारत ने अंग्रेज़ी शासन के पूरे काल में जितनी प्रगति की थी, उससे कहीं ज्यादा पिछले पन्द्रह वर्षों में की है। वाकी कहानी भविष्य के हाथों में है। अव हम उस सुदूर अतीत पर तनिक एक

नज़र डालें जिससे भारतीय पूंजीपति वर्ग का कोई सरोकार नहीं, यद्यपि उसकी कठोर परिश्रम तथा तकनीकी निपुणता प्राप्त किये बिना ही, जल्दी से मुनाफ़ा कमाने की इच्छा में बाधा डाले बिना ही उसके मानसिक जगत् पर कभी-कभी उस सुदूर अतीत का गहरा प्रभाव पड़ा।

इतिहासकार की कठिनाइयाँ

अभी तक जो कुछ कहा गया उससे संभवतः इस धारणा को बल मिल सकता है कि भारत कभी एक राष्ट्र न था, कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता विदेशी, चाहे मुस्लिम चाहे ब्रिटिश, विजय की ही उपोत्पत्ति है। यदि ऐसा ही होता तो भारतीय इतिहास में केवल विजेताओं का, और उन्हीं के द्वारा, इतिहास लिखने योग्य होता। विदेशी लोग जो पाठ्यपुस्तकें छोड़ गये हैं वे स्वभावतः इसी छाप को गहरा करती हैं। पर जिस समय मकदूनिया का सिकन्दर भारत के जादुई नाम और अकल्पनीय वैभव की कहानियों से पूर्व की ओर आकर्षित हुआ था, उस समय इंगलैंड और फ्रांस अभी-अभी लोह-युग में प्रवेश कर रहे थे। अमरीका का पता भी भारत के लिए नये व्यापार-मार्ग खोजने में ही चला; इसकी छाप अमरीकी आदिवासियों को 'इंडियन' कहने में भी मौजूद है। अरबों ने, जो बौद्धिक दृष्टि से संसार में सबसे प्रगतिशील और सक्रिय लोग थे, बहुत-सा गणित-शास्त्र और अपने चिकित्सा-संबंधी ग्रंथ भारत से प्राप्त किये थे। एशियाई संस्कृति और सभ्यता के दो प्राथमिक स्रोत चीन और भारत ही हैं। सूती कपड़े (बल्कि कैलिको, छींट, डूंगरी, पजामा, शैश और गिंगम जैसे शब्दों का उद्गम भी) और शक्कर रोज़मर्रा के जीवन को भारत की विशेष देन हैं, जैसे काग़ज़, चाय, चीनी मिट्टी और रेशम चीन की हैं।

भारत में जो विविधता मिलती है वह देश की प्राचीन सभ्यता की विशिष्टता को समझने के लिए पर्याप्त नहीं है। अफ्रीका या चीन के केवल एक प्रांत युन्नान में भी इतनी ही विविधता मौजूद है। पर मिस्र की महान् अफ्रीकी संस्कृति में वह निरंतरता नहीं है जो हम भारत में पिछले तीन हज़ार वर्ष से भी अधिक समय से पाते हैं। मिस्र और ईराक की संस्कृतियों का अतीत अरबी संस्कृति से पीछे नहीं जाता। इसी प्रकार अलग से कोई युन्नानी संस्कृति भी नहीं है। चीन का विकास हैन लोगों की दूसरों के ऊपर प्रधानता और बहुत जल्दी ही एक स्थिर साम्राजी व्यवस्था स्थापित करने तक ही सीमित है। चीन की अन्य बहुत-सी जातियों की अपनी कोई अलग ऐसी देन नहीं रही। इंका और अज़टेक स्पेन की विजय के बाद शीघ्र ही नष्ट हो गये। मेक्सिको, पेरू और लेटिन अमरीका की संस्कृतियाँ आमतौर पर यूरोपीय हैं, देशज नहीं। रोमनों ने विश्व-संस्कृति पर अपनी छाप भूमध्यसागरीय क्षेत्र की प्रत्यक्ष विजय

द्वारा छोड़ी। निरंतरता मुख्यतः उन क्षेत्रों में सुरक्षित रही जहाँ लेटिन भाषा और संस्कृति को कैथालिक चर्च ने आगे बढ़ाया। इसके विपरीत, भारतीय धर्म-दर्शन का जापान और चीन में, भारतीय सेना की शक्ति के बिना ही, स्वागत हुआ, यद्यपि शायद ही किसी भारतीय ने इन देशों में पैर रखा हो। हिंदेशिया, हिन्दचीन, थाईदेश, बर्मा, लंका का बहुत-सा सांस्कृतिक इतिहास भारत से प्रभावित है, यद्यपि ये कभी भारतीय अधिकार में नहीं रहे।

भारतीय संस्कृति की स्वयं अपने ही देश में निरंतरता शायद उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। भारतीय संस्कृति ने अन्य देशों को किस भाँति प्रभावित किया यह अन्य पुस्तकों की विषय-वस्तु है। यहाँ हमारा उद्देश्य भारत में उसके प्रारंभ और उसके विकास की मुख्य विशेषताओं का अन्वेषण करना है।

किन्तु प्रारंभ में ही हमारे सामने एक ऐसी कठिनाई आती है जिसका कोई हल नहीं। भारत में इतिहास की लिखित सामग्री नहीं के बराबर है। चीनी साम्राज्यों के इतिवृत्त, प्रदेशों के लेखे, स्सू-मा-चिएन जैसे प्राचीन इतिहासकारों के ग्रंथ, समाधियों और देववाणी की हड्डियों पर अंकित अभिलेख, आदि, से चीन का ईसापूर्व १४०० के बाद का इतिहास बहुत-कुछ निश्चयपूर्वक जाना जा सकता है। रोम और यूनान इतने प्राचीन नहीं हैं, पर उनका कहीं अच्छा ऐतिहासिक साहित्य उपलब्ध है। मिस्र, बाबेरू, असीरियाई और सुमेर के इतिवृत्त भी पढ़े जा चुके हैं। मगर भारत में केवल अस्पष्ट-सी अनुश्रुतियाँ मात्र हैं जिनमें मिथकों और आख्यानों के स्तर से ऊँची कोई लिखित प्रामाणिक सामग्री बहुत कम है। उससे हम राजाओं की सम्पूर्ण सूची तक नहीं तैयार कर सकते। कई तो पूरे-के-पूरे राजवंश विस्मृत हो गये हैं। जो कुछ बचा है वह इतना अस्पष्ट है कि मुसलमानों के युग तक किसी प्रमुख भारतीय व्यक्ति की तिथियाँ तक ठीक से निर्धारित नहीं हो सकतीं। यह कहना बहुत ही कठिन है कि अमुक राजा का ठीक इतने प्रदेश के ऊपर राज्य था। राजकीय इतिवृत्त भी नहीं मिलते; इसमें आंशिक अपवाद कश्मीर और चंबा के ही हैं। यही बात भारतीय साहित्य के महान् नामों के विषय में है। कृतियाँ उपलब्ध हैं, पर लेखक की तिथियाँ कदाचित ही ज्ञात हैं। अधिक सौभाग्यशाली होने पर मोटेतौरपर यह शायद निश्चित हो सके कि रचना किस शताब्दी की है; अधिकांशतः तो केवल यही कहा जा सकता है कि लेखक हुआ अवश्य था। कभी-कभी यह भी संदिग्ध होता है; बहुत-सी रचनाएँ जो किसी एक लेखक-विशेष के नाम से ज्ञात हैं, संभवतः एक ही लेखक की रचना नहीं हैं।

इस कारण कई बुद्धिमान विद्वान भी यह कहने लगते हैं कि भारत का कोई इतिहास नहीं है। निस्संदेह प्राचीन भारत का कोई इतिहास रोम या यूनान के

इतिहास-जैसी ब्यौरेवार निश्चितता से संभव नहीं। मगर इतिहास है क्या? यदि इतिहास का अर्थ केवल प्रमुख महत्त्वाकांक्षी लोगों के नामों और बड़ी-बड़ी लड़ाइयों की सूची ही है तो भारतीय इतिहास लिखना कठिन होगा। किन्तु यदि किसी जन-समुदाय के राजा का नाम जानने के बजाय यह जानना अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाए कि उसके पास हल था या नहीं, तो भारत का इतिहास है। इस ग्रंथ में मैं यह परिभाषा मानकर चलूँगा : **उत्पादन के साधनों और संबंधों में क्रमिक परिवर्तनों का कालक्रम से विवरण ही इतिहास है।** इस परिभाषा में यह लाभ है कि इतिहास को ऐतिहासिक घटनाओं की शृंखला से भिन्न रूप में भी लिखा जा सकता है। तब **संस्कृति** को भी नृवंशशास्त्र के अर्थ में, सम्पूर्ण जन-समुदाय की मुख्य जीवन-पद्धतियों के वर्णन के रूप में, समझना होगा। इन परिभाषाओं पर और सूक्ष्मता से विचार करें।

कुछ लोग संस्कृति को नितांत बौद्धिक और आत्मिक मूल्यों की वस्तु, धर्म, दर्शन, क़ानून-व्यवस्था, साहित्य, कला, संगीत आदि के अर्थ में, मानते हैं। कभी-कभी उसमें विस्तार करके शासक वर्ग के आचार-व्यवहार में परिष्कार को भी शामिल कर लिया जाता है। इन बुद्धिजीवियों के अनुसार इतिहास ऐसी ही 'संस्कृति' पर आधारित होता है और उसमें केवल इसका ही विवरण रहना चाहिए; और किसी बात का कोई महत्त्व नहीं। इस प्रकार की संस्कृति को इतिहास की मुख्य चालक शक्ति मानने में कठिनाइयाँ हैं। ऐसी तीन महानतम स्पष्ट संस्कृतियाँ मध्य एशिया में एकत्र हुईं : भारतीय, चीनी और यूनानी; तथा दो महान् धर्मों ने उन्हें पुष्ट किया : बौद्ध और ईसाई। इस क्षेत्र को कुषाण साम्राज्य के अंतर्गत व्यापार में केन्द्रीय स्थान और भारी राजनैतिक महत्त्व प्राप्त था। पुरातत्त्वविदों को आज भी मध्य एशिया में खुदाई करने पर सुन्दर अवशेष मिल जाते हैं। किन्तु इस सुविकसित मध्य एशिया का मानव संस्कृति और मानव जाति के इतिहास में मौलिक अवदान बहुत छोटा है। निश्चित रूप से कम 'संस्कृत' परिवेश से आने वाले अरबों ने यूनानी और भारतीय विज्ञान के महान आविष्कारों की सुरक्षा, विकास और भावी पीढ़ियों तक उन्हें पहुँचाने के लिए कहीं अधिक कार्य किया। अल-बिरूनी जैसे इक्का-दुक्का मध्य एशियाई ने भी, जिसने इस प्रक्रिया में योग दिया, अरबी में लिखा, और वह भी इस्लामी संस्कृति के सदस्य के रूप में, मध्य एशियाई नहीं। जिन 'असंस्कृत' मंगोलों के आक्रमणों ने मध्य एशिया के उत्थान को बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट किया, उनका चीनी संस्कृति के ऊपर कोई घातक प्रभाव न पड़ा, बल्कि उसे और भी प्रगति की प्रेरणा मिली।

मनुष्य केवल रोटी पर ही जीवित नहीं रहता, किन्तु अभी तक मनुष्य की कोई ऐसी नस्ल तैयार नहीं हुई जो रोटी के बिना, अथवा किसी-न-किसी प्रकार के आहार के बिना जीवित रह सकती हो। सच पूछिए तो ख़मीर-रहित रोटी बाद में

नव-पाषाण युग की खोज है, जो भोजन बनाने और सुरक्षित रखने में बहुत प्रगति की सूचक है। 'हमें हमारी आज की रोटी दो', आज भी दैनिक ईसाई प्रार्थना का अंग है, यद्यपि ईसाई धर्मशास्त्र आत्मा के जगत् को समस्त भौतिक बातों से ऊपर मानता है। किसी भी विधिवत संस्कृति का आधार वास्तविक आहार उत्पादक की अपनी आवश्यकता से अधिक खाद्य की उपलब्धि में ही हो सकता है। ईराक के विशाल शंकु-मंदिर, चीन की दीवार, मिस्र के पिरामिड, अथवा आधुनिक गगनचुम्बी भवन बनाने के लिए संबद्ध युग में अतिरिक्त आहार की उतनी ही विशाल राशि अवश्य उपलब्ध रही होगी। अतिरिक्त उत्पादन उपयोग में आनेवाले औज़ारों और पद्धतियों पर, और यदि सुविधाजनक यद्यपि बहु-प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग करें तो, 'उत्पादन के साधनों' पर, निर्भर होता है। जिस उपाय से अतिरिक्त अंश—न केवल अतिरिक्त खाद्य बल्कि अन्य सभी उपज—अंतिम उपयोग करनेवाले के हाथों में पहुँचता है, वह समाज के रूप, 'उत्पादन के संबंधों' द्वारा निर्धारित होता है और उन्हें निर्धारित भी करता है। आदिम आहार-संग्रहकों का नगण्य अतिरिक्त अंश प्राय: संग्रहकर्ता समूह की स्त्रियों में विभाजित होता और बँट जाता है। अधिक विकास होने पर बँटवारे का काम गृहपति, कबीले के मुखिया, कुल के प्रधान द्वारा किया जाने लगता है और प्राय : पारिवारिक इकाइयों के माध्यम से होता है। अतिरिक्त खाद्य की राशि विशाल और केन्द्रीभूत होने पर उसके संग्रह और वितरण का निर्णय पुरोहितों की श्रेणियों अथवा सामंत-सरदारों के माध्यम से बड़े-बड़े मन्दिर या फरओह करने लगते हैं। दास समाज में उत्पादन और विनिमय पर अधिकार दासों के स्वामियों का होता है, पर यह सम्भव है कि यह वर्ग भूतपूर्व पुरोहितों, सरदारों और कुल के प्रधानों में से ही विकसित हुआ हो जो अब दूसरे कार्य करने लगे हों। सामंती व्यवस्था में इसका मुख्य साधन कृषिदासों का नियंत्रण करनेवाला सामंती सरदार होता है। उसके प्रतिरूप व्यापारी और महाजन को दस्तकारों की श्रेणियों से भी निपटना पड़ता है। व्यापारी वर्ग कारख़ानेदारी के द्वारा अपना रूप बदलकर पूंजीवादी युग का आरम्भ करता है जिसमें मनुष्य का श्रम माल या पण्य का रूप ले लेता है, यद्यपि वह स्वयं स्वतंत्र बना रहता है। इस सबमें रूप और सार में विभिन्नता हो सकती है। ब्रिटेन में सरदारों, भूस्वामियों और ज़मींदारों का पूरा वर्ग मौजूद है, यद्यपि प्राथमिक उत्पादकों के रूप में कोई कृषिदास अब नहीं है। इसके बावजूद अंग्रेज समाज पूरी तरह पूंजीवादी है और आधुनिक युग के संपूर्ण पूंजीपति वर्ग का सर्वप्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण रूप है। एडवर्ड सप्तम का राज्याभिषेक भले ही एडवर्ड कन्फैसर के लकड़ी के सिंहासन पर उसी के प्रार्थनाघर में हुआ हो; पर एडवर्ड सप्तम ने जिस इंगलैंड पर शासन किया वह इस बीच इतना बदल चुका था कि पहचानना

कठिन था। अन्तिम बड़े, अर्थात् जर्मनी और जापान के आधुनिक पूँजीपति वर्गों ने तो सम्राट् के प्रति अटल भक्ति के बहाने सामंतवाद को नष्ट करने के साथ-साथ कुछ सामंती रूपों को और भी दृढ़ कर दिया।

विशेषकर भारत के संबंध में विचार करते समय तो यह बहुत ही आवश्यक है कि हमारा दृष्टिकोण यांत्रिक रूप से नियतिवादी न हो, क्योंकि भारत में तो सार की उपेक्षा करके रूप को अधिकतम महत्त्व दिया जाता है। यहाँ आर्थिक नियतिवाद से काम नहीं चल सकता। यह अनिवार्य नहीं, सत्य भी नहीं है, कि अमुक परिमाण में सम्पत्ति होने पर अमुक प्रकार का विकास होगा। वह सम्पूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रिया भी परम महत्त्व की है जिसके द्वारा कोई सामाजिक रूप प्राप्त होता है। अमरीका के जिस सोने-चाँदी ने अमरीकी इण्डियनों को बर्बरता की स्थिति में रखा था उसने स्पेन के हाथों में पड़कर सामंती और धार्मिक प्रतिगामिता को ही दृढ़ किया। उसी सम्पत्ति का जो छोटा-सा भाग ड्रेक तथा अन्य अंग्रेज़ समुद्री कप्तानों द्वारा लूटा गया, उससे इंगलैंड को सामंती युग से निकलकर व्यापारी और पूँजीवादी युग में पहुँचने में बड़ी सहायता मिली। प्रत्येक चरण में ऊपरी वर्गों के पूर्ववर्ती रूपों और विचारधारा के अवशेषों का—चाहे परंपरा से चाहे परंपरा के विरुद्ध विद्रोह से—किसी भी सामाजिक आन्दोलन पर भारी प्रभाव पड़ता है। स्वयं भाषा भी विनिमय की प्रक्रिया में ही बनी जिसमें नई वस्तुएँ, नये विचार और तदनुरूप नये शब्द सब साथ-साथ आये। उत्पादन के साधनों में महत्त्वपूर्ण प्रगति होते ही तुरन्त आबादी में बड़ी वृद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप अनिवार्यत: उत्पादन के संबंधों में परिवर्तन हो जाता है। जो मुखिया एक सौ लोगों की व्यवस्था अकेले कर सकता था उसके लिए एक लाख लोगों की व्यवस्था किसी सहायता के बिना चलाना संभव नहीं होता। इससे सामंती वर्ग अथवा बुजुर्गों की परिषद बनाने की आवश्यकता पैदा हुई। दो आदिम प्रकार के पुरवोंवाले ज़िले के लिए किसी प्रशासन की आवश्यकता नहीं होती; पर उसी ज़िले में २०,००० बड़े गाँव हों तो उसके लिए प्रशासन की आवश्यकता भी है और वह उसका भार उठा भी सकता है। इस भाँति एक विचित्र टेढ़ी-मेढ़ी प्रक्रिया, विशेषकर भारत में, दिखाई पड़ती है। उत्पादन की नई अवस्था किसी-न-किसी प्रकार के रूपगत परिवर्तन में प्रकट होती है; जब उत्पादन आदिम प्रकार का हो तो परिवर्तन प्राय: धार्मिक होता है। नया रूप यदि उत्पादन में वृद्धि करने वाला हो तो उसका स्वागत होता है और वह जम जाता है। किंतु इससे निश्चित रूप से जनसंख्या में भी वृद्धि होती है। यदि ऊपरी ढाँचे का वृद्धि के दौरान समायोजन न हो सके तो संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी पुराना रूप सुधार के रूप में क्रांति द्वारा टूट जाता है। कभी-कभी पुराने रूप से लाभ उठानेवाले वर्ग की विजय होती है तो रुकाव,

ह्रास अथवा क्षय होने लगता है। भारतीय समाज की प्रारम्भिक प्रौढ़ता और विदेशी आक्रमणों के सामने विचित्र असहायता से इस सामान्य प्रवृत्ति की पुष्टि होती है।

ग्राम और कबीला समाज के अध्ययन की आवश्यकता

यदि निश्चित प्रमाण इतने कम उपलब्ध हैं तो भारत का इतिहास कैसे लिखा जाय? इस दृष्टि से, रोम-जैसी लुप्त सभ्यता का इतिहास आधुनिक युग में कैसे लिखा गया? उसके दस्तावेज़ मौजूद थे, पर बहुत-से शब्दों का आधुनिक लोगों के लिए कोई अर्थ ही न था। यह अर्थ अवशेष प्राचीन सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्राप्त किया गया। कुछ व्यक्तियों का सचमुच अस्तित्व रहा होगा यह उनके सिक्कों, मूर्तियों, समाधि-प्रस्तरों, स्मारकों और अभिलेखों से प्रमाणित मान लिया गया। इस संपुष्टि ने फिर दस्तावेज़ों की सामग्री को महत्त्व प्रदान किया। पुरातत्त्वविदों ने अतीत के बहुत-से दबे हुए अवशेष खोद निकाले। साहित्यिक स्रोतों को अब उसी हद तक विश्वसनीय माना जाता है जिस हद तक उनकी पुरातत्त्वीय पद्धतियों से संपुष्टि हो सके। अंत में, पुरातत्त्व इस बात में सहायता करता है कि दस्तावेज़ यह बता सकें कि बीते युग के लोग सचमुच किस प्रकार रहते थे, यद्यपि कुछ मूलभूत शब्दों का अर्थ अब बदल चुका है। दुनिया के अन्य भागों में अतीत की खुदाई और आदिम जातियों के वैज्ञानिक अध्ययन से भी लिखित प्रमाणों के पहले की संस्कृतियों का पुन-र्निर्माण संभव होता है। इसे प्राग्-इतिहास कहा जाता है।

इन सब पद्धतियों का अब भी भारत में उपयोग हो सकता है, यद्यपि वे पर्याप्त नहीं होंगी। भारतीय पुरातत्त्व इतना यथेष्ट विकसित नहीं है कि सचमुच महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को हल कर सके, बल्कि कुछ को तो पूछ भी सके। फिर भी इस देश को एक बड़ी भारी सुविधा प्राप्त है जिसका कुछ ही समय पहले तक इतिहासकार ने उपयोग नहीं किया था। विभिन्न सामाजिक स्तरों में बहुत-से ऐसे रूपों के अवशेष मौजूद हैं जिनके आधार पर सर्वथा भिन्न पूर्ववर्ती अवस्थाओं का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। इन स्तरों को पाने के लिए शहरों से देहातों की ओर जाना आवश्यक है। शिक्षा, नये राजनैतिक परिवर्तनों, सिनेमा, रेडियो और शहरों में उत्पादन के अधीन व्यापार के प्रभाव का बहुत बार ध्यान रखना पड़ता है। दूर-दूर तक शीघ्र यातायात के नये साधनों से बहुत परिवर्तन हुए हैं; जैसे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रेलें और १६२५ के बाद से मोटरें-बसें। इनके प्रभाव को, विशेषकर विशाल देश के अधिक दूरस्थ देहाती अंचलों में, अलग कर सकना कठिन नहीं है। ब्यौरे में स्थानीय भिन्नताएँ भी पायी जाती हैं। देश के कुछ भाग एक-दो चरण उछलकर आगे बढ़ गये हैं; कभी-कभी परिवर्तनों का क्रम कुछ भिन्न हो गया है। किन्तु जहाँ तक

वास्तविक मूलभूत परिवर्तनों का प्रश्न है, मुख्य रूपरेखा एक-सी ही है।

भारत आज भी किसानों का देश है। खेती आज भी आदिम पद्धतियों से की जाने पर भी उसका विकास व्यापक है। अधिकांश भूमि पर दो हज़ार वर्ष से खेती करते-करते अत्यधिक जुताई और चराई हो चुकी है। प्रति एकड़ उपज बहुत ही कम है, क्योंकि पद्धतियाँ आदिम हैं और जोतें इतनी छोटी हैं कि आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं। यातायात के साधनों का भारी अभाव है। पश्चिमी यूरोप या अमरीका में भूमि पर सड़कों और रेलों का जैसा जाल-सा बिछा दिखाई देता है, वह यहाँ नहीं है। इसका अर्थ है कि पैदावार का महत्त्वपूर्ण अंश स्थानीय है और उसका उपयोग भी स्थानीय ही होता है। उत्पादन के इस पिछड़े हुए, कुशलताहीन, और स्थानीय स्वरूप के कारण ही बहुत-से पुराने कबीलाई समूह, चाहे विनाश के कगार पर ही सही, अभी तक जीवित रह आये हैं। समस्त ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था, मौसमी वर्षा, मानसून से निर्धारित होती है। इसके कारण भारत के विभिन्न भागों में कोई २० से लगाकर २०० इंच तक जल-वृष्टि होती है। इसके कम होने का अर्थ है अकाल, अथवा सिंचाई का प्रबन्ध। वर्षा अधिकांशतः जून से सितम्बर तक चार महीनों में ही होती है। पर मानसून का आरम्भ दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में देर से होता है। पूर्वी तट के प्रदेशों में अंतिम मानसून दो अलग-अलग लहरों में आता है। इन विभिन्नताओं के फलस्वरूप प्रत्येक स्थान का वार्षिक चक्र अलग-अलग है। भारी वर्षा के बावजूद अधिकांश देश (ऊपर हवाई जहाज़ से देखने पर) हालैंड या इंगलैंड के हरे-भरे खेतों की तुलना में रेगिस्तान जैसा दिखाई पड़ता है। घास का नामो-निशान नहीं; पानी जल्दी से बह जाता है जिससे ऊपर की मिट्टी कट जाती है। यह विशेषता नयी है, क्योंकि पिछली शताब्दी के अंत से जंगल बहुत कम होते गये हैं। जिस प्राचीन युग की यहाँ चर्चा हो रही है उसमें मौसमी वर्षा से उत्पन्न होनेवाली समस्याएँ देश के विभिन्न भागों में अलग-अलग थीं। दक्षिणी पंजाब, सिंध और अधिकांश राजस्थान में रेगिस्तानी अथवा प्रायः रेगिस्तानी हालत थी; पर मिट्टी रौसली है और इतनी उपजाऊ है कि सिंचाई या थोड़ी-सी वर्षा से फ़सल अच्छी हो जाती है। गंगा की द्रोणी में भी मिट्टी रौसली और बहुत उर्वर है, पर वहाँ (उत्तरी पंजाब की भाँति ही) वर्षा भी अधिक होती है। प्राचीन युग में इस कारण, विशेषकर पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में घने जंगल और गहरे दलदल बन जाते थे। पश्चिम तटवर्ती पहाड़ों और आसाम की पहाड़ियों पर बहुत कटाई के बावजूद जंगल अब भी मौजूद हैं। तटवर्ती समतल प्रदेश में, जहाँ अब जंगल नहीं हैं, वर्ष में तीन फ़सलें हो सकती हैं; पर वहाँ की घनी आबादी केवल स्थानीय पैदावार के ऊपर जीवित नहीं रह सकती; वहाँ की अर्थव्यवस्था नारियल-जैसी नक़दी फ़सलों पर निर्भर है। खनिज साधनों का विकास मध्यभारत के जंगलों

और दक्षिणी पठार के जंगली इलाकों में अब आकर ही ऐसा हो रहा है कि उसे उचित कहा जा सके। यहाँ आज भी कबीले (भील, नीलगिरी के टोडा, संथाल, उराँव इत्यादि) नृवंशशास्त्रियों के अध्ययन का विषय बने हुए हैं। दक्षिणी पठार पर घने जंगल न कभी रहे न आज हैं, वह नंगी पहाड़ियों से भरा है : पश्चिमी भाग में बसाल्ट की और दूर दक्षिण-पूर्व में भुरभुरे पत्थर की। यहाँ औसत मिट्टी इतनी उर्वर नहीं है; यद्यपि थोड़े-से क्षेत्रों में काली मिट्टी बहुत-सी फ़सलों, विशेषकर कपास के लिए बहुत उत्तम है, पर उसकी नियमित खेती के लिए भारी हल की ज़रूरत होती है। गुजरात की अपनी अलग लोयस (पीली चिकनी) मिट्टी है। ये भिन्नताएँ इन प्रदेशों के ऐतिहासिक विकास में भी झलकती हैं, जो प्रत्येक का अपना अलग-अलग हुआ है।

इस विविधतापूर्ण भौगोलिक परिस्थिति और आमतौर पर उष्ण जलवायु के कारण किसानों में विभिन्न स्थानीय इतिहास के फलस्वरूप—असाधारण आन्तरिक विभिन्नीकरण उत्पन्न हो गया है। भारतीय समाज की मुख्य विशेषता, जो ग्रामीण क्षेत्रों में प्रबलतम रूप में दीख पड़ती है, जाति प्रथा है। इसका अर्थ है समाज का ऐसे बहुत-से समूहों में विभाजन जो पास-पास तो रहते हैं पर प्रायः एक साथ रहते नहीं जान पड़ते। विभिन्न जातियों के लोगों के बीच विवाह का धर्म द्वारा निषेध है, यद्यपि अब क़ानून इस मामले में पूरी आज़ादी देता है। यह बड़ी प्रगति पूंजीवादी पद्धति के कारण हुई है जिसके फलस्वरूप नगरों में आर्थिक अथवा राजनैतिक गुटों को छोड़कर जाति खत्म होने लगी है। अधिकांश किसान नीची जाति के व्यक्ति के हाथों से बना हुआ खाना या पानी नहीं लेते, अर्थात् जाति का मोटा-सा सोपान है। व्यवहार में ऐसे जाति-समूह हज़ारों हैं, यद्यपि सिद्धांततः केवल चार ही जातियों या वर्णों को माना जाता है : ब्राह्मण या पुरोहित जाति; क्षत्रिय—युद्ध करने वाला; वैश्य —व्यापारी या कृषक; और शूद्र, निम्नतम जाति जो सामान्यतः मज़दूर वर्ग के अनुरूप है। यह सैद्धांतिक पद्धति मोटेतौर पर वर्गमूलक है, जबकि दिखाई पड़नेवाली जातियाँ और उप-जातियाँ स्पष्ट ही विभिन्न नृवंशों से उत्पन्न कबीलाई समूहों से निकली हैं। यह उनके नामों तक से प्रकट है। स्थानीय छोटी जातियों का आपेक्षिक पद सदा सामान्य बाज़ार के फैलाव और उसमें जाति-विशेष की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। बिहार का जुलाहा अगर अचानक महाराष्ट्र के अगड़ियों में पहुँच जाये तो अपने-आप उसे कोई हैसियत नहीं मिलेगी। पर बिहार में उसका प्राथमिक पद इस बात से निश्चित होगा कि जिन गाँवों से सामान्यतः उसका सम्पर्क होता है उनकी सीमा में उसकी जाति का पद क्या है। यह मोटेतौर पर विभिन्न जातियों की आपेक्षिक आर्थिक शक्ति से निर्धारित होता है। एक ही जाति की सोपानीय स्थिति दो विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग हो सकती है। यह अंतर यदि कुछ समय तक बना

रहे तो दोनों शाखाएँ प्राय: अपने-आप को अलग-अलग जातियाँ मानने लगती हैं और परस्पर रोटी-बेटी बंद कर देती हैं। कुल मिलाकर आर्थिक स्तर नीचा होने के साथ-साथ ही जाति का सामाजिक स्तर भी नीचा होता जाता है। सबसे नीचे आज भी विशुद्ध कबीलाई समूह हैं जिनमें से बहुत-से तो अभी आहार-संग्रह की अवस्था में हैं। उनके चारों ओर का सामान्य समाज अब आहार-उत्पादक हो चुका है। इसलिए इन अत्यंत निचली जातियों के लिए आहार-संग्रह का काम भीख माँगने या चोरी करने का रूप ले लेता है। इन निम्नतम समूहों को भारत में अंग्रेज़ों ने ठीक ही 'जरायमपेशा जातियाँ' कहा था क्योंकि आमतौर पर वे अपने कबीले के बाहर क़ानून और व्यवस्था मानने से इंकार करते थे।

भारतीय समाज के इस स्तरीकरण का यदि सीधे क्षेत्र में किसी पूर्वाग्रह के बिना अध्ययन किया जाय तो यह पता चलेगा कि वह भारत के बहुत-से इतिहास को प्रतिबिम्बित भी करता है और स्पष्ट भी। यह आसानी से दिखाया जा सकता है कि बहुत-सी जातियों का निम्न सामाजिक और आर्थिक स्थान इस कारण है कि वे आहार-उत्पादन और हल द्वारा खेती करने से इंकार करती रही हैं, और आज भी करती हैं। निम्नतम जातियों में अक्सर कबीलाई रस्में, परिपाटियाँ, कल्पकथाएँ अभी तक प्रचलित हैं। थोड़ा ऊपर हमें ये धार्मिक प्रथाएँ और अनुश्रुतियाँ, प्राय: अन्य समानान्तर परम्पराओं के आत्मसात द्वारा, संक्रमण की स्थिति में दिखाई पड़ती हैं। एक और सीढ़ी ऊपर, वे ब्राह्मणों द्वारा अपनी सुविधा के अनुसार, और पुरोहित के काम में ब्राह्मण जाति को प्रधानता देने के उद्देश्य से, फिर से लिखी हुई दीख पड़ती हैं। पुरोहित का काम निचले वर्गों में आमतौर पर ब्राह्मणों के हाथ में नहीं है। और भी ऊँचे पहुँचने पर हमें वे अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित शिक्षित वर्ग की परंपराएँ मिलती हैं जिन्हें 'हिन्दू' संस्कृति कहा जाता है। पर देवताओं और राक्षसों की ये कथाएँ भी निम्न समूहों में मूलत: एक-सी ही हैं। ब्राह्मणवाद का मुख्य कार्य यही रहा है कि उसने इन मिथकों को एकत्र करके उन्हें संबद्ध कथाचक्रों के रूप में प्रस्तुत किया और उन्हें अधिक विकसित सामाजिक चौखटे में रखा। या तो बहुत-से मूलत: भिन्न देवताओं और उपासनाविधियों को एकरूप कर दिया गया है (संहतिवाद), या बहुत से देवताओं को एक परिवार अथवा देवताओं के राज-दरबार का रूप दे दिया गया है। सबसे ऊपर भारतीय इतिहास के महान धार्मिक नेताओं द्वारा सूत्रबद्ध किये गये दार्शनिक सिद्धांत हैं। ये विभिन्न सिद्धांत आमतौर पर जब अलग-अलग समय पर पहली बार प्रतिपादित हुए तो भारतीय समाज की पर्याप्त प्रगति को सूचित करते थे। वे ही सिद्धांत जब समाज आगे बढ़ जाता तो भारत को पिछड़ा हुआ रखने में भी बड़ा भारी योग देते, क्योंकि

स्थायी धार्मिक संप्रदायों के नेता अपने संप्रदाय के संस्थापक की मान्यताओं से रत्ती-भर हटने को तैयार न होते थे। विभिन्न धर्म स्वयं अपने-आप में इतिहास नहीं हैं, पर उनके उदय और उनके कार्य में परिवर्तन से उत्तम ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है। भारतीय समाज रक्तपात की वजाय क्रमागत धार्मिक परिवर्तनों के कारण अधिक विकसित हुआ जान पड़ता है; इसी कारण बाद में जब बहुत भारी रक्तपात बाहर से आरोपित हुआ तो वह आगे बढ़ने में सफल भी न हो सका। जो भी प्राचीन भारतीय अभिलेख बचे हैं उनमें से अधिकांश धार्मिक और कर्मकांड-विषयक हैं। उनके लेखकों को इतिहास अथवा यथार्थ से कोई सरोकार न था। उनके लेखन के समय भारतीय समाज की वास्तविक संरचना के विषय में पहले से जानकारी के बिना उनसे ऐतिहासिक तथ्य निकालने के प्रयास या तो निष्फल होते हैं या उनसे वे सब अत्यंत हास्यास्पद निष्कर्ष प्राप्त होते हैं जो भारत के अधिकांश 'इतिहासों' में पढ़े जा सकते हैं।

ग्राम

न केवल जाति की, बल्कि धर्म के ऊपर इतने बल और ऐतिहासिक दृष्टि के सर्वथा अभाव की भी व्याख्या आवश्यक है। ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव का कारण बहुत-कुछ सरल है और वह ग्रामीण उत्पादन और 'ग्रामीण जीवन की जड़ता' से सम्बद्ध है। ग्रामीण जीवन में ऋतुओं का क्रम ही सबसे महत्त्वपूर्ण है, और उसमें प्रति वर्ष बहुत कम ही परिवर्तन होता दीख पड़ता है। इसी से विदेशी पर्यवेक्षकों के मन में 'कालातीत पूर्व' का भाव उत्पन्न होता है। लगभग १५० ई० पू० की भारहुत की मूर्तियों में दिखाई पड़ने वाली बैलगाड़ियाँ और झोपड़ियाँ अथवा २०० ई० के कुषाणयुगीन उद्भृत अंकनों में बने हुए हल और हलवाहे, यदि आज भी अचानक ही किसी आधुनिक भारतीय गाँव में प्रकट हो जायें तो किसी को बहुत आश्चर्य न होगा। इस कारण यह भूलना आसान हो जाता है कि भूमि के निश्चित टुकड़ों पर हल से खेती तथा उस पर आधारित ग्रामीण अर्थव्यवस्था की रचना भी उत्पादन के साधनों में कितनी बड़ी प्रगति की सूचक है। इसके अनुरूप ही उत्पादन के सम्बन्धों का भी, आहार-संग्रह अवस्था के संबंधों की तुलना में, अधिक जटिल होना आवश्यक था। आधुनिक भारतीय गाँव को देखकर घोरतम ग़रीबी और असहायता की तीखी छाप मन पर पड़ती है। हाट का काम देने वाले गाँवों को छोड़कर अधिकांश में न तो कोई दूकान होती है, और न धूप-वर्षा को झेलते पूजा के छोटे-से मंदिर को छोड़कर, कोई सार्वजनिक इमारत ही। जरूरत की वस्तुएँ इक्का-दुक्का फेरीवाले से या कुछ खास गाँवों में लगनेवाली साप्ताहिक हाट से ख़रीदी जाती हैं। गाँव में पैदा होनेवाली

वस्तुओं की बिक्री अधिकांशतः बिचौलियों के हाथ में होती है जो महाजन भी होते हैं। देहाती अर्थव्यवस्था पर उनकी जकड़ और उसके फलस्वरूप किसानों की कर्ज़दारी ऐसी समस्या है जिसे अभी तक किसी भी सरकारी या निजी संस्था ने काग़ज़ी योजनाओं से आगे हाथ नहीं लगाया है। वर्षा ऋतु खत्म होते ही अधिकांश गाँवों में पानी की कमी लगातार बढ़ती जाती है; पीने के अच्छे पानी की तो हर मौसम में कमी रहती है। भूख और बीमारी इस भारत के सदा के संगी हैं। चिकित्सा-संबंधी व्यवस्था और स्वच्छता का अभाव गाँव की पारंपरिक मानसिक जड़ता को अत्यधिक तीव्रता से प्रकट करता है, जो सदा देश की अर्थव्यवस्था का मूलभूत तत्त्व और निरंकुश शासन का पक्का आधार रहा है। फिर भी, ऐसी ग़रीबी और गिरी हुई दशा में रहनेवालों से वसूल की गई अतिरिक्त उपज ही, भारतीय संस्कृति और सभ्यता की भौतिक नींव है।

गाँवों में दुखों-कष्टों की निष्क्रियतापूर्ण स्थिति सब जगह एक-सी दिखाई पड़ने पर भी उसके पीछे बहुत भिन्नता छिपी रहती है। अधिकांश उत्पादनकर्ता छोटी-छोटी जोतवाले किसान हैं। उनमें से कुछ आत्मनिर्भर होते हैं। कुछ धनी किसान वर्ग के रूप में शक्तिशाली भी हो जाते हैं; वास्तव में मौजूदा भूमि-संबंधी क़ानूनों से इसी वर्ग को बल पहुँच रहा है। अधिकतर मालदार जोतों पर उन लोगों का स्वामित्व है जो किसान नहीं हैं और जो भूमि पर श्रम नहीं करते। बड़े-बड़े ज़मींदार आमतौर पर शहरों में रहते हैं; भूमि पर उनका स्वामित्व साधारणतः सामंती युग से चला आता है। उनमें से बहुत-से अंग्रेज़ों के आने के बाद सामंती ज़िम्मेदारियों को छोड़कर पूँजीवादी भूस्वामी हो गये। किन्तु अंग्रेज़ों ने भूमि के सारे पट्टों को पंजीकृत करके उन पर नक़दी कर निर्धारित किया। इसका मतलब है कि आज कोई भी गाँव अपने ही भीतर सीमित नहीं रह सकता। एकदम अलग-थलग गाँवों को भी न केवल थोड़ा-सा कपड़ा और घर-गृहस्थी की वस्तुएँ खरीदने के लिए, बल्कि कर अथवा लगान देने के लिए भी, कुछ-न-कुछ उपज बेचनी ही पड़ती है। वैसे भी गाँव पूरी तरह से आत्मनिर्भर तो हो भी नहीं सकता। अधिकांश भारत में कपड़ों की भौतिक आवश्यकता नहीं होती, यद्यपि वे सामाजिक आवश्यकता अवश्य बन गये हैं। किन्तु नमक के बिना कभी काम नहीं चलता; नियमित कृषि-कार्य के लिए थोड़ी-बहुत धातु की भी ज़रूरत पड़ती है। ये दो आवश्यक वस्तुएँ अधिकांश गाँवों में नहीं पैदा होतीं, बाहर से मँगानी पड़ती हैं। 'कालातीत' दीखने के बावजूद, गाँव भी अब पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के ढाँचे में माल के उत्पादन से बँधा हुआ है।

फिर भी यह बात सच है कि भारतीय गाँव अपना प्रायः सारा काम अपने-आप चला लेता है। केवल जब आबादी अधिक बढ़ जाने के कारण कोंकण या
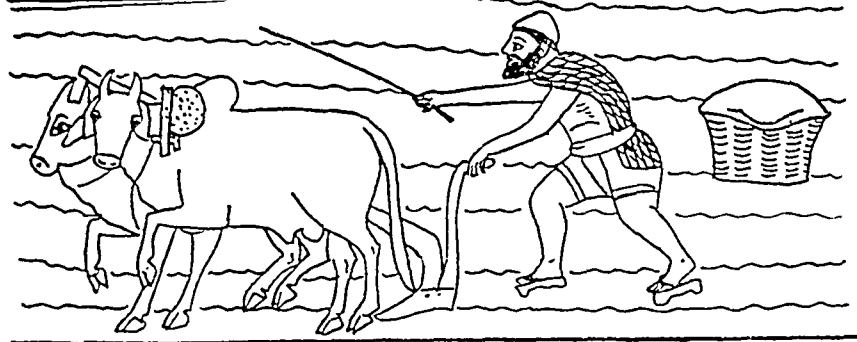
चित्र १. जोतना, डेले फोड़ना, बोना और बीज कूँड में दबाना। अनाज सम्भवत: गेहूँ है। इंडिया आफिस पुस्तकालय (प्राच्य खंड संख्या ७१) में १९वीं शताब्दी की एक फारसी पांडुलिपि से। स्थान कश्मीर है पर भारत के अन्य भागों में भी इन कार्यों में अन्तर केवल किसानों के बीजों में ही होगा।

मलाबार के जैसे प्रदेशों के लोग दूर-दूर के बड़े शहरों में जाकर मज़दूरी करने और घर रुपया भेजने को लाचार होते हैं, तभी शहरों के नियंत्रण का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अन्यथा शहरों से सम्पर्क प्राय: दौरे पर आनेवाले सरकारी कर्मचारियों के माध्यम से
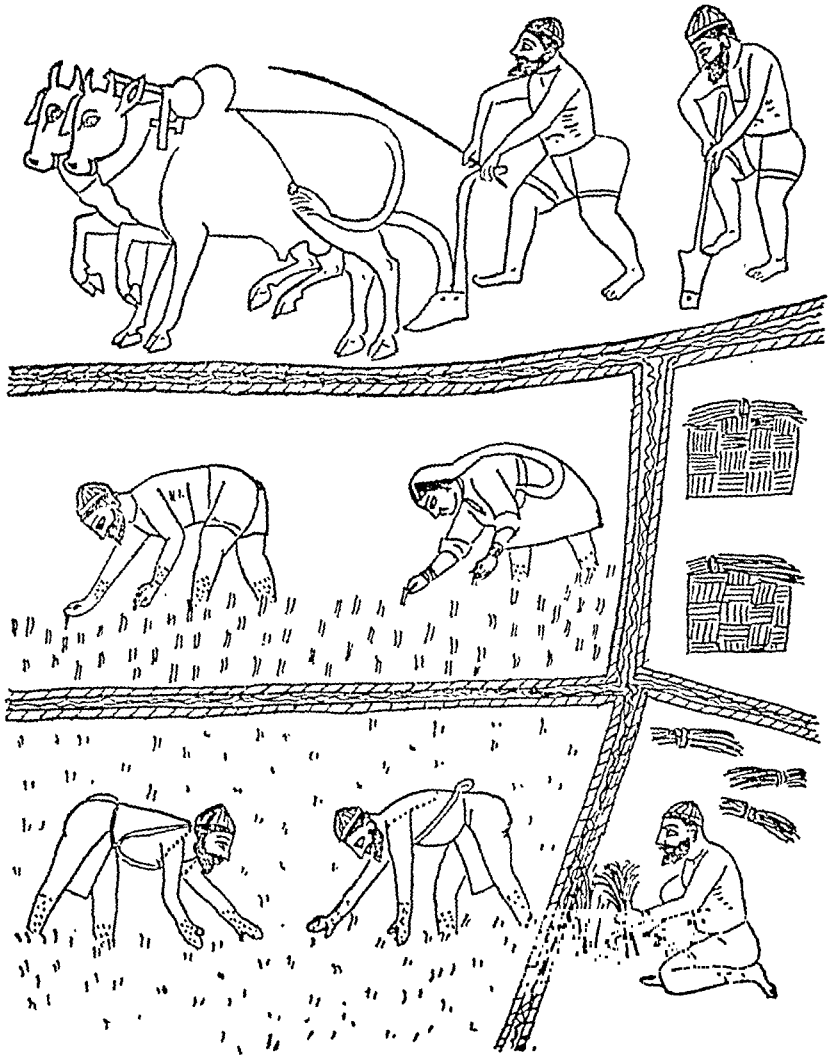
चित्र २. धान की खेती। बीज की क्यारियों में से धान के बिरवे पहले से तैयार टखनों तक गहरी मिट्टी के खेतों में रोपे जाते हैं। सिंचाई की नालियाँ भी दिखाई गयी हैं। जुताई भूमि में पानी भरने से पहले ही की जाती है, अन्यथा बैलों की बजाय भारतीय भैंसों को जोतना पड़ता है। बिरवों का जड़ें रोकने से पहले आमतौर पर किसी खाद में डुबो ली जाती हैं। खाली क्यारियों में तब बीजदार फलियाँ बोई जाती हैं जिससे फ़सल अपने आप बारी-बारी से बदलती रहती है। आकृति १ के ही साधन से।

ही रहता है, जो यह कष्ट तभी उठाते हैं जब करों की वसूली रुक गई हो। आजकल वोटों के उम्मीदवार राजनैतिक कार्यकर्ता भी चुनावों से ठीक पहले पाँच वर्ष में एक

वार आने लगे हैं। इस अर्थव्यवस्था में स्पष्ट ही प्रति निवासी माल का उत्पादन बहुत ही कम है। माल वह उपयोगी पदार्थ या वस्तु है जो चरम उपभोक्ता के पास विनिमय द्वारा पहुँचती है। जो कुछ मनुष्य अपने या अपने परिवार या अपने सगोत्रीय समूह के लिए पैदा करता है और जो फिर उसी समूह के भीतर काम में आ जाता है, या जिसे ज़मींदार या अधिपति बिना मूल्य चुकाये ले जाता है, वह माल नहीं है। कुछ वस्तुओं के उत्पादन में विशेष तकनीकी ज्ञान की ज़रूरत होती है। भारतीय गाँवों में धातु का उपयोग बहुत कम होता है, पर गाँववालों को बरतनों की, विशेषकर मिट्टी के बरतनों की, तो ज़रूरत होती ही है। इसका अर्थ है कि कुम्हार का होना ज़रूरी है। इसी प्रकार औज़ारों की मरम्मत और हल के फाल की ढलाई के लिए लुहार, घर बनाने और साधारण हल तैयार करने के लिए बढ़ई आदि भी ज़रूरी हैं। गाँव की कर्मकांडीय ज़रूरतों के लिए पुरोहित भी चाहिए। वह आमतौर पर ब्राह्मण होता है, यद्यपि कुछ निचले पंथों में यह अनिवार्य नहीं है। कुछ धंधे नीचे होते हैं, जैसे नाई या चमड़ा कमानेवाले का; मगर नाई के काम और चमड़े की चीजें ज़रूरी हैं। इसलिए गाँव में नाई और चमार का होना आवश्यक होता है, जो स्वभावतः ही अलग-अलग जातियों के होते हैं। साधारणतः हर धंधे की अलग जाति है, जो मध्ययुगीन श्रेणी का भारतीय प्रकार है। भारत के देहातों की ऊपर से आत्मसीमित, लगनेवाली अर्थव्यवस्था की बड़ी भारी समस्या यह थी कि प्रत्येक गाँव में ऐसे ज़रूरी कारीगरों की सेवाएँ उपलब्ध हों, यद्यपि वे जाति प्रथा के कारण गाँव के अधिकांश किसानों से तथा एक-दूसरे से अलग थे। साधारण ग्रामवासी ये सब धंधे नहीं कर सकता था, और इनमें काम करनेवालों में उसी जाति के लोगों को छोड़कर आपस में विवाह-संबंध न हो सकता था। अधिक-से-अधिक हर धंधे का एक घर ही औसत गाँव में संभव हो पाता था। साथ ही यातायात कठिन था और माल के उत्पादन की सघनता (अर्थात् प्रति निवासी उत्पादन) बहुत कम थी। भारतीय इतिहास के आरंभ में कुछ संक्षिप्त युगों को छोड़कर, बहुत-से गाँवों के लिए माल तैयार करनेवाले बढ़ई या लुहारों की अलग बस्तियाँ कभी संभव न हो सकीं। इसलिए कारीगरों को नियमित रूप से मूल्य चुकाने की समस्या ऐसी थी जो अनियमित माँग होने के कारण वस्तु-विनिमय की अर्थव्यवस्था में केवल उत्पादित मूल्य के विनिमय के आधार पर नहीं सुलझायी जा सकती थी। तो फिर कारीगरों को गाँवों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए कैसे प्रवृत्त किया जाये? इस समस्या का जो एक प्रकार से चतुराई भरा हल निकाला गया वही, विशेषकर सामंती युग में, भारत की निष्क्रिय ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मेरुदण्ड है। इस पद्धति के बचे-खुचे चिह्न अभी तक देहातों में पाये जाते हैं, यद्यपि अब पुरानी पद्धति की बजाय नक़द भुगतान का चलन लगातार बढ़ता जाता है।

चित्र ३. सब्जी की खेती। पुरुष एक शद्दुफ़ द्वारा कुँए से पानी निकालता है, ; स्त्री इस बात की देखभाल करती है कि गाजरों तथा अन्य सब्जियों में ठीक से पानी पहुँचे। आकृति १ के ही साधन से।

यातायात आसान है, इसलिए भ्रमणशील नाई या लुहार आम हो चला है। टिन के कनस्तरों और धातु के बरतनों ने कुम्हारों की संख्या कम कर दी है, और वे अब अधिकतर उत्पादन प्रायः नक़द वेचने के लिए ही करते हैं। किन्तु कुम्हार कुछ कर्मकांडीय कार्य भी पूरा करता है, जो संभवतः प्रागैतिहासिक कुंभ-समाधि के काल से चले आते हैं और अब इतने बढ़ गये हैं कि कुछ निम्न जातियों में कुम्हार को करीब-करीब पुरोहित का दर्जा प्राप्त हो गया है। हड्डी बैठाने में मिट्टी के पलस्तर के आविष्कार का श्रेय भारतीय कुम्हार को ही है, जिस प्रकार युद्ध-काल में अथवा बीमारी के कारण क्षतिग्रस्त नाकों को ठीक करने के लिए प्लास्टिक सर्जरी नीच समझे जानेवाले नाई की ही खोज थी। दोनों का अठारहवीं शताब्दी में व्यापक चलन था; पर उनके

जानकारों की नीची जाति और उच्च वर्गों में विज्ञान के प्रति तिरस्कार-भाव के कारण पश्चिम की भाँति उनका पूरा विकास न हो सका।

गाँव में विभिन्नीकरण, कारीगर और किसान अथवा पुरोहित के बीच भी, जाति के अनुसार होता है। पश्चिमी घाटों के काठकरी, अथवा बिहार के मुंडा और ओरांव जैसे लोग जंगलों में आज भी दिखाई पड़ जाते हैं, जो मुश्किल से हाल ही में आहार-संग्रह की अवस्था से निकले हैं। ऐसे सीमान्तवर्ती कबीले बीमारी और नशा-खोरी के कारण, जंगलों के ख़त्म होने और सभ्यता तथा महाजनों की प्रगति के कारण, मिटते जा रहे हैं। यदि ये लोग खेती करते भी हैं तो वह प्राय: हर बार भूमि के नये टुकड़े पर जंगल काटकर या जलाकर ही की जाती है। यदि वे फ़सल की कटाई के वक्त, भूमिधर मगर सबसे ग़रीब किसानों के साथ-साथ मज़दूरी भी करते हैं तो उसके बदले जो कुछ उन्हें मिलता है वह कम भी होता है और प्राय: नकद नहीं होता। पर आमतौर पर कटाई के बाद खेत में से अनाज बीनने का अधिकार उन्हें ही होता है, चाहे उन्होंने काम में मदद की हो चाहे न की हो। थोड़ा-बहुत शिकार, कीड़े-मकोड़ों, चूहों, साँपों और बंदरों का मांस (जिससे अन्य अधिकांश भारतीयों को बड़ी अरुचि होती है), और खेती के बचे-खुचे दाने और भूसा उनका आहार बनता है। वे आज भी किसान से कहीं अधिक घातक रूप में जादू-टोने को मानते हैं; कम-से-कम भारतीय अखबार बीच-बीच में आनुष्ठानिक हत्या (मानव-बलि) के संदेह में कबीलों के स्त्री-पुरुषों की सामूहिक गिरफ़्तारी और मुक़दमे के समाचार छापते रहते हैं। उनके आदिम कबीलाई देवताओं और गाँवों के निम्न देवताओं के बीच कुछ साम्य पाया जाता है। प्राय: वे गाँव के देवताओं की पूजा करते हैं और गाँव भी उनके देवी-देवताओं को मान्यता देता है। देहातों के उत्सव-त्यौहारों का उद्‌गम, जिनमें दूर-दूर से ग्रामवासी इकट्ठा होते हैं, प्राय: किसी-न-किसी आदिम कबीले से जुड़ा होता है, चाहे वह कबीला अब लुप्त ही हो चुका हो। स्थानीय ग्रामीण पंथों के नाम भी ऐसे ही आदिम प्रारंभ को प्रमाणित करते हैं। आज की किसान जाति का नाम प्राय: वही होता है जो उस क्षेत्र में किसी आदिवासी जाति का था। ऐसे दोनों समूहों में रोटी-बेटी नहीं चलती, क्योंकि किसान को अधिक ऊँचा समझा जाता है; वास्तव में, आहार की उपलब्धि में अंतर के कारण, प्रचुर और नियमित आहार के फलस्वरूप, कुछ ही पीढ़ियों में शारीरिक गठन और चेहरे की आकृति तक में अंतर आ जाता है। फिर भी सामान्य उद्‌गम के कुछ चिह्न बचे रहते हैं और स्वीकार भी किये जाते हैं। कभी-कभी यह सामान्य वार्षिक पूजा से प्रगट होता है, विशेषकर ऐसी मातृदेवी की पूजा से जिसके नाम इतने विचित्र होते हैं कि अन्य गाँवों में नहीं मिलते। किन्तु किसान अन्य श्रेष्ठतर देवताओं की भी पूजा करता है जो काफ़ी आदिम जान पड़ने पर भी स्थानीय देवताओं

से एक चरण आगे होते हैं। जैसे, 'क्षेत्रपाल', जो साधारणतः पत्थर पर उभरा हुआ दिव्य प्रतिष्ठा प्राप्त कोई काला सर्प होता है। पितरों के स्मारक के रूप में कभी-कभी एक पत्थर पर मानव युगल की मूर्ति उभार ली जाती है और आमतौर पर जब कोई भूमि उन किसानों के पास पीढ़ियों से चली आती हो जो उस युगल के सीधे वंशधर हों, तो उस भूमि के एक कोने में उस मूर्ति की पूजा की जाती है। म्हासोबा अथवा महिषासुर पूरे-के-पूरे क्षेत्रों में किसानों का सामान्य देवता है, यद्यपि प्रत्येक किसान उसकी मूर्ति अपने लिए अलग गढ़ लेता है। अन्य छोटे देवताओं को जुताई, बुवाई, कटाई अथवा गहाई के अवसर पर संतुष्ट किया जाता है। वेताल प्रेतों का राजा है, पर देवता है। और भी ऊपर ब्राह्मण देवताओं का, शिव, विष्णु, राम और कृष्ण जैसे विष्णु के अवतारों तथा उनकी सहधर्मिणी देवियों का, स्थान है। कभी-कभी आदिम स्थानीय देवी या देवता का ब्राह्मण-साहित्य में उल्लेखित देवी-देवताओं से तादात्म्य भी दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि पुराने देवताओं को नष्ट नहीं किया गया, उन्हें ग्रहण कर लिया गया या उनको नये रूप में ढाल लिया गया। इस भाँति ब्राह्मणवाद ने ऐसे सामाजिक खंडों को कुछ एकता प्रदान की जिनके बीच कोई सामान्य सूत्र न था। इस प्रक्रिया का भारत के इतिहास में बड़ा भारी महत्त्व है क्योंकि उससे पहले तो देश को कबीले से समाज के रूप में विकसित होने में सहायता मिली और फिर उसी कारण देश अंधविश्वास के गंदे दलदल में फँसकर अटका रह गया।

ग्रामीण परम्परा के माध्यम से भारतीय इतिहास के अध्ययन में कठिनाई कालक्रम के अभाव के कारण होती है। पचास साल पहले की घटनाएँ और पंद्रह सौ वर्ष पहले बनी परम्पराएँ गाँववाले के लिए बहुत-कुछ एक ही स्तर पर हैं क्योंकि उनका जीवन ऋतुओं से बँधा हुआ है। भारतीय पुराणों में प्रस्तुत मानव-जाति के चार युग ठीक चार ऋतुओं के परिवर्तन को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। उनका अंत सर्वव्यापी प्रलय से होना माना गया है जिसके बाद चक्र फिर प्रारंभ हो जाता है। देहातों में प्रायः प्रत्येक वर्षा ऋतु के बाद यही स्थिति होती है। प्रत्येक वर्ष प्रायः एकसा ही होता है, अंतर केवल इतना ही होता है कि किसी में अच्छी फ़सल होती है, किसी में अकाल अथवा महामारी। कोई लेखा नहीं रखा जाता, क्योंकि किसान प्रायः एकदम निरक्षर होते हैं। यदि उसने थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना सीखा भी हो, तो जीवन-पद्धति ऐसी है कि साक्षरता का गाँववाले के लिए कोई उपयोग नहीं और वह धीरे-धीरे फिर अनपढ़ हो जाता है। औसत गाँव में कोई पुस्तक, अखबार या अन्य पढ़ने की सामग्री प्रवेश नहीं पाती। इस भाँति गाँव की परम्परा के तत्त्वों को अलगाने के लिए विशेष सावधानी बरतना आवश्यक है। दूसरी ओर, उससे प्रकट होता है कि अत्यंत प्राचीन रीति-रिवाज भी, बाहरी रूप में तनिक भी परिवर्तन हुए बिना, किस

प्रकार आज तक जीवित रहे आए हैं। प्राय: सामंती सरदार अथवा ब्राह्मण पुरोहित ने स्वयं ही इन स्थानीय रिवाजों को शायद कुछ ऊपरी टीमटाम करके अपना लिया। इतिहास की जो परिभाषा हमने स्वीकार की है उसे पढ़ने योग्य दृष्टि और अंतर्दृष्टि किसी में हो तो वह भारत के देहातों में उसे पूरे विस्तार से फैला हुआ पा सकता है।

सारांश

ऊपर यह कहा गया है कि भारत के प्रमुख वर्ग और शहरी जीवन पर उस विदेशी की छाप है जिसने पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति लागू की। दूसरे, व्यापक रूप में ग्रामीण अंचल और भारतीय धार्मिक संस्थाओं पर उनके आदिम उद्‌गम की अमिट छाप है, क्योंकि आदिम जीवन-पद्धतियाँ भारत के बहुत-से भागों में संभव रही हैं और आज भी है। इनमें से पहले कथन को आमतौर पर स्वीकार किया जाता है, यद्यपि देशभक्ति के कारण बहुत लोग आधुनिक भारतीय इतिहास में विदेशी आक्रमणकारियों के प्रभाव को कम करके आँकते हैं। दूसरे कथन से मध्यवर्ग के अधिकांश भारतीय क्रुद्ध हो जाते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि उसमें उनके देश की हँसी उड़ाई गई है या उनके गौरव का अपमान हुआ है। पर आदिम संस्कृतियाँ तब तक न तो हास्यास्पद होती हैं और न गौरवहीन, जब तक वे सामंती अथवा पूँजीवादी पद्धति से उत्पन्न किसी खोटे तत्त्व की मिलावट के कारण विकृत नहीं हो जातीं। भारत का विकास अपने ढंग से अन्य देशों की अपेक्षा अधिक 'सभ्य' रहा है। यहाँ पुराने पंथों और रूपों को बलपूर्वक नष्ट नहीं, बल्कि आत्मसात किया गया है। अंधविश्वास ने हिंसा की आवश्यकता को कम किया। यदि भारतीय इतिहास भी यूरोप अथवा अमरीका की भाँति ही विकसित हुआ होता तो यहाँ कहीं अधिक क्रूरता आवश्यक होती।

इससे प्रकट है कि भारतीय इतिहास की धारा में कुछ अत्यन्त विशिष्ट तत्त्व मौजूद हैं। इनकी मोटेतौर पर जाँच-पड़ताल ज़रूरी है ताकि बाद में कोई भ्रम न उत्पन्न हो। जहाँ तक इतिवृत्तों, राजाओं की सूचियों, आख्यानों, महत्त्वपूर्ण युद्धों की तिथियों, शासकों और सांस्कृतिक महापुरुषों की जीवनियों का प्रश्न है, कोई पठनीय भारतीय इतिहास नहीं है। किसी आकस्मिक पाठक को कोई ऐसा ग्रंथ मिल भी जाय, जिसमें प्राचीन भारत का ऐसा वैयक्तिक अथवा घटनामूलक विस्तृत विवरण दिया हुआ हो, तो उसे काल्पनिक गल्प साहित्य की भाँति (जैसे कुछ भारतीय रेलों की समयसारिणी को!) पढ़ना चाहिए, मगर उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। दूसरे छोर पर कुछ भ्रम की भी गुंजाइश है। यह माना जाता है कि मानव-समाज में क्रमश: निम्नलिखित उत्पादन-पद्धतियाँ प्रकट हुईं: प्राचीन साम्यवाद, पितृतन्त्रात्मक पद्धति (पुराने टेस्टामेंट में अब्राहम) और/अथवा

एशियाई पद्धति (अपरिभाषित), प्राचीन यूनान और रोम की दास प्रथा, सामंतवाद, पूँजीवादी पद्धति, और कुछ देशों के लिए समाजवाद। भारतीय इतिहास इस कठोर ढाँचे में भी ठीक नहीं बैठता। एक तो, जैसा कहा जा चुका है, देश के सारे भाग एक साथ एक ही अवस्था में नहीं रहे। प्रत्येक अवस्था में, देश के लगभग प्रत्येक भाग में कई पूर्ववर्ती अवस्थाओं के उत्पादन-सम्बन्धी और रूपगत तंत्र के साथ-साथ बहुत-सा ऊपरी ढाँचा भी बचा रहा; ऐसे लोग हमेशा मौजूद रहे जो हठपूर्वक पुरानी पद्धति से चिपके रह सकते थे और सचमुच चिपके रहे। किन्तु हमें उसी पद्धति पर ध्यान देना चाहिए जो इस हद तक प्रमुख हो गई कि अधिकांश देश में इसका प्रसार अनिवार्य हुआ। दूसरे, प्राचीन यूरोप जैसी दास प्रथा भारत में किसी भी युग में नहीं मिलती। कुछ भारतीय प्राचीन युग से लगाकर वर्तमान शताब्दी के मध्य तक स्वाधीन नहीं रहे; इन पंक्तियों के लिखते-लिखते प्रकाशित एक रिपोर्ट में कहा गया है कि कुछ आदिवासी लोग केरल में पशुओं की भाँति सरे-बाज़ार बेचे जा रहे हैं। मगर उत्पादन के सम्बन्धों में और मज़दूरों की पूर्ति की दृष्टि से, चल-सम्पत्ति के रूप में दास प्रथा का महत्त्व नहीं के बराबर रहा। ऐसे दास का स्थान, जिसके अतिरिक्त उत्पादन पर अधिकार किया जा सके, पुराने युग में शूद्रों ने ले लिया था। सामंती युग में खरीदे या अपहरण किये हुए दासों का महत्त्व बढ़ गया, क्योंकि उससे शासक या सामंत की अपने अनुयाइयों पर निर्भरता कम होती थी। पर यह भी प्राचीन यूरोपीय दास प्रथा जैसी स्थिति न थी, क्योंकि सामंत लोग शाही दासों को सदा सामंती शासन के लिए खतरनाक समझते थे। इसके अतिरिक्त ऐसे हर दास को चाहे जितनी सम्पत्ति रखने और सामंती समाज के अन्य किसी भी व्यक्ति के बराबर ऊपर उठने का अधिकार था। उदाहरण के लिए, दिल्ली के योग्यतम और श्रेष्ठतम प्रारंभिक सम्राट् और अहमदनगर राजवंश के योग्य संस्थापक सब दासों से निकले थे। इसलिए भारतीय सामंतवाद की भी अपनी अलग विशेषताएँ हैं (इंगलैंड का सामंतवाद भी तो रूमानिया से भिन्न था)। दंडस्वरूप दासता करनेवाले, घरेलू दास, हर प्रकार के खरीदे हुए दिल बहलानेवाले, और हरम के गुलाम सामंतवाद के पहले दौरान और बाद में भी पाये जाते थे; पर उन सबके साथ बरताव, कभी-कभी पहली श्रेणी के दासों को छोड़कर, सदा वेतनभोगी मज़दूरों की अपेक्षा अच्छा होता था, क्योंकि उन्हें प्राप्त करने में धन लगा होता था। यह स्थिति प्राचीन यूरोप की दास प्रथा से एकदम भिन्न है, और इसी प्रकार यूरोपीय सामंतवाद से भी भिन्न है जिसके अंतर्गत दास प्रथा ही मिट गई। ब्राज़ील में दास प्रथा का चलन सामंतवाद के बाद हुआ। अमरीका में दास प्रथा सामंतवाद के बिना ही, कपास की खेती के विकास के सिलसिले में, पूँजीपति वर्ग के साथ आई; उसका अंत कोई सौ वर्ष पहले रक्तरंजित गृह-युद्ध के बाद ही हुआ

जिसकी अनुगूंज संसार के सबसे आगे बढ़े हुए पूंजीवादी जनतंत्र के दक्षिणी राज्यों में आज भी सुनाई पड़ती है।

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की इस संक्षिप्त रूपरेखा का कोई सिद्धांतवादी उद्देश्य नहीं है। मुझे एक निश्चित परिभाषा और पद्धति इसलिए स्वीकार करनी पड़ी क्योंकि अन्य परिभाषाओं की व्यर्थता बड़े कष्टकर अनुभव द्वारा सिद्ध हो चुकी थी। अनुवर्ती अध्यायों का आवश्यक रूप से केवल अतीत ही नहीं भारतीय समाज की वर्तमान अवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

> "इतिहासकार का काम न तो अतीत से प्रेम करना है न अतीत से छुटकारा पाना, बल्कि वर्तमान को समझने की कुंजी के रूप में उसे समझकर उस पर अधिकार प्राप्त करना है। महान् इतिहास ठीक तभी लिखा जाता है जब इतिहासकार की अतीतसम्बन्धी दृष्टि वर्तमान की समस्याओं में अंतर्दृष्टि से आलोकित हो···इतिहास से सीखना केवल एक ही दिशा में नहीं हो सकता। वर्तमान के विषय में अतीत के आलोक में सीखने का अर्थ वर्तमान के आलोक में अतीत के विषय में सीखना भी है। इतिहास का धर्म अतीत और वर्तमान के अंतर्सम्बन्ध के माध्यम से दोनों की और भी गहरी समझ विकसित करना है।"

वर्तमान लेखक की क्षमता ऐसे इतिहास-लेखन के लिए शायद पर्याप्त न हो। पाठक को किसी अन्य कारण से भी उसका प्रयास अपर्याप्त लग सकता है, पर कम-से-कम उसे पता रहेगा कि किस बात की अपेक्षा करे। मुख्यतः इस संक्षिप्त ग्रंथ में निम्नलिखित बातों पर विचार होगा : आदिम समाज और कबीलाई जीवन। सिंधु घाटी की सभ्यता, आर्यों का आक्रमण जिसने इस सभ्यता का अंत किया पर साथ ही पूर्व में बस्तियाँ संभव बनाईं। जाति-व्यवस्था, लोहे के औज़ार और हल द्वारा गंगा की द्रोणी को खोलना। मगध और बौद्ध धर्म का उदय। सारे देश की मौर्यों द्वारा विजय और देहातों में अनाज के उत्पादन पर आधारित साम्राज्य की स्थापना। साम्राज्य का विघटन, दक्षिणपथ में राज्यों का विकास और तटवर्ती प्रदेशों में बस्ती। उदीयमान सामंतवाद की लंबी प्रक्रिया और बौद्ध धर्म का पराभव। इसके साथ ही मुस्लिम काल और भारतीय मध्य युग का प्रारम्भ हो जाता है, जिसे उचित ही प्राचीन भारतीय संस्कृति का अंत माना जा सकता है।

टिप्पणी : जो पाठक उस विद्वत्तापूर्ण आलोचना और अंतहीन विवाद में रुचि रखते हों, जो भारत का कोई समुचित इतिहास लिखने के प्रयास के पहले हुआ करता है, उन्हें मेरी निम्नलिखित रचनाएं रोचक लग सकती हैं, जो मेरे इस ग्रंथ की पाद-टिप्पणी की भांति हैं : (१) 'भारतीय इतिहास के अध्ययन की भूमिका' (बम्बई, १९५६);

(२) 'मिथक और यथार्थ' (बम्बई, १९६२); (३) 'उत्तेजक निबंध' (पूना, १९५७); इन तीन पुस्तकों में उल्लेखित निबंधों के अतिरिक्त निम्नलिखित लेखों और रचनाओं से भी निहित कठिनाइयों का कुछ आभास मिल सकता है : 'धेनुकाकट' (एशिया समाज की पत्रिका, बंबई, खंड ३०, १९५७, पृ० ५०-७१); 'अर्थशास्त्र का पाठ्य-भाग' (अमरीकी प्राच्यविद्या समाज की पत्रिका, खंड ७८, १९५८, पृ० १६९-७३); 'भारत के सामंती व्यापार के अधिकारपत्र' (प्राच्य के आर्थिक और सामाजिक इतिहास की पत्रिका, लीडन, १९५९, खंड २, पृ० २८१-९३); 'आदिम साम्यवाद' (न्यू एज, दिल्ली, खंड ८, फरवरी १९५९, पृ० २६-३९); 'भारतविद्या में संयुक्त पद्धतियों का प्रयोग' (भारत-ईरान पत्रिका, खंड ६, १९६३, पृ० १७७-२०२); 'महाभारत में आदिवासी विषयक तत्त्व' (अमरीकी प्राच्यविद्या समाज की पत्रिका; शीघ्र प्रकाश्य); 'भारत में लौह युग का प्रारंभ' (जेतो, खंड ६, १९६४)। इनके अतिरिक्त मैं इन ग्रंथों को भी पढ़ने का परामर्श दूंगा : ए० एल० बैशम—'आश्चर्यजनक भारत' (दूसरा संस्करण, लंदन, १९६४); एल० पेटेच का जर्मन ग्रंथ; रेनू जे० फिलि-ओजा तथा अन्य—'प्राचीन भारत' (फ्रेंच भाषा में—पेरिस, खंड १, १९४७; खंड २, १९५३)। ये इतिहास जिन व्यक्तियों द्वारा लिखे गये हैं वे अपने विषय के अधिकारी विद्वान हैं पर उनका दृष्टिकोण मुझसे भिन्न है। कालक्रम के लिए एल० दि ला वाले पूज़ाँ के १९३० और १९३५ में (फ्रेंच भाषा में) प्रकाशित दो ग्रंथ विशेष रूप से पठनीय हैं। दो अन्य विशेषज्ञतापूर्ण निबंध भी उपयोगी हैं : जे० जेर्नें का सैगोन में १९५६ में (फ्रेंच भाषा में) और विलहेल्म राउ का वाइजबैडन में १९५७ में (जर्मन भाषा में,। इस अध्याय के अंतिम अंश में दिया हुआ उद्धरण ई० एच० कार की पुस्तक 'इतिहास क्या है ?' (लंदन, १९६२) के पृ० २०, ३१, ६२ से है।

दूसरा अध्याय

आदिम जीवन और प्राग्--इतिहास

स्वर्ण युग

पूर्ण निर्दोषता की अवस्था से मनुष्य के पतन के उपाख्यान बहुत-से देशों और जातियों की कल्पकथाओं में पाये जाते हैं। भारत भी इसमें पीछे नहीं। आधुनिक हिन्दू वर्तमान युग को कलियुग कहते हैं। यह माना जाता है कि इसके पहले तीन अच्छे युग बीत चुके हैं। पहला और सबसे अच्छा था सतयुग अथवा कृतयुग। तब लोग न रोग जानते थे न ग़रीबी। उन्हें परिश्रम करने की आवश्यकता न थी, और न वे सूत कातते थे, क्योंकि धरती अपने आप ही सब कुछ भरपूर देती थी। हर व्यक्ति शान्त स्वभावी, निष्पाप, भोला और सदाचारी होता था और हज़ारों वर्ष जीवित रहता था। फिर मनुष्य में लोभ का उदय हुआ; लोग निजी सम्पत्ति जोड़ने लगे, वस्तुओं का संग्रह करने लगे। इन पापों के कारण क्रमशः अधिकाधिक बुरे त्रेता, द्वापर और कलियुग आये। जीवन छोटा हो गया; पुण्य का क्षय होने से मानव जाति युद्ध, रोग, दरिद्रता और क्षुधा से ग्रस्त हो गयी। बौद्ध और जैन धर्म-ग्रंथों में भी ऐसे ही उपाख्यान मौजूद हैं। ब्राह्मण साहित्य सबसे बाद का है, इसलिए उसमें अंतहीन कालचक्र, मन्वन्तर, का सिद्धांत भी प्रकट हुआ। वर्तमान कलियुग का अन्त सर्वव्यापी प्रलय से होगा। जल प्लावन से प्राणीमात्र के नष्ट हो जाने के बाद पृथ्वी पानी से निकलेगी और एक नये स्वर्णयुग का फिर प्रारम्भ होगा, जिसके बाद कालांतर में फिर अधिकाधिक क्षय के तीन अन्य युग आयेंगे जिनके अंत में फिर

प्रलय होगी। अतीत में ऐसा ही होता रहा है और भविष्य में भी यही होता रहेगा। जैसा कहा जा चुका है, निरर्थक ऐतिहासिक पुनरावृत्ति का यह निराशापूर्ण दृष्टिकोण भारतीय ग्राम के नीरस ऋतु चक्र का प्रक्षेपण मात्र है। अक्टूबर की फ़सल के बाद स्वास्थ्य और समृद्धि से भरपूर शीत ऋतु आती है। फिर क्रमशः हर वस्तु की दुर्लभता बढ़ती जाती है जिसके अन्त में सूखे हुए खेतों को बोने के लिए तैयार करने के लिए कठोर परिस्थितियों में जी-तोड़ परिश्रम का समय आता है। अन्त में घनघोर मानसून की वर्षा से सारी धरती आल्पावित हो जाती है। यह ऋतु-चक्र इसी प्रकार हर वर्ष चलता रहता है।

इस मिथक के सर्वव्यापी होने के बावजूद, परवर्ती कवियों और पुरोहितों की कल्पना से बाहर मानवजाति के आरंभ में कभी कोई स्वर्णयुग नहीं रहा। यह हम सबसे पहले तो ई० पू० २५०० से भारत के बाहर कुछ स्थानों में जहाँ ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है उसकी व्याख्या से जानते हैं। उससे पूर्ववर्ती काल के लिए पुरातत्त्व अतीत का रहस्य खोलने में सहायता करता है। जब पुरातत्त्वविद किसी ऐसे स्थान में खुदाई करता है जहाँ हाल के युगों में मिट्टी को बहुत इधर-उधर नहीं किया गया है, तो उसे एक दूसरे से स्पष्टतः पृथक तथा असमान स्तरों में कई प्रकार के पदार्थ संचित मिलते हैं। जो स्तर जितना नीचे होता है उतना ही पुराना होता है, इसलिए कालक्रम स्पष्ट रहता है। इनमें से कई स्तरों में मानवीय कार्य कलाप के चिन्ह भी प्राप्त होते हैं। ये चिन्ह शारीरिक अवशेषों के रूप में हो सकते हैं, जैसे अस्थियाँ, कपाल, या केवल एक दाँत मात्र जिससे भी उसे धारण करने वाले मानव के बारे में बहुत कुछ जाना जा सकता है। प्रायः मनुष्य की अपनी अस्थियों के साथ उसके द्वारा शिकार किये गये पशुओं की हड्डियाँ भी मिलती हैं; इसी भाँति कुत्ते, गाय-बैल, भेड़, घोड़े जैसे पालतू पशुओं की हड्डियाँ भी पायी जाती हैं। विभिन्न स्तरों की तुलना द्वारा यह बताना संभव है कि कुत्ते को घोड़े से बहुत पहले पालतू बनाया गया और गाय-बैल तथा भेड़ों को किसी मध्यवर्ती युग में। बर्तन-भाँड़े, पत्थर के औज़ार, धातुओं के पदार्थ मनुष्य द्वारा बनायी गयी वस्तुओं में आते हैं। यदि जलवायु मिस्र की भाँति शुष्क हो, तो लकड़ी के औजार, हड्डियाँ और हाथी दाँत के हथियार, टोकरियाँ, कपड़े के रूप में बुने हुए ऊन या सन के धागे, अनाज के दाने, पैपीरस के पत्रों पर अंकित चित्र या लिखावट आदि सुरक्षित मिल जाते हैं। इन सबसे हम मोटे तौर पर यह निर्धारित कर सकते हैं कि किस क्रम में मनुष्य ने इन विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करना सीखा। खेती द्वारा उपजाये गये अनाज भी बर्तनों की भाँति ही मानव कार्य कलाप की उपज हैं, यद्यपि उन्हें शिल्प उपकरणों की श्रेणी में नहीं रक्खा जाता। उन सबका विकास हज़ारों वर्षों में सावधानी से चुनते रहने से और घास के

सबसे मोटे प्राकृतिक बीजों को बार-बार बोने से हुआ। यदि मानवीय कार्य बन्द हो गया होता तो खेती द्वारा उपजाये सारे अनाज लुप्त हो जाते अथवा उनका स्थान, कुछ वनस्पति-पीढ़ियों में, अधिक सहिष्णु जंगली घासों के आदिरूप ले लेते। स्तरीकृत सामग्री ऐतिहासिक क्रम को सूचित करती है; कोई परवर्ती व्याघात, जैसे ऊपरी परतों में खोदा गया गढ़ा, शिक्षित विशेषज्ञ द्वारा तुरन्त पहचान लिया जाता है और उसे अलग कर दिया जाता है। विभिन्न स्थानों में प्राप्त वस्तुओं की तुलना से यह पता चल जाता है कि अमुक प्रकार का औज़ार, बर्तन या अनाज कितनी दूर तक फैला। अंत में, आधुनिक पद्धतियों से फ्लुओरीन की मात्रा, कोयला और हड्डी की रेडियोधर्मिता के माप भूचुम्बकीय अवलोकनों और पेड़ों पर पड़ने वाले छल्लों में मौसमी परिवर्तनों आदि के सहारे, तिथियाँ निर्धारित करने की अच्छी पद्धति संभव हो गयी है। इस प्रकार (बहुत-से व्यवधानों के साथ) सैकड़ों-हज़ारों वर्ष पीछे तक अतीत के युगों का रूप निर्धारित किया जा सका है, यहाँ तक कि हम जावा मानव, पेकिंग मानव, जैसे मात्र मानव प्रकारों और मानव-पूर्व अफ्रीकी प्रोकोन्सुल कपाल तक पहुँच जाते हैं। यह पुरातत्त्व से आगे भूविज्ञान का क्षेत्र है; इतिहास से आगे स्तनपायी और रीढ़दार पशुओं तथा अन्य प्राणी रूपों के विकास का अध्ययन है।

मगर इस सब में कहीं भी किसी विलुप्त स्वर्ण युग का, किसी प्राचीन गौरव की अवस्था का कोई प्रमाण नहीं मिलता। मनुष्य की प्रगति न तो एक-सी हुई और न लगातार होती ही रही, पर कुल मिलाकर वह अवश्य प्रगति करता रहा और अकुशल पशु से औज़ार बनाने और प्रयोग करने वाला ऐसा प्राणी बन गया जो अपनी संख्या और अपने विविध कार्य-कलाप के कारण पूरे विश्व पर हावी है और अब केवल उसे अपने आप पर नियंत्रण करना ही बाकी है। दसियों हज़ार वर्ष बाद खुदाई में प्राप्त मानव अस्थियों से पता चलता है कि पूर्व-पाषाण युग के किसी भी मनुष्य के लिए चालीस वर्ष की आयु तक पहुँचना भी बड़ी भारी उपलब्धि थी; अधिक स्वस्थ होना तो दूर, वह हमसे भी अधिक परोपजीवियों और ऐसी बीमारियों का शिकार था जो उसकी आयु कम कर देती थीं। स्वर्णयुग कोई हो तो वह अतीत में नहीं, भविष्य में ही होगा।

प्राग्-इतिहास और आदिम जीवन

पुरातत्त्वविद की खोजों से, अपने आप यह पता नहीं चलता कि किसी युग विशेष के लोग सचमुच रहते कैसे थे। आज उस जीवन पद्धति (संपूर्ण 'संस्कृति') की जानकारी के लिए ऐसे बहुत-से आदिम कबीलों के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है जो दुनिया के दुर्गम स्थानों में अभी तक जीवित हैं। तब यह क्रमशः

स्पष्ट हो जाता है कि अमुक औज़ार किस तरह बनाये और काम में लाये जाते होंगे, और सुदूर अतीत में उन्हें बनाने वाले लोग कैसे रहते होंगे। सामाजिक संगठन का उदय होने के बाद से कुछ बात उसके बारे में भी कही जा सकती है, पर वह उतने निश्चय के साथ नहीं। यह बात भी कि आस्ट्रेलिया अथवा ब्राजील के भीतरी भाग के कबीले का अध्ययन किया जा सकता है, यह सूचित करती है कि इन कबीलों का बाहरी दुनिया से, और अन्ततः सभ्यता से, कुछ संपर्क हो चुका है। इस बात का ध्यान रखना होगा, क्योंकि संपर्क होने पर परिवर्तन अनिवार्य है। दूसरे, कोई मानव समूह देर तक अचल स्थिति में नहीं रह सकते। या तो वे विकसित होकर अधिक कुशलता प्राप्त कर करते हैं, या जड़ होकर नष्ट हो जाते हैं। जिन प्राग्-ऐतिहासिक लोगों का हम अध्ययन करना चाहते हैं वे तो दुनिया से लुप्त हो चुके हैं। कुछ समूहों के वंशज बचे रहे जो आधुनिक सभ्यता तक बढ़ आये, बाक़ी एकदम लुप्त हो गये। सुदूर स्थानों में जो कुछ बच रहे हैं उन्होंने अपने ऐसे अलग विचार, मानसिक रुझाव, अंधविश्वास, रीतिरिवाज, आचार-विचार आदि विकसित कर लिये हैं जो उन्हें नये जीवन रूपों को आज़मा कर देखने से रोकते हैं। अधिकांश समकालीन बर्बर समूहों की सामाजिक रचना ऐसी कठोर है कि कोई नवीनता लाना कठिन है, यद्यपि सबकी सामाजिक रचना एक ही नहीं है। सामाजिक विकास पर विचारों के प्रभाव की कोई भौतिकवादी उपेक्षा नहीं कर सकता।

दुनिया के जिन भागों में व्यापक रूप में खुदाई का काम हो चुका है उनकी पुरातत्त्वीय सामग्री से मोटे तौर पर निम्नलिखित कालक्रम प्रकट होता है: सबसे नीचे और इसलिए सबसे पुराने तोड़े हुए पत्थर के अनगढ़ टुकड़े हैं। इन्हें भी लकड़ी और हड्डी के टुकड़ों के साथ-साथ, जो अब आम तौर पर नष्ट हो चुके हैं, औज़ारों की भाँति काम में लाया जाता था। इस पूर्व पाषाण युग ने कोई एक लाख वर्ष से भी अधिक समय में बहुत धीरे-धीरे पत्थर छील कर औज़ार बनाने के काम में कई चरण आगे रखे। अंत में उसके बाद चिकने पत्थरों के औज़ारों का युग (नव-पाषाण युग) आया। इन दोनों के बीच जो युग था उसे मध्य-पाषाण युग कहा जाता था; पर अब इस नाम का चलन नहीं है और इस युग की सीमा और अवधि अनिश्चित हैं। ये निचले स्तर जिनमें केवल पत्थर के (और अनुमानतः हड्डी, लकड़ी और सींग के) औज़ार मिलते हैं, कालांतर में उन अन्य स्तरों के नीचे दब गये जिनमें धातु के औज़ारों और हथियारों के अवशेष मिलते हैं। जिस धातु का सबसे पहले व्यापक उपयोग हुआ वह थी तांबा। इसे उसकी खनिज मिट्टी से निकालने के लिए जिस भट्टी की जरूरत पड़ती है वह मिट्टी के बर्तनों के आँवे से अधिक पेचीदा नहीं होती। मिट्टी के बर्तन तो उत्तर-पाषाण युग में पत्थर के औज़ारों के साथ ही मिल जाते हैं।

तांबा मुलायम धातु है जिसे तैयार किये विना काम में नहीं लाया जा सकता; साथ ही राँगा (टीन) जैसी किसी धातु से मिलाये बिना—जिससे काँसा वनता है—वह जल्दी ही टूट जाता है। चूँकि राँगा हर जगह नहीं मिलता, इसलिए काँस्य युग में वहुत खोज-वीन आवश्यक होती है। दूर-दूर से व्यापार ईसा-पूर्व ३००० तक, अथवा उससे भी पहले ही, पूरे ज़ोर-शोर से होने लगा था। फिर भी काँसा दुर्लभ ही था और कुछ ही लोगों को मिल पाता था। इसका अर्थ था समाज में विभिन्न वर्गों का उदय। काँस्य युग में खनिज मिट्टी और उत्तम जल-स्रोतों के नियंत्रण के लिए दूर-दूर तक आक्रमण और युद्ध होते रहे। ईसा-पूर्व दूसरी सहस्राब्दी (२०००-१००० ई० पू०) में वहुत-से क़बीले पर्याप्त किन्तु सचल खाद्य सामग्री (प्रायः पशु) लेकर यूरेशियाई महाद्वीप में घूमते रहते थे। मिस्र और ईराक की प्राचीनतर नदी-घाटी कृषि संस्कृतियों में नगर-राज्य, राजतंत्र, मंदिरों के पुरोहित और युद्ध एक हज़ार वर्ष पहले ही विकसित हो चुके थे। ऐसा विकास स्थानीय और अपवादस्वरूप था।

पुरातत्त्व की दृष्टि से वर्तमान युग लोहे का है, जो इतनी सस्ती और व्यापक रूप में पायी जाने वाली धातु है कि कृषि-कार्य एक सार्वभौमिक संभावना वन सका है। इतनी कृषि उत्तर-पाषाण युग में भी होने लगी थी कि हम उत्पादन के साधनों में 'नव-पाषाण युगीन क्रांति' की बात कर सकें। पर यह कुछ ख़ास-ख़ास जगहों तक सीमित थी जहाँ खेत वनाने के लिए घने जंगलों को काटकर साफ़ करना ज़रूरी न था; जैसे ईराक़, मिस्र, सिंधु घाटी, ईरान, तुर्की और फिलिस्तीन के पठारी मैदान, और डैन्यूव घाटी में पीली चिकनी मिट्टी के गलियारे के कुछ भाग; और शायद चीन में भी पीली चिकनी मिट्टी वाले कुछ क्षेत्र। लोहा जव पहले-पहल मिला तो वह काँसे से मुलायम था, पर उससे जंगल काटने और कड़ी मिट्टी में हल के उपयोग में सहायता मिली। यह पहली धातु थी जो वहुत लोगों को सुलभ हो सकी और केवल एक सीमित योद्धावर्ग तक सीमित न रही। नगर वनानेवाले पहले किसान ७०००-८००० ई० पू० में कटल हुयुक (तुर्की) और जेरिको (फिलिस्तीन) में मिले हैं; पर उनकी आहार-उत्पादन की पद्धतियाँ आस-पास के भूभाग में व्यापक रूप में काम में नहीं लायी जा सकीं। उनकी कृषि, मिस्र और ईराक से भिन्न, तव तक खाद्य-संग्रह और पशुपालन की पूरक मात्र वनी रही, जव तक ईसा-पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के अन्त में लोहा पर्याप्त मात्रा में न मिलने लगा। लोहा वनाने की पहली उत्तम प्रक्रिया उस प्रदेश में खत्तियों के एकाधिकार में वड़े ही गुप्त रहस्य के रूप में वनी रही जिसे आजकल तुर्की कहते हैं। लोहा १३५० ई० पू० में भी इतना दुर्लभ था कि फ़रओह तुतनखामेन को ठोस सोने के कफ़न में एक ऐसे मज़ार में दफ़नाया गया था जिसमें ताँवा, सोना, काँसा, हाथी-दांत तथा अन्य वहुमूल्य पदार्थ तो भरपूर थे, पर लोहे का एक ही तावीज़ फ़रओह

के कपाल के नीचे बाँधा गया था। सस्ते लोहे की खोज बहुसंख्यकों के लिए सुखदायी सिद्ध न हुई। एशिया माइनर के छोटे इक्का-दुक्का खेतिहर समुदायों को तो कांस्य युग में भी आक्रमणकारी नष्ट-भ्रष्ट कर जाते थे। प्रचुर मात्रा में जनशक्ति (प्रायः दास या भूमि से बँधे हुए मजदूर) उपलब्ध होने पर ही लोहे के उपयोग से—अधिक अत्याचारपूर्वक ही सही—अधिक आहार-उत्पादन संभव हो सका। कुछ-एक अलग-थलग कबीले (लगभग आज तक) व्यापार मार्गों से दूर आहार-उत्पादन अपनाने के बजाय पाषाण युग के आहार-संग्रह की पद्धतियों से हठपूर्वक चिपके रहे। वे सभ्यता की ओर प्रगति के मार्ग से भटक गये। पाषाण का अनियमित उपयोग प्राग्-ऐतिहासिक युग से लगाकर ऐतिहासिक युग में भी दूर तक चलता रहा। राजा हैरोल्ड की सेना के बहुत-से सैक्सनों के पास १०६६ ईस्वी की हेस्टिंग्स की लड़ाई में भी पत्थर के ही कुठार थे, यद्यपि इंगलैंड जूलियस सीज़र के आक्रमण के बहुत पहले ५४ ई० पू० में ही लौह युग में प्रवेश कर चुका था।

पूरे आहार-संग्रहक समाज की विशेषताएँ गिनाना आसान नहीं है। आधुनिक रोमेंटिक विचारधारा के लोग मानते थे कि आदिम मनुष्य उदार बर्बर, सभ्यता द्वारा भ्रष्ट न हुआ प्रकृतिपुत्र, दुर्गुणों और लोभ से मुक्त प्राणी रहा होगा। पृथ्वी पर 'प्राकृतिक' स्वर्ग की यह कल्पना कैस्टील की रानी इजाबैला के नाम क्रिस्टोफ़र कोलम्बस के एक पत्र से प्रारम्भ हुई। वह साहसिक खोजी, भारत के सुनहरे नगरों तक न पहुँच सकने के कारण, यह बताने को व्यग्र था कि कुछ-न-कुछ असाधारण—प्राकृतिक अवस्था में कैरीबियन मनुष्य—तो उसने खोज ही निकाला है। इस भाँति जो यूरोपीय कल्पनाशीलता जाग्रत हुई उसे ऐसी वस्तु मिल गयी जो न तो (ईडन उद्यान के बाद) बाइबिल में थी और न पुनर्जागरण द्वारा आविष्कृत प्राचीन ग्रीक-लैटिन ग्रंथों के आदर्श-लोकों में। प्राकृतिक मनुष्य की इस खोज से बल रूसो के सामाजिक सिद्धान्तों और समकालीन समाज के विरुद्ध वाल्तेयर के निर्मम व्यंगों को मिला। कुछ लोग अब भी आदिम साम्यवाद की चर्चा इस प्रकार करते हैं मानो वह समाज की कोई ऐसी आदर्श अवस्था हो जिसमें सब लोग बराबर के साझीदार होते थे और अपनी साधारण आवश्यकताएँ सहयोग द्वारा पूरी करते थे। अपने चरम रूप में यह भी उसी 'स्वर्णयुग' की कल्पना का ही फीका-सा आधुनिक रूप है।

प्रारम्भिक आहार-संग्रहक समाज की बड़ी कठोर सीमाएँ थीं। प्रत्येक स्थान और युग में उसका विशेष स्वरूप खाद्य-सामग्री की अपर्याप्त और अनिश्चित प्राप्ति से निर्धारित होता था। ग्रैहम क्लार्क जैसे सतर्क पुरातत्त्वविद् का अनुमान है कि पूर्व-पाषाण युग में इंगलैंड और वेल्स की आबादी दस छोटे-छोटे समुदायों में कोई २५० व्यक्तियों की रही होगी; पूरे ग्रेटब्रिटेन की आबादी मध्य-पाषाण युग में ४५००, नव-

पाषाण युग में किसी एक समय २०,००० और ईसा-पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में, जब काँस्य युग और आहार-उत्पादन की पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी, ४०,००० से भी कम रही होगी। आज भी आवश्यक पुरातत्त्वीय प्रमाणों की कमी के कारण भारत के लिए इस प्रकार के अनुमान प्रस्तुत कर सकना संभव नहीं। किन्तु पाषाण युग में भारतीय उप-महाद्वीप के किसी भी विस्तृत क्षेत्र की आबादी प्रति दस वर्ग मील में एक व्यक्ति से अधिक कदाचित ही रही हो। जहाँ प्रकृति कृपालु है वहाँ भी वह सभी ऋतुओं में समान रूप से उदार नहीं है; लगातार कई वर्ष तक अभाव बना रहना सर्वथा संभव था। किसी-न-किसी प्रकार के खाद्य-भंडार के बिना बड़ी आबादी और स्थायी बस्तियों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। खाद्य का परिरक्षण आहार-संग्रहक जीवन में अपेक्षया देर से आता है। उसके लिए गोश्त और सूखी मछली के लिए दूर से नमक प्राप्त हो सकना आवश्यक है। साथ ही टोकरियाँ, चमड़े के थैले, बर्तन-भाँडे जैसे संग्रह के उपकरण भी जरूरी हैं। फिर सब तरह के खाद्य का परिरक्षण भी संभव नहीं। भंडार में रखने के लिए सबसे उपयुक्त पदार्थ हैं काष्ठफल, अनाज और कुछ कंदमूल। पर इनमें से अधिकांश को पकाये बिना पचाना संभव नहीं, जिसका अर्थ है कि आग पर नियंत्रण और कुछ बरतनों का उपलब्ध होना आवश्यक है। इस अवस्था तक पहुँचने के बहुत पहले ही मनुष्य सामाजिक जीवन की विशेष पद्धतियाँ विकसित कर चुका था, क्योंकि वह कई हजार वर्ष से औजार प्रयोग करनेवाले पशु के रूप में जीवन बिता रहा था।

इससे दो बातें स्पष्ट हैं। यदि खाद्य का परिरक्षण संभव नहीं तो उसे जल्दी ही खा डालना आवश्यक है। इसका अर्थ है अतिरिक्त सामग्री का सम्मिलित उपभोग, अन्यथा अधिकांश लोग भूखे ही मर जायें। पर बहुत-से पशु-समूह भी अपने अतिरिक्त खाद्य को आपस में बाँटते हैं। उन आदिम मानव-समूहों में, जो नितांत अभाव की अवस्था को पार करके आगे बढ़ पाते हैं, सहभागिता अन्ततः एक सामाजिक बन्धन का रूप ले लेती है, जैसे विशेष अवसरों पर भोज देने की आवश्यकता। इसका यह अर्थ नहीं है कि समस्त संगृहीत खाद्य में प्रत्येक व्यक्ति को समान भाग मिलने का अधिकार होता था। दूसरे, आहार-संग्रह की अवस्था में अपनी आवश्यकता से अधिक शिकार करना या जमा करना कदाचित ही संभव होता है; केवल शौक़ के लिए शिकार या लोभपूर्वक संचय करके मांस को सड़ने देने का चलन नहीं होता। इस हद तक 'स्वर्णयुग' की कहानी में कुछ सचाई है। किन्तु आदिम मनुष्य की अधिकांश शक्ति आहार की खोज में ही चुक जाती थी। आहार में सहभागिता की व्यवस्था की सीमा सदा परिवेश द्वारा निर्धारित होती थी और उसमें प्रायः किसी एक प्रकार के आहार पर ही अधिक ध्यान दिया जाता था, जैसे कोई पशु, मछली, पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा, फल या कन्दमूल आदि। इसका अर्थ था न केवल विशेषीकरण बल्कि अत्यधिक

विशेषीकरण। मानवीय समुदाय अपने-आपको न केवल सगोत्रीय समूह समझता था, बल्कि उसी पदार्थ से रचा हुआ मानता था जिससे उसका प्रमुख अथवा प्रिय खाद्य रचा था। अन्य खाद्य पदार्थ को प्रमुख माननेवाले मानव समुदाय सगोत्रीय नहीं होते थे और प्रारम्भ में तो मानव भी न माने जाते थे। हम इस विशेष खाद्य को टोटेम कह सकते हैं, यद्यपि बहुत बाद की अवस्था में निर्जीव पदार्थ अथवा किसी पशु का अंश-विशेष भी समूह के वर्गीकरण का टोटेम होने लगा था। टोटेम खाद्य के संग्रह के लिए खास रुझान विशेष कर्मकांड के साथ जुड़ा होता था। किसी-न-किसी प्रकार की बलि (जिसमें नर-बलि भी शामिल है) और अन्य धार्मिक विधियों अथवा संस्कारों का उद्देश्य, चाहे जितने अंध रूप में ही सही, (विशेष) खाद्य की और इसीलिए उसे खानेवाले विशेष अर्धपरोपजीवी मानव-समूह की, वृद्धि निश्चित करना ही होता था। ये विधियाँ अथवा संस्कार हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनमें ही आधुनिक मानवीय सांस्कृतिक गतिविधियों के बीज छिपे हैं। नृत्य, जिसमें शायद कुछ लोग पशु का अनुकरण करते थे और कुछ शिकारियों का, धार्मिक संस्कार भी था और काम करने का अभ्यास, एक प्रकार से शिकार की पद्धति की क़वायद भी। हज़ारों वर्षों बाद इसी से नृत्य-नाट्य और नाटक का विकास होना था। हिम युग में (फ्रांसीसी और इस्पानी गुफाओं में) अपूर्व यथार्थवत्ता के साथ अंकित जंगली पशुओं के चित्र आज श्रेष्ठ कला-कृतियाँ माने जाते हैं। किन्तु मूल चित्रों का मुख्य उद्देश्य कला नहीं रहा हो सकता। वे घुप अंधेरी भूमिगत गुफाओं में, जहाँ दिन का प्रकाश कभी नहीं पहुँच सकता था, चर्बी के दीपकों या मशालों की सहायता से बनाये गये थे। प्रायः ये चित्र एक-दूसरे के ऊपर बिगाड़कर अंकित हुए हैं। जैसा कि भालों और बाणों से बने छेदों से प्रकट है, आनुष्ठानिक लक्ष्यबेध अभ्यास के लिए बढ़िया पशु-मूर्तियों का उपयोग किया जाता था; ये मूर्तियाँ भी भूमि के नीचे, धरती-माँ के गर्भ में मिलती हैं। गुफाओं की दीवारों पर खुदे हुए या ढले हुए मैथुनरत पशुओं से प्रकट होता है कि ऐसे सब कलात्मक कार्य प्रजनन संस्कारों के अंग थे जो समूह-विशेष के एकान्त रहस्य समझे जाते थे। खाद्य की उपलब्धि सीमित होने पर पशु भी अपनी ही जाति के भीतर अलग-अलग समूह बना लेते हैं। उदाहरण के लिए, अमरीका के मध्य-पश्चिमी मैदानों में गोफर पशु-समूह अपने प्रदेश में अजनबी गोफर को नहीं बर्दाश्त करते, पर आपस में बड़ी शांति के साथ रहते हैं। उनमें 'चुम्बन' की एक विचित्र 'प्रथा' प्रचलित है जो समूह के भीतर पहचान का साधन होती है। जिन मानव-समूहों पर हम विचार कर रहे हैं उनके भी ऐसे ही आरक्षित यद्यपि बदलते हुए क्षेत्र रहे होंगे। प्रत्येक समूह अपने सीमित विचारों को विशेष ध्वनि-समूहों द्वारा संप्रेपित करता था। इन ध्वनि-समूहों को, आदिम जीवन के विषय में अभी तक उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर, आधुनिक भाषायी प्रकारों

वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। आदिम मनुष्य स्वीकृत कर्मकांड को छोड़ने का साहस न कर सकता था, क्योंकि उनके आधारभूत कारण, जो बाद में वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ज्ञात हुए, तब तक छिपे थे।

विभिन्न समूहों को एक-दूसरे के पास लाने में बड़ा क़दम शब्दशः उत्पादन के संबंधों में, अर्थात् विनिमय द्वारा, उठाया गया। मुक्त वस्तु-विनिमय आदिम समाजों की आरम्भिक अवस्थाओं में नहीं पाया जाता, जैसा (उदाहरण के लिए) उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी की संधि पर त्रोब्रिआँ द्वीपों में पाया गया था। सहभागी सगोत्रीय समूहों से बाहर वस्तु-विनिमय उपहारों के विनिमय के रूप में प्रकट हुआ। उपहार चाहे जिस व्यक्ति को नहीं, बल्कि विशेष संबंधवाले व्यक्तियों को दिया जाता था, जिन्हें प्रायः 'व्यापार बन्धु' कहते थे। उपहार न तो माँगा जा सकता था और न अस्वीकार किया जा सकता था, और न तुल्य मूल्य के बारे में सौदेबाज़ी करके उसका मूल्य चुकाया जा सकता था। पर ऐसा उपहार पानेवाले के ऊपर यह भार अवश्य डालता था कि कभी बाद में अतिरिक्त उत्पादन होने पर वह भी अपनी कोई वस्तु दे। उसका कोई हिसाब नहीं रखा जाता था, फिर भी एक कालखंड में मोटे तौर पर तुल्यता स्थापित हो जाती थी। जो भी दोनों पक्षों द्वारा चुपचाप स्वीकृत तुल्य वस्तु अंततः वापस नहीं करता वह किसी-न-किसी प्रकार से अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा खो देता था। आजकल यह माना जाता है कि टोटेम समूहों के बीच ऐसे प्रारंभिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप व्यक्तियों का आदान-प्रदान भी, अर्थात् किसी प्रकार का 'विवाह' सम्बन्ध भी, शुरू हुआ। उसके कारण बेहतर आहार, खाद्य पदार्थों की विविधता और औज़ार बनाने या उपयोग करने तथा बरतनों की अधिक उन्नत पद्धतियाँ संभव हुई। साथ ही इससे संयुक्त समूहों की भाषा भी समृद्ध हुई। सभी ज्ञात आदिम भाषाओं में बेकार जटिल व्याकरण पाया जाता है। यह विशेषता संस्कृत, ग्रीक और फ़िनिश भाषाओं में भी मौजूद है। उनमें विशेष पदों की अपेक्षा सामान्य अवधारणाओं की कमी है; 'पशु', 'वृक्ष' जैसी सामान्य कोटियाँ नहीं मिलतीं, पर पशु और वनस्पति के प्रत्येक विशेष जाति और प्रकार के लिए शब्द मौजूद है। जैसा ज्ञात है, 'रंग' शब्द का मूल अर्थ 'लाल' था, जो रक्त का रंग है। इस भाँति संप्रेषण और विनिमय से स्वयं भाषा भी विकसित होने लगती है। तब मनुष्य न केवल आहार के नियंत्रण और फिर उत्पादन के पथ पर, बल्कि विचारशील प्राणी होने के पथ पर भी, चल पड़ता है। वैवाहिक विनिमय में वंशगत लाभ भी है। छोटे मानव-समूह प्रायः अंत:प्रजात होने के कारण शरीर से बौने और मानसिक दृष्टि से अविकसित रह जाते हैं। अंत-विवाह (संकरण) से संतति की शक्ति माता-पिता दोनों के स्तर से अधिक हो जाती है। संभव है यूरोप में उत्तर हिम युग में उत्तम डीलडौलवाले क्रोमैग्नन मानव बौने

अंतःप्रजात माता-पिता के बीच ऐसे ही संकरण से उत्पन्न हुए हों। यह समझ लेना चाहिए कि मानव-विकास की इस अवस्था में प्रजाति की अवधारणा युक्तिसंगत नहीं है। साधारण बोलचाल में 'प्रजाति' शब्द का उपयोग किसी भी अवस्था में युक्तिसंगत नहीं। मौजूदा प्रजातियाँ बाद में उन बड़ी आबादियों से विकसित हुई जो सामान्य समूहों में से निकली थीं। भाषा का विकास अधिक तीव्र हुआ।

ये सुविधाएँ किसी प्रयोग, योजना अथवा तर्कसम्मत कार्य का परिणाम न थीं। जिन समूहों ने विनिमय की नयी पद्धति अपनायी उनकी कुशलता और संख्या में वृद्धि हुई; बाकी विनष्ट हो गये। इसमें पहला चरण एक द्वन्द्वात्मक विपर्यास था कि प्रत्येक समूह के लिए अपने विशेष खाद्य अर्थात् टोटेम का खाना निषिद्ध हुआ। इस निषेध को केवल विशेष ऋतुगत अनुष्ठानों पर अथवा मृतक संबंधी संस्कारों के लिए ही तोड़ा जा सकता था। टोटेम खाद्य के निषेध के साथ ही टोटेम के भीतर यौन-संबंध का भी निषेध हुआ। इस भाँति कई टोटमी कुलों से कबीले बने। साधारणतः कुल के किसी सदस्य को कुल का टोटेम खाद्य खाने अथवा टोटेम कुल के भीतर यौन-संभोग की अनुमति नहीं होती थी; और न वह कबीले के बाहर 'विवाह' कर सकता था। प्रायः वह अपने कबीले के बाहर के व्यक्तियों द्वारा बनाया आहार भी स्वीकार न कर सकता था। कुल के सदस्यों के ऐसे अपने विशेष अनुष्ठान होते थे जिनमें अन्य सब कुलों का प्रवेश वर्जित था। ऐसे ही अनुष्ठान पूरे कबीले के भी होते थे, जैसे कबीले की भाषा। छोटे कुल से बाहर इस कबीलाई संगठन ने, एक बार बन जाने के बाद, ऐसा आदर्श (माडल) प्रस्तुत किया जिसने अधिकांश मानव-समाजों पर अपनी छाप छोड़ी है।

भारत में प्राग्-ऐतिहासिक मानव

अभी तक सामान्य स्थापनाएँ ही की गई हैं। यह चित्र दुनिया भर में अध्ययन और अवलोकन के विवरणों पर आधारित विवेचन और अनुमान के सहारे बनाया गया है। इसमें भारत के बारे में विशेष रूप से कुछ नहीं कहा गया क्योंकि उपलब्ध तथ्य-सामग्री बहुत कम है। पर यह मानने का कोई कारण नहीं कि भारत में प्रारंभिक परिवर्तन उपर्युक्त विवरण से मूलतः भिन्न रीति से हुए होंगे। यदि प्राग्-ऐतिहासिक परिवर्तन उपर्युक्त क्रम में ही हुए हों तो भारत के ग्रामीण तथा कबीलाई समाज की बहुत-सी विशेषताओं की और पुराने संस्कृत ग्रंथों की तर्कसंगत व्याख्या संभव हो जाती है; अन्यथा तर्कसंगत व्याख्या नहीं बनती।

भारतीय प्राग्-इतिहास की दो विशेष बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। अन्तिम हिम युग भारतीय उप-महाद्वीप में न तो इतना तीव्र हुआ और न इतना

व्यापक जितना यूरोप में। आगे भारत को एक भौगोलिक इकाई मानकर चर्चा की जायगी जिसमें पूरा पाकिस्तान, अफ़गानिस्तान का कुछ भाग और कभी-कभी वर्मा भी सम्मिलित होगा। इस अर्थ-विस्तार के पीछे कोई राजनैतिक दावा या उद्देश्य नहीं है। तो, जहाँ उत्तर में हिम युग था, वहाँ दक्षिण और दक्षिण-पूर्व इससे सर्वथा मुक्त रहे। इस वात की पूरी संभावना है कि भारत के पूर्वी भागों में युन्नान और वर्मा से प्राग्-ऐतिहासिक लोगों ने प्रवेश किया। यह भी संभव है कि यह प्रवेश ऐतिहासिक युग में भी देर तक चलता रहा। इस पूर्वी प्रदेश में पत्थर के औज़ार सामान्य सामग्री और पद्धति से बने जान पड़ते हैं। दूसरे, यूरोप अथवा यूरेशिया महाद्वीप के किसी भी अन्य स्थान की बजाय अधिकांश भारत में शिकार और मछली पकड़ने के अतिरिक्त भी आहार-संग्रह कहीं अधिक आसान बना रहा। जहाँ यूरोप का समस्त मुख्य खाद्य कोई आधा दर्जन प्रकार के धान्य, दानों और बीजों तक सीमित है, वहाँ महाराष्ट्र जैसे औसत उर्वरता के प्रदेश में भी चालीस से भी अधिक प्रकार के देशज मुख्य पदार्थ हैं, जिनमें से अधिकांश की खेती होती है, पर जो जंगलों में भी उगते हैं। वे सभी भंडार में रखने के उपयुक्त हैं। इनमें चावल, गेहूँ, मोटे अनाज, ज्वार और जौ शामिल हैं; इनके अतिरिक्त वनस्पति प्रोटीन की तथा खाने के तेल उत्पन्न करनेवाले तिल-जैसे बीजों की भी पर्याप्त विविधता है। काली मिर्च और मसालों से अच्छा स्वाद और विटामिन दोनों ही प्राप्त होते हैं। किसी भी जीवित प्राणी की हत्या किये विना संतुलित आहार संभव है, विशेषकर इसलिए कि दूध, मक्खन, दही और पनीर, फल और शाक-सब्ज़ी आदि पशुओं को मारे बिना मिल सकते हैं। इस साधारण तथ्य ने वाद में भारतीय अध्यात्म-विद्या और धर्म में अहिंसा के सिद्धान्त द्वारा एक क्रान्ति उपस्थित की। साथ ही इस कारण अन्य स्थानों की अपेक्षा यहाँ इतिहासकार का कार्य अधिक कठिन हो गया। यहाँ लोग सहज ही आहार-संग्रह की अवस्था में वने रह सकते थे और बने रहे, जबकि उनके समीपवर्ती पड़ोसी शताब्दियों पहले आहार-उत्पादक वन चुके थे। किसान और कबीले के लोग, विशेषकर जंगलों के दुर्गम स्थानों में, मुख्य खाद्य वस्तुओं के अतिरिक्त सौ से भी अधिक ऐसी प्राकृतिक वस्तुएँ आमतौर पर जानते हैं जो खेती किये विना संग्रह की जा सकती हैं : फल, गिरी, जड़ें, कंदमूल, शहद, छत्रक, पत्ती की सब्ज़ियाँ आदि। पुराने तौर-तरीक़ों के साथ पुराने विश्वास और जीवन-पद्धतियाँ भी सदा बनी रहती हैं। इस कारण ही भारत व्यापक अवशेषों का देश है। यहाँ ठीक-ठीक यह कह सकना कठिन हो जाता है कि अमुक अवस्था कव समाप्त हुई और कव दूसरी का प्रारभ हुआ। उत्संस्करण की यह प्रक्रिया दोनों ओर से थी। न केवल आगे वढ़े हुए आप्रवासियों ने भारत के प्रत्येक भाग में आदिवासियों को प्रभावित किया, वल्कि (असहिष्णु मुसलमानों के पहले) आगंतुकों ने भी आमतौर

पर कुछ देशज और आदिवासी विश्वासों और रीति-रिवाजों को स्वीकार किया। वास्तविक समाज बनाने के लिए कुछ मनुष्यों का परस्पर किसी उत्पादन-मूलक संबंध से जुड़े होना आवश्यक है जिसमें अतिरिक्त उपज का निर्माण और विनिमय निहित है। भारत में ऐसे समाज और उसकी संस्कृति का निर्माण—आहार-संग्रह की सुविधा और निरंतरता के कारण—बहुत हद तक धर्म और अंधविश्वासों पर आधारित रहा। इसके फलस्वरूप यूरोप अथवा अमरीका की तुलना में यहाँ आवश्यक हिंसा या बल-प्रयोग की मात्रा कम हो गयी।

अब हमारे सामने मुख्य कार्य दो हैं : भारत में प्राग्-ऐतिहासिक मनुष्य के बारे में जो कुछ ज्ञात है वह कहा जाये; और आधुनिक भारतीय समाज में प्राग्-इतिहास के योग के रूप में आदिम अवशेषों की रूपरेखा बतायी जाये।

भारत में प्राग्-ऐतिहासिक मनुष्य का विवरण लिखने में तिथि-निर्धारण की बड़ी कठिनाई है। प्राग्-इतिहास दक्षिण में अधिक देर तक बना रहा, उस समय तक जब उत्तर में ऐतिहासिक साम्राज्य विकसित होने लगे थे। जो थोड़े-से भारतीय गुफा-चित्र मिले हैं उन पर सबसे ऊपरी स्तरों की गुफाओं में सामंती युग के युद्ध-दृश्य अंकित हैं। नीचे की गुफाओं के चित्र कितने पुराने होंगे यह तो अनुमान भी कठिन है। भारत में प्राग्-ऐतिहासिक औज़ार बनानेवाला मानव, जैसा कि सोन घाटी (पश्चिमी पाकिस्तान) में, अपने पत्थर के औज़ार आमतौर पर लेवाल्वा पद्धति से छीलता था। औज़ार बनाने की यह सबसे पुरानी पद्धति तो नहीं, पर मोटे तौर पर दूसरी प्राचीनतम पद्धति तो है ही। स्थूल अनुमान से उसका काल ५०,००० से १,००,००० ई० पू० हो सकता है। इस तरह की कुल्हाड़ियाँ समस्त यूरेशिया महाद्वीप में पायी जाती हैं। पर अभी तक इसके अनुरूप मनुष्यों की गतिविधि के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु ७,००० ई० पू० तक यूरोप से फिलिस्तीन तक बहुत छोटे पत्थर के औज़ारों (लघु-पाषाण) के बड़े-बड़े भंडार मिलने लगते हैं। ईरान और अफ़ग़ानिस्तान में प्राग्-ऐतिहासिक मानव द्वारा काम में लायी गयी गुफाओं में उनकी निरंतरता से यह संभव जान पड़ता है कि भारतीय नमूने भी और अधिक पुराने नहीं हैं। यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि ऐसे लघु-पाषाण भारत में प्रारंभ होकर ही बाकी यूरेशिया में फैले।

ये लघु-पाषाण पहले-पहल पत्थर के बड़े-बड़े कुठारों और खुरचनियों के साथ, शायद उनके बनाने में बचे-खुचे सामान की भाँति पाये जाते हैं। मध्य-पाषाण युग दुनिया के बहुत-से भागों में इस बड़े भारी विकास का सूचक है कि उसमें लघु-पाषाण बड़ी-बड़ी राशियों में बड़े औज़ारों के बिना ही मिलने लगते हैं (चिकने पत्थर के औज़ारों का युग, नव-पाषाण युग अथवा उत्तर-पाषाण युग बाद में आया)। उदाहरण

के लिए जेरिको में, मिट्टी के बरतनों से पूर्ववर्ती 'ब' स्तर में, यही स्थिति है। इसमें बरतनों का न होना भी महत्त्वपूर्ण है। भारत में मिट्टी के बरतनों से पहले की ऐसी विशुद्ध लघु-पाषाण 'संस्कृतियाँ' भी मिली हैं, जैसे दक्षिण-पूर्वी तट पर बालू के ढूहों (ढेरी) में। ये ढेरी संस्कृतियाँ कोई ४,००० ई० पू० अथवा उससे भी पहले की मानी जाती हैं। ऐसे कालक्रम-निर्धारण के जो उपाय ज्ञात हैं उनके द्वारा हज़ार वर्ष इधर-उधर होना असंभव नहीं। अभी तक रेडियो कार्बन अथवा कोई अन्य परीक्षण संभव नहीं हुए हैं। लघु-पाषाण का प्रयोग करनेवाले इन लोगों ने अपने छोटे-छोटे सुन्दर सफ़ेद पत्थर के टुकड़ों के ढेर सँकरे रास्तों पर सारे पश्चिमी प्रायद्वीप में छोड़े हैं। लघु-पाषाण के सबसे उपयोगी स्थान छोटे-छोटे नदी-नालों के किनारों पर हैं जहाँ प्राचीन काल में मछली पकड़ने के गढ़े रहे होंगे, यद्यपि आजकल जंगल कटने और भूमि के कटाव के कारण ये गढ़े आमतौर पर भर गये हैं। भूमि के इस कटाव से किनारों पर पत्थर के औज़ारों के ढेर भी निकल आते हैं, पर उनमें निवाससूचक स्तरों का अभाव है। लघु-पाषाण के ये प्रयोक्ता खाद्य-संग्रह की सबसे प्रारंभिक अवस्था में न थे। उनके औज़ार जिस रूप में मिलते हैं वे इतने छोटे हैं कि उनका व्यवहार कठिन है। अफ्रीकी आदिवासी बुशमैन के व्यवहार से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय सफ़ेद पत्थर के टुकड़े, जिनमें सुन्दरता से पहलू निकाले गये हैं और जिन्हें छीलकर या किनारों पर सूक्ष्म दाँते निकालकर पैना किया गया है, संयुक्त औज़ारों के भाग हैं। ये टुकड़े काठ, सींग या हड्डी के हत्थों में पेड़ों के गोंद या ऐसे ही किसी अन्य चिपकनेवाले पदार्थ की सहायता से जड़े जाते थे। यह बात औज़ारों के काटनेवाले किनारे से हटे हुए कुछ पहलुओं को बदरंग हो जाने से भी प्रकट होती है। इस प्रकार भाले, काँटेदार हारपून, बाण, छुरे, हँसिये आदि बनाये जा सकते थे। दरअसल कुछ प्रकार के बड़े पत्थर के छोटे टुकड़े हँसिये के दाँते कहलाते ही हैं, जिसका अर्थ है कि अनाज का संग्रह तब तक होने लगा था, फिर चाहे वह बोया जाता हो चाहे बीज के लिए प्राकृतिक घास को काटा जाता हो। ये औज़ार पशुओं की खाल उतारने, और उनसे गोश्त छीलकर तथा चमड़ी के नीचे के तन्तुओं को तोड़कर चमड़ी कमाने के लिए बहुत ही उपयुक्त है। इसी प्रकार ये टोकरी बनाने के लिए बेंत या टहनियों को फाड़ने या मछली साफ़ करने के लिए भी उपयुक्त है। बहुसंख्यक पतले नुकीले टुकड़े खाल की, संभवत: स्नायु-तंतु से, सिलाई करने के लिए सुइयाँ या तकुए है। दूसरे शब्दों में, बर्तन बनने के बहुत पहले ही, टोकरियों या चमड़े के थैलों में आहार-संग्रह के प्रारंभिक उपाय होने लगे थे।

इन सर्वथा लघु-पाषाणीय लोगों के साथ-साथ (शायद उन्हीं समूहों की शाखाओं के) अन्य ऐसे लोग भी थे जिन्होंने बड़े-बड़े पत्थरों के, महा-पाषाण के ढेर
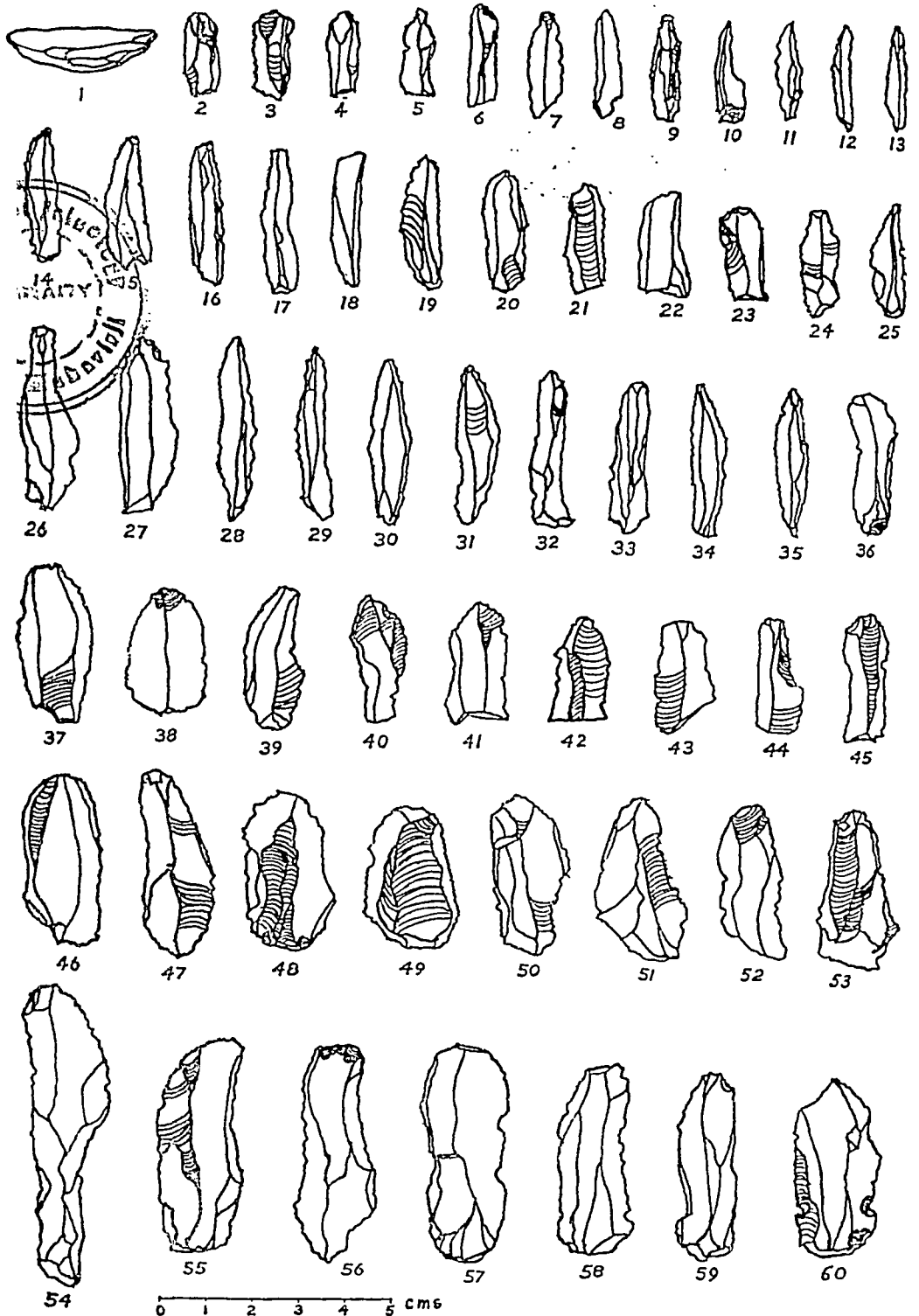
चित्र ४. पूना जिले में देउल गाँव से भांड-पूर्व काल के लघु-पापाण । यह स्थल भीमा नदी की एक सहायक नदी के किनारे एक ऐसे प्राचीन मछली पकड़ने के पोखर पर है जो आज भी काम में आता है । ये शक्ल प्राय: एक मात्र सिवथ स्फटिक पत्थर के हैं, और बहुत से टुकड़े मिश्रित औज़ारों के हैं, जो तीरों, छुरियों, हँसियों आदि के लिए लकड़ी, हड्डी या सींग के हत्थों में लगाये जाते थे । अधिक सूक्ष्म टुकड़े चमड़े या खाल के थैले सीने के लिए हैं, जिनमें भांडों के अभाव में अनाज रखा जाता था । मोटे अनुमान से इनकी तिथि ४,००० ईसा-पूर्व या इससे भी पहले की हो सकती है ।
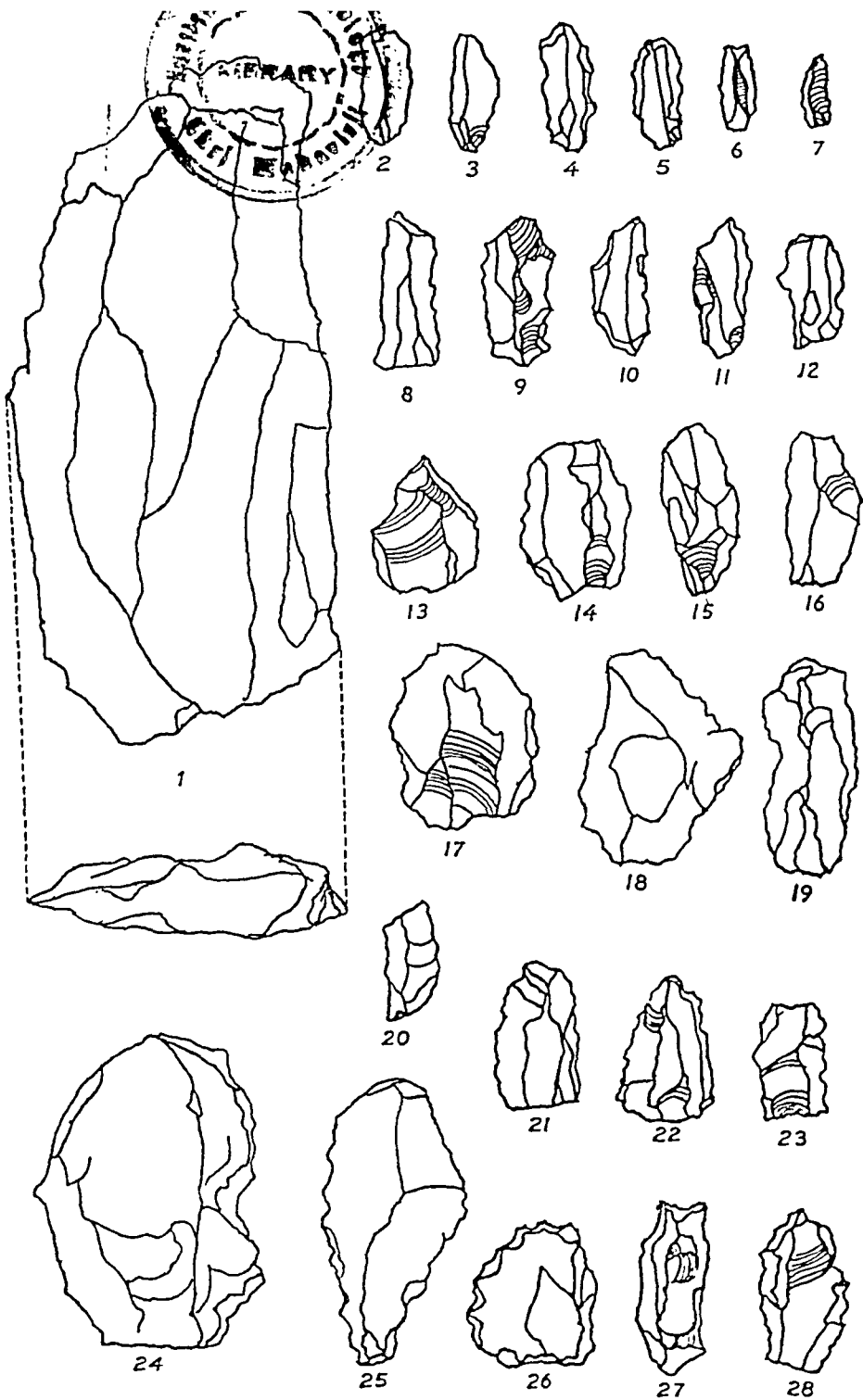
चित्र ५. पूना के समीप प्राप्त उच्चभूमि के लघु-पाषाण। ये अधिकांशतः महापाषाणीय शिला उत्कीर्णनों और पहाड़ी टीलों के साथ-साथ पाये जाते हैं। बनावट में अधिक अनगढ़ होने पर भी, ये पूर्ववर्ती आकृति में उल्लेखित लघु-पाषाणों से बाद के जान पड़ते हैं। जिन ढालों पर उनका व्यवहार होता था वे अधिक मोटी थीं। उनका उपयोग करनेवाले प्रारम्भिक पशु-पालक थे जिनकी कई तरंगें इस प्रदेश में आयीं। पुरुष देवता निश्चित रूप से अंतिम तरंगों से सम्बद्ध है।

छोड़े हैं। कर्नाटक, आंध्र और भुरभुरे पत्थर के प्रदेशों में, ये महा-पाषाण लौह युग के हैं। दक्षिणी पठार की काली चट्टानों पर बसे हुए महाराष्ट्र में महा-पाषाण कहीं अधिक पुराने हैं, यद्यपि सर्वोत्तम लघु-पाषाणों से बाद के ही हैं। यह संभव है कि दक्षिणी पठार के पश्चिमी भाग में चट्टानों के बहुत-से ढेर मुख्यतः प्राकृतिक कारणों से बने हों; पर प्राग्-ऐतिहासिक मनुष्य ने उन पर अपनी छाप गहरी नक्काशी के रूप में छोड़ी है। उनमें खाँचे केवल घिसकर ही बनाये गये हैं, या कम-से-कम उन्हें अंतिम रूप घिसाई द्वारा ही दिया गया है। परिश्रम की मात्रा का अनुमान खाँचों की गहराई से होता है जो कहीं-कहीं चार सेंटीमीटर तक है। पत्थर इतना कड़ा है कि आधुनिक इस्पात के औज़ारों की धार भी मार दे। कहीं-कहीं तीन-तीन टन की चट्टानों को खिसकाकर अन्य चट्टानों पर रखा गया है। इससे यह नतीजा निकलता है कि महा-पाषाण युग के लोगों के पास इतना समय और इतना अतिरिक्त खाद्य था कि ऐसे स्मारक बना सकें जिनमें बहुत अधिक कठोर और दीर्घकालीन शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता है। ऐसी पाषाण-राशियाँ और नक्काशीदार चट्टानें हज़ारों की संख्या में मिली हैं जिससे पता चलता है कि यह कार्य वर्षों, शताब्दियों तक, चलता रहा होगा। इनका उद्देश्य स्पष्ट नहीं है। इन खाँचों में अत्यंत साधारण वृत्त या अंडाकार आकृतियों से अधिक कोई विशेष रूपाकार कदाचित ही मिलता है। कोई स्पष्ट मानव, पशु अथवा वृक्ष की आकृति तो कभी नहीं मिलती। प्रायः वे प्रकृति की बजाय मानवीय हाथों से बनाये गये टेढ़े-मेढ़े खाँचों से अधिक कुछ नहीं हैं। यह अनुमान संगत जान पड़ता है कि इन महा-पाषाणीय लोगों के पास कुछ पशु थे। इनके बड़ी चट्टानों के ढेरों में पाये गये लघु-पाषाण निश्चित रूप से मछली पकड़ने के गढ़ों अथवा शिविर स्थानों के पास मिले लघु-पाषाणों से अधिक मोटे हैं। प्रायः दोनों प्रकार के लघु-पाषाणों के क्षेत्र के बीच स्पष्ट विभाजन-रेखा है। कभी-कभी प्रत्येक प्रकार नदी-नाले के केवल एक ही किनारे पर पाया जाता है, और महा-पाषाण सदा ही मोटे लघु-पाषाणों के समीप मिलते हैं। पर यह बात किसी भी ज्ञात नदी की पूरी लंबाई के बारे में सच नहीं है। इसका अर्थ यह है कि चट्टानों पर नक्काशी करने और महा-पाषाण रचनेवालों को मोटी खालों से काम पड़ता था, इसलिए उनके पास पशु थे। 'पतले लघु-पाषाण' वाले लोगों के पास केवल पतली खालें रही होंगी : हिरन, भेड़, बकरी, खरगोश और मछलियाँ तथा चिड़ियाँ आदि। इन दोनों मानव-समूहों में क्या संबंध था यह भी स्पष्ट नहीं है। किसी प्रारंभिक संघर्ष का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। भू-भाग ऐसा है कि कुछ-एक असामान्य स्थानों को छोड़कर स्तरीकृत अवशेषों की गुंजाइश नहीं। अर्थात्, मिट्टी की जो तह आज सबसे मोटी है, वह न केवल अधिक ऊंची सतहों से बहकर आयी

है और जुताई से समतल हो गयी है, बल्कि वह उन स्थानों में है जहाँ प्राग्-इतिहास में दलदल और घने जंगल रहे होंगे। ये सामान्यत: ऐसे क्षेत्र होंगे जहाँ प्राग्-ऐतिहासिक मनुष्य को न तो औज़ारों के लिए खुले पत्थर मिलते होंगे न डेरा डालने के उपयुक्त स्थान। प्राचीनतर शिविर स्थानों में अब बहुत कम मिट्टी बची है। ऐसा न केवल भूमि के कटाव के कारण, बल्कि इसलिए भी होगा कि उस समय भी डेरा डालने के लिए घने जंगलों और डरावने वन्य पशुओं से दूर सूखे स्थानों की आवश्यकता हुई होगी। किसी स्थायी निवास का तो उस समय कोई सवाल ही न था; इन स्थानों में अधिकांशत: कोई स्वीकृत अवशेष होना संभव नहीं है।

ये दोनों संस्कृतियाँ इसलिए विशेष महत्त्व की हैं, क्योंकि ऐतिहासिक युग में भी उनकी निरंतरता पायी जाती है। आगे हम देखेंगे कि दक्षिणी पठार के पश्चिमी भाग में ई० पू० छठी शताब्दी में, स्थानीय लोह युग के साथ, तेज़ी से कृषि का विकास हुआ, इससे पहले नहीं। दक्षिणी पठार में कोई उल्लेखनीय ताम्र युग नहीं आया। एक विरला स्थल (ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी के प्रारम्भ में) महेश्वर में है जहाँ काँसे का औज़ार तो मिलता है पर मानवीय आवास बहुत लंबे व्यवधान सहित है। महा-पाषाण लोगों की कई लहरें आयीं; पशु चराने और पानी की अधिक सुविधाओं के लिए अल्पकालीन मौसमी गमनागमन के अलावा, शायद वे लंबी अवधि में भी धीरे-धीरे (भीमा, कृष्णा, तुंगभद्रा, गोदावरी) नदियों की घाटियों में गमनागमन करते रहते होंगे। यह मौसमी हलचल 'ऋतु-प्रवास' कहलाती है, और दूरव्यापी देशान्तरण की तुलना में उसका सम्पूर्ण क्षेत्र बहुत सीमित होता है। यह स्पष्ट है कि लघु-पाषाण मानव और महा-पाषाण मानव दोनों ही दोनों प्रकार का गमनागमन करते थे। वर्षा ऋतु आने पर लगातार सीलन रहने से भेड़ों के खुर सड़ने लगते हैं। आखेट नदी के किनारे अधिक सूखे पूर्वी प्रदेश की ओर चला जाता है। मानसून के बाद वर्षा के कारण ताजा घास और जंगल के क्षेत्रों में लौटना आसान है। पश्चिम की ओर गमन से आदिम मनुष्य तटवर्ती क्षेत्र में प्राप्त नमक के अधिक समीप पहुँच जाता होगा। खुदाई से कुछ प्राग्-ऐतिहासिक स्थल तटवर्ती प्रदेश में भी मिले हैं जो संभवत: नमक संग्रह करने के शिविर थे। दक्षिणी पठार के ऊँचे ढलान में, जो सीधा ५०० मीटर या उससे भी अधिक उठ जाता है और समुद्र-तट से केवल ५० किलोमीटर दूर है, थोड़े-से ही दर्रे हैं। परवर्ती व्यापार मार्ग इन्हीं दर्रों से बँध गये थे। पठार की भाँति तटवर्ती प्रदेशों में भी कहीं-कहीं पत्थर के छल्ले भी पाये जाते हैं जो खोदने की लकड़ियों को भारी करने के काम में आते थे। यह किसी प्रकार की आदिम कृषि-पद्धति का सूचक है, जो हल द्वारा खेती की भाँति उपजाऊ न थी और जिसे केवल स्त्रियाँ ही चलाती थीं। इस भाँति समुद्र-तट के समीप पर्वत-शृंखला पर हमें पशु, नमक, तट की

सुलभता, पत्थर के औजार, अग्नि पर नियंत्रण और प्राकृतिक पदार्थों (पशु तथा वनस्पति) की अधिकतम विविधता प्राप्त है। दक्षिणी पठार पर इतिहास के लिए सब तैयारी हो चुकी थी; और उसका आरम्भ आदिवासियों द्वारा अग्नि की सहायता से 'लाल मिट्टी' में से लोहा निकालना सीखने से हुआ। यह बात बाद में स्पष्ट होगी कि इसके लिए चरम प्रेरणा और पद्धति का ज्ञान उत्तर से प्राप्त हुआ था। किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि प्रारम्भिक पशुपालकों का उत्तर से भी कोई सम्बन्ध था या नहीं। उनके चिह्न पूरे प्रायद्वीप में, दक्षिण की प्रमुख नदी-घाटियों में ऊपर से नीचे तक मौजूद हैं। अन्तिम तरंग के लोगों ने महा-पाषाण युग के स्थलों को अपनाकर फिर से उनका उपयोग किया, जहाँ आज भी आधुनिक ग्रामवासी देवताओं की पूजा करते हैं। पर वर्तमान देवताओं को लानेवाले ग्रामीणों ने मूल महा-पाषाण राशियों को बनाया न था, उन्होंने केवल नक्काशीदार चट्टानों सहित अन्य महा-पाषाण सामग्री का अपने धार्मिक अनुष्ठानों अथवा शव-निखात के लिए फिर से उपयोग किया। उनके पुरुष देवता की, जो बाद में म्हासोबा या कोई अन्य तुल्य देवता हो गया, मूलतः कोई संगिनी न थी और कुछ समय तक आहार-संग्रहकों की पूर्ववर्ती मातृदेवी से उसका संघर्ष भी चला। किन्तु शीघ्र ही दोनों समूह एक हो गए और उसी के अनुरूप देवी-देवता का भी विवाह हो गया। कहीं-कहीं किसी अनगढ़ देवस्थान में देवी महिषासुर (म्हासोबा) को कुचलती दिखाई पड़ती है, और वहाँ से कोई ४०० मीटर दूर वह नाम बदलकर उसी म्हासोबा के साथ विवाहित भी मिलती है। इसका ब्राह्मण रूप यह है कि पार्वती शिव की तो पत्नी है पर महिषासुर का दलन करती है। और कभी-कभी वह स्वयं शिव का दलन करके अपने मूल रूप में दिखाई पड़ती है। यह महत्त्वपूर्ण है कि सिंधु घाटी की मुहर पर त्रिमुख शिव ने सिर पर महिष के सींग धारण किए हुए हैं।

ये प्राग्-ऐतिहासिक अवशेष, जो उत्पादन के साधन और धार्मिक ढाँचे दोनों को प्रभावित करते हैं, हाल के वर्षों में ही सामने आये हैं। अन्य किसी भी देश में लंबे ऐतिहासिक विकास के दौर में भी, प्राग्-इतिहास का जीवित रहना और फैलना इतना स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता। यह भारत की खास ऐतिहासिक और सामाजिक विशेषता है। विकास-क्रम ने आज के संश्लिष्ट भारतीय समाज पर अपनी स्पष्ट और अमिट छाप छोड़ी है।

उत्पादन के साधनों में आदिम अवशेष

प्राग्-ऐतिहासिक मानव के सभ्य मानव बनने का इतिहास भारत में किस प्रकार निर्धारित किया जाय? एक पद्धति मानवमिति की है जिसमें लंबाई, वज़न,

कपाल की आकृति और आकार, नाक की लम्वाई-चौड़ाई, चमड़ी, आँखों और वालों के रंग इत्यादि शारीरिक विशेषताओं का मापन होता है। इस पद्धति से कोई उल्लेखनीय परिणाम नहीं प्राप्त होते। प्राग्-इतिहास से केवल कुछ ही मानव-हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं। मानवमितीय विशेषताएँ (जिनमें मुखाकृति के प्रकार भी सम्मिलित हैं) कुछ पीढ़ियों तक जीवन की निश्चित रूप से श्रेष्ठतर अथवा हीनतर पद्धतियों के चलते रहने पर वदल जाती हैं। भारत में जो आदिम जातियों के लोग अव भी मौजूद हैं वे सभी, आसपास की आवादी के साथ मिश्रण को ध्यान में रखते हुए, पहले-पहल तो छोटे और शारीरिक दृष्टि से अल्पविकसित जान पड़ते हैं। पर अन्यथा वे एक ही सामान्य शारीरिक समूह के नहीं हैं। यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि ऐसे आदिम प्रकार सामान्यतः परिवर्तनशील होते हैं। वेहतर आहार और खेतों में नियमित कार्य से कुछ ही पीढ़ियों में डील-डौल और लम्वाई इत्यादि में परिवर्तन होने लगता है। उपलव्ध भारतीय तथ्यों के सांख्यिकीय विश्लेषण से प्रकट होता है कि सिर-सम्वन्धी माप और मुख (नासिका अभिसूचक) भी लम्वाई के साथ वदल जाता है।

इस अवस्था के लिए भाषा-संवंधी शोध और भी कम फलदायी है। कोई दर्जन-भर मुख्य भाषाएँ और कमोवेश महत्त्व की कोई ७५३ वोलियाँ, जो भारत में व्यवहार में आती हैं, प्रायः तीन श्रेणियों में रखी जाती हैं: (१) उत्तर और पश्चिम में आर्य (इंडो-आर्यन) समूह—पंजावी, हिंदी (राजस्थान और विहार के रूपों सहित), वँगला, गुजराती, मराठी, उड़िया; (२) दक्षिण में द्रविड़, तेलगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़, तुलु; (३) आग्नेयवंशी (आस्ट्रो-एशियाई) समूह जिसमें भारत की अधिकांश आदिम भाषाएँ विलकुल मनमाने ढंग से ठूँस दी जाती हैं—मुंडारी, ओराँव, संथाली इत्यादि। धारणा यह थी कि इन आदिम लोगों को द्रविड़ों ने जंगलों के इक्का-दुक्का कोनों में खदेड़ा और फिर द्रविड़ों को आर्यों ने दक्षिण की ओर भगा दिया। इसमें आर्य आक्रमण ही ऐतिहासिक और सुप्रमाणित है; वाकी तो केवल संदिग्ध अनुमान मात्र है। द्रविड़ प्रकार का जो एक कपाल सोवियत मध्य एशिया में ई० पू० तीसरी सहस्राव्दी के स्तर में मिला, वह उस परिवेश में विरल ही था। उत्तर-पश्चिम में व्राहुई भाषा आर्य भाषा-भाषियों के वीच अकेले द्रविड़ 'द्वीप' की भाँति है। यह संभव है कि व्राहुई-भाषी समूह उस स्थान पर ऐतिहासिक युग में पहुँचा हो, क्योंकि ग्यारहवीं शताव्दी तक भी द्रविड़ लोग वड़ी संख्या में उत्तर की ओर जाते रहे। भाषायी विश्लेषण भाषा के ऊपर आजीविका शैली के प्रभाव की ओर कोई ध्यान नहीं देता। जैसा कि निष्पक्ष शोध से प्रकट है, भारत की सभी आदिम भाषाएँ एक ही समूह की नहीं हैं। आसाम में, जहाँ प्रत्येक घाटी में भिन्न-भिन्न भाषाएँ वोलनेवाली कई जनजातियाँ रहती हैं, भाषाओं अथवा प्रमुख वोलियों की संख्या

१७५ से भी अधिक है। ये अधिकांशतः ऐसे आदिम कबीलाई मुहावरे मात्र हैं जिन्हें मुंडारी या किसी भी एक भाषा-समूह से नहीं जोड़ा जा सकता। और न यह माना जा सकता है कि आसाम के लोगों को द्रविड़ों ने वहाँ धकिया दिया था। इस बात की उपेक्षा आमतौर पर यह कहकर की जाती है कि आसाम असली भारत नहीं है; हमें बताया जाता है कि भारत में आदिम जातियों को द्रविड़ों ने ही जंगलों में खदेड़कर उपजाऊ भूमि पर दखल कर लिया होगा। दरअसल, लौह युग के पहले इस उपजाऊ भूमि पर घने जंगल या दलदल ही थे। आदिम मनुष्य किनारे के हलके जंगलों में ही सुविधापूर्वक रह सकता था, उस प्रदेश में नहीं जहाँ अब गहरी और जुती हुई भूमि है। इसका अर्थ है कि आहार-संग्रहकों के लिए सबसे अच्छे क्षेत्र मोटे तौर पर वहीं थे जहाँ वे आजकल रहते हैं। प्रथम पशुपालकों और खाद्य-संग्रहकों को किसी को खदेड़ने की आवश्यकता न थी। अंत में यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि द्रविड़ लोग सामान्यतः आर्य भाषा-भाषियों की अपेक्षा काले रंग के हैं, फिर भी इससे भाषा और नस्ल को जोड़ने की कोई संभावना नहीं निकलती। आधुनिक मानवविज्ञान के निष्कर्षों का जहाँ तक मुझे ज्ञान है, ब्राहुई-भाषी द्रविड़ नस्ल के नहीं हैं।

इस भाँति हमारे पास उत्पादन के साधनों के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं रह जाता; इनमें उत्पादन के साधनों की तुलना प्राग्-ऐतिहासिक अवशेषों से की जा सकती है। भारत में ऐसे कोई कबीले नहीं बचे हैं जो सामान्य उपयोग के लिए ऐसे पत्थर के तीर, कुठार या लघु-पाषाण बनाते हों जिनकी वैसी ही प्राग्-ऐतिहासिक वस्तुओं से तुलना हो सके। पश्चिमी घाट के काठकरी कबीले के लोग यह कहते अवश्य हैं कि उनके पूर्वज कुछ पीढ़ियों पहले तक बहुत ही भोंडे प्रकार के पत्थर के बाण बनाया करते थे। पर उनका कोई वंशधर आज न तो वैसे बाण बना सकता है न उसके पास पूर्वजों के बने हुए कोई नमूने मौजूद हैं। अंडमान द्वीप समूह में अंग्रेज़ों के संपर्क में आनेवाले आदिवासी बोतलों के शीशे के पतरे काम में लेने लगे, क्योंकि काँच के टुकड़े किसी भी पत्थर से अधिक पैने होते हैं। सब जगह जल्दी ही धातु के औज़ार बनने लगे थे। लघु-पाषाण उपकरणों के उपयोग के केवल एक ही अपवाद-स्वरूप अवशेष का मुझे पता है। दक्षिणी पठार और मध्य भारत के ढाँगर (पशुपालक) जाति के लोग भेड़ों और बकरों को बधिया करने के लिए अब भी सफ़ेद पत्थर की तुरंत बनायी हुई पतरियों का उपयोग करते हैं। ये लघु-पाषाण उपकरण ही कहे जायेंगे, यद्यपि ये बहुत ही अनगढ़ होते हैं। प्राग्-ऐतिहासिक पद्धति कहीं अधिक सूक्ष्म थी, किन्तु आधुनिक ढाँगर प्राग्-ऐतिहासिक लघु-पाषाण उपकरणों को औज़ार या शिल्प-पदार्थ नहीं मानते। पत्थर के छुरों के आज तक चले आने का कारण यह है कि तुरंत छीले हुए पत्थर का घाव जल्दी बिगड़ता नहीं, जैसा कि धातु के विसंक्रमित छुरों

के घावों में भय रहता है। पत्थर के टुकड़े को एक बार काम में लाने के बाद फेंक दिया जाता है। (यहूदी लोग खतना करने के लिए, धातु का उपयोग प्रचलित होने के बाद भी, पत्थर के छुरे का उपयोग करते रहे; इसका व्यावहारिक कारण संभवतः घावों का कम बिगड़ना ही था। किंतु धार्मिक संस्कार सदा दक़ियानूस होते हैं; प्राचीन रोमवासी, लोहा और इस्पात आम इस्तेमाल में आने के बाद भी, पशुबलि के लिए पत्थर के कुठारों और ताँबे के छुरों का ही व्यवहार करते थे।)

ढाँगर अधिकांशतः भ्रमणशील गड़रिये हैं। इनके एक समूह (वाडी) में एक दर्जन लोग और कोई ३५० भेड़ें होती हैं, जो वर्ष-भर निरंतर भटकने के बाद वर्षा के चार महीनों में किसी अस्थायी निवास पर लौट आता है। यह स्थान यदि ऐसा हो जहाँ वर्षा आज भी बहुत हो तो मानसून शुरू होने पर ये फिर पूर्व की ओर चल पड़ते हैं। इनमें पुरुष भेड़ों को चराते और उनकी देखभाल करते हैं, और स्त्रियाँ अपने थोड़े-से बर्तन-भाँडों, तम्बुओं और बच्चों को टट्टुओं पर लादकर सीधी अगले शिविर स्थान को चली जाती हैं। अब ढाँगर भी खेती पर निर्भर होते जा रहे हैं। उनके भोजन का मुख्य साधन भेड़ों का मांस या जंगल से संग्रह की हुई वस्तुएँ नहीं बल्कि उन किसानों द्वारा दिया गया अनाज (या धन) है जिनके खेतों में ये ठेके पर दो या तीन रात के लिए अपनी भेड़ों को घेरे रखते हैं। भेड़ों की मेंगनी खाद बन जाती है और उससे उपज बढ़ती है। स्पष्ट है कि इन पशु-चालकों का रास्ता, जो आठ सूखे महीनों में ४०० मील तक का हो सकता है, घास के मैदानों और चरागाहों की बजाय बदलकर अब खेतों के पास से हो गया है। मूल ढांगर भाषा जो भी रही हो, अब वह बदलकर आस-पास के किसानों की भाषा, मराठी या हिन्दी, हो गई है। ढाँगर अतिरिक्त आमदनी के लिए कभी-कभी भेड़ या ऊन भी बेचते हैं। कुछ लोग ऊन के मोटे कम्बल भी बुनते हैं। ये सब कार्य उन्हें उस सामान्य समाज से ही जोड़ देते हैं जिसमें उनका आना-जाना है। इसलिए अब उनकी किसानों के ठीक नीचे की एक हिंदू जाति बन गई है। उनके मूल मौसमी गमनागमन के मार्ग को उन स्थानों का अध्ययन करके पहचाना जा सकता है जो पशु चराने और वर्षा ऋतु में बसने के लिए सबसे अधिक सुविधाजनक हैं। इस अध्ययन से इस महत्त्वपूर्ण बात का पता चलता है कि इन ढाँगरों के पुराने सर्वोत्तम मार्ग, मोटे तौर पर करहा घाटी के बायें किनारे की पट्टी (जहाँ कभी घना जंगल नहीं रहा), प्राग्-ऐतिहासिक काल का है और दक्षिणी पठार की परिष्कृत लघु-पाषाण संस्कृति का पक्का आधार प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में, ढाँगर जीवन-पद्धति की जड़ें प्राग्-ऐतिहासिक युग में हैं। आजकल वे अपने मृतकों को जलाते भी हैं और दफ़नाते भी; उनमें पहले आम रिवाज दफ़नाने का था, जो भारत में सामान्य विकास की दिशा का सूचक है। उनके दो

विशेष देवता (बीरोबा और खंडोबा) भी ईसा की चौथी शताब्दी पुराने हैं, यद्यपि इन देवताओं की मुख्य उपासक अब हिन्दू जातियाँ हैं। विशेष वार्षिक पूजा के एक स्थान (वीर) में मानव-बलि के स्पष्ट अवशेष हैं, जो संभवतः ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में इस बस्ती की स्थापना के समय देवता के आगे (और संभवतः संस्थापक की पूजा में) होती होगी। आधुनिक बस्ती के किसान ढाँगर नहीं हैं, उन्होंने कृषि अपनाने के साथ-साथ अपनी जाति भी बदल ली है। किन्तु प्रबल निश्चित परंपरा के अनुसार देवता का मुख्य संस्थापक और भक्त ढाँगर ही था।

अपने इस अन्वेषण के लिए हम ढाँगरों के अतिरिक्त अन्य जातियों अथवा समूहों को, जैसे भीलों को, भी ले सकते थे। भील आर्य-पूर्व समुदाय के लोग हैं जो संभवतः द्रविड़ नहीं थे। वे अब सबसे घटिया भूमि पर खेती करनेवाले अर्ध-कबीलाई किसान हो गये हैं, यद्यपि धनुष-बाण चलाने, शिकार करने, मछली पकड़ने और आहार-संग्रह में निपुणता के लिए अब भी उनकी ख्याति है। किसी मध्यवर्ती अवस्था में वे पशुपालक हो गये थे, कृषि-कार्य तो उनमें हाल ही में शुरू हुआ है। परिणामस्वरूप भीलों की भाषा अब गुजराती की एक बोली बन गई है जो गूजरों की बोली के समीप है जिनसे भीलों ने पशुपालन सीखा था। यह सामान्य घटना है: दो संस्कृतियों में संपर्क होने पर जिसके उत्पादन के रूप श्रेष्ठतर हों उसकी भाषा दूसरी पर हावी हो जाती है। स्वयं भीलों का अपने अधीनस्थ नहाल कबीले के लोगों पर ऐसा ही प्रभाव पड़ा माना जाता है जिनकी किसी समय अपनी सर्वथा स्वतंत्र भाषा थी। कबीलाई भीलों के बारे में विशेष रोचक बात यह है कि इतिहास में आवश्यकता पड़ने पर वे निरंतर युद्ध करते रहे हैं, यद्यपि योद्धाओं के रूप में वे नियमित रूप से संगठित कभी न रहे। कुछ तो ईसा-पूर्व पहली शताब्दी में मालवा के आसपास राजा भी हो गये थे, पर उनका राजवंश शीघ्र ही मिट गया। गौंड कबीला कुल मिलाकर अब भी आदिम अवस्था में ही है, पर सामंतवाद के युग में उनके कुछ मुखिया गौंड राजा हो गये। ये राजवंशीय गौंड आज भी मौजूद हैं और अपने को बाकी गौंडों से अलग तथा श्रेष्ठ मानते हैं। नीलगिरि के आदिम टोडा तो एक प्रकार से पर्यटकों और पेशेवर मानव-वैज्ञानिकों के आकर्षण के केन्द्र बन गये हैं। सबसे आदिम चेंचु कबीला (अभी तक मुख्यतः आहार-संग्रहक होने पर भी) अपनी भाषा खो बैठा है और अब वह तेलगु का ही एक रूप बोलता है जो उनके परिवेश के प्रमुख उत्पादकों अर्थात् किसानों की भाषा है। दूसरे शब्दों में, ऐसे तमाम अध्ययन से यही सिद्ध होता है कि आदिम समुदाय अधिक कुशल उत्पादन के साधनवाले समुदायों के संपर्क में आने पर उनसे बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। नागालैंड की तात्कालिक समस्या यह है कि कुछ नागाओं को तो आधुनिक पूँजीवादी शिक्षा प्राप्त हो गयी है और अधिकांश नागा

असहाय और निष्क्रिय किसान बनने से इंकार करते हैं जो सदा भारतीय किसान की विशेषता रही है। नागाओं की अलग राज्य की माँग (जो हाल में मान ली गई है) या पूर्ण स्वाधीनता की माँग कबीलाई एकता के उन अवशेषों पर आधारित थी जो (पहले) हल द्वारा खेती और पूँजीवादी सम्पत्ति के अभाव से उत्पन्न होती थी; उनकी माँग का एक कारण यह भी था कि आहार-उत्पादक समाज के अनधिकार हस्तक्षेप के विरुद्ध सशस्त्र प्रतिरोध की उनकी दीर्घकालीन परम्परा रही है।

अधिकांश लोगों का ध्यान इस बात पर नहीं जाता कि कबीलों का भारतीय किसान पर, बल्कि उच्चवर्गों पर भी प्रभाव पारस्परिक रहा है। कबीलों द्वारा खेती का स्थान साधारणतः बदलता रहता है। किसी सीमित क्षेत्र में आग लगा दी जाती है, या उसकी झाड़ियाँ काटकर उन्हें जला दिया जाता है। फिर राख में कुछ बीज बिखेर दिये जाते हैं। कभी-कभी बीज एक लंबी नुकीली खुरपी (मराठी : थोम्बा) से बनाये गये छेदों में भी डाले जाते हैं। भूमि की उर्वरता जल्दी ही चुक जाती है। अधिक-से-अधिक दो वर्ष के बाद नये खेत साफ़ करने पड़ते हैं और पुरानों को परती छोड़ दिया जाता है जिस पर छह से दस बरस के भीतर नयी झाड़ियाँ और पेड़ उग आते हैं। इस प्रकार का अन्न-उत्पादन देश-भर में अधिकांश कबीले करते हैं : पश्चिमी तट के गावडा, हो, उराँव, संथाल, कोलटा आदि। इस पद्धति से भूमि उतने लोगों का पालन नहीं कर सकती जितना नियमित कृषि में संभव होता है। पर हल से खेती में अधिक श्रम की आवश्यकता होती है : भूमि को समतल करने, पहाड़ियों पर खेती योग्य पट्टियाँ बनाने, पत्थर बीनने, जंगल और ठूंठ काटकर साफ़ करने, और खाद के नियमित उपयोग के लिए। इस सबका अर्थ है औज़ार और खेती के पशुओं का स्वामित्व। प्रायः उसका अर्थ यह भी होता है कि भूमि को निश्चित खेतों में बाँटकर उनके ऊपर व्यक्तिगत अधिकार, जिसके फलस्वरूप, आहार की सुलभता बढ़ने के कारण आबादी बढ़ने पर, अंततः वर्ग-भेद उत्पन्न हो जाते हैं। इसके बावजूद, बहुत-से कृषि-प्रधान गाँवों में भी (जैसे महाराष्ट्र में, जहाँ से परिचय के कारण मैंने अधिकांश उदाहरण चुने हैं) किसान हल द्वारा खेती के साथ-साथ काटने और जलाने की आदिम पद्धतियों का भी उपयोग करता है। स्वभावतः यह गाँव की बंजर भूमि पर ही संभव होता है, जो साधारणतः पहाड़ियों पर होती है जहाँ तल में कड़ी बसाल्ट चट्टानों और सीधे ढलान के कारण खेती के योग्य पट्टियाँ बनाना संभव नहीं। चावल के बीजों की क्यारियाँ भी ऐसे ढंग से तैयार की जाती हैं जो स्पष्ट ही काटने-जलाने की पद्धति से निकला है। इन क्यारियों में खाद, मिट्टी और भूसे के साथ जंगल से लाकर पत्तियाँ भी रखी जाती हैं। टिकिया को इतना सूखने दिया जाता है कि पत्तियाँ जल सकें, इसे इतना

गीला रखा जाता है कि बहुत तेज़ी से न जले और फिर आग लगा दी जाती है। वह सुलगती रहती है; नन्हें अंकुरों के लिए आवश्यक रसायन भूमि में ही पका दिये जाते हैं। इस तैयार की हुई क्यारी में पहली वर्षा होते ही चावल के बीज रोप दिये जाते हैं। धान के पौधे यहाँ से निकालकर अन्यत्र रोपने पर ये क्यारियाँ खाली छोड़ दी जाती हैं। तब भूमि के उस छोटे-से टुकड़े पर किसान दालें, बीजदार फ़लियाँ बोता है जिनके बिना केवल चावल से उसे संतुलित आहार नहीं मिल सकता। इस प्रक्रिया से स्वभावत: फ़सलों को बदलते रहने की बात सूझी जो अच्छी खेती के लिए इतनी महत्त्वपूर्ण है।

कहीं-कहीं कुछ भारतीय किसान और पहाड़ी भागों में रहनेवाले बहुत-से कबीलों के लोग, पौधे रोपने का काम अभी तक थोम्बा या लंबी नुकीली खुरपियों से करते हैं। प्राग्-ऐतिहासिक पद्धति से इसमें इतना ही अंतर है कि अब इस खुरपी को पत्थर के छल्लों से भारी नहीं बनाया जाता। आदिम युग के सवा गज के औज़ार की जगह आधुनिक थोम्बा अब छाती तक ऊँची होती है; इसलिए वह अधिक भारी और मोटी होती है तथा उसमें इस्पात की नोक भी होती है; पर थोम्बा के आदिम उद्गम में कोई भूल संभव नहीं। जो बीज बोये जाते हैं वे बहुत ही मोटे अनाजों के होते हैं, जैसे नाचनी, वरी, साम्वा, जो कभी-कभी जंगलों में भी उगते पाये जाते हैं। ढालू पहाड़ियों पर जहाँ इस पद्धति का उपयोग होता है, वहाँ हल चलाना न तो आवश्यक है न संभव, पर ऐसी खेती में भूमि को दीर्घ काल तक, दस में से आठ वर्ष तक, परती छोड़ना आवश्यक होता है। भूमि के छोटे किन्तु समतल टुकड़ों पर हल की बजाय बेलचा या लम्बे हत्थेवाली कुदाली काम में लाते हैं। जहाँ भूमि अच्छी नहीं वहाँ स्त्रियाँ खेती करती हैं जिससे पुरुषों द्वारा की जानेवाली भारी खेती से आमदनी में कुछ वृद्धि हो सके। अधिकांश आदिम कबीलों में सब्बल और बेलचे के प्रयोग पर, अर्थात् समस्त कृषि पर उसी प्रकार स्त्रियों का अधिकार है जिस प्रकार शिकार पर पुरुषों का। मछुवों की तो अब विशेष जातियाँ ही हो गयी हैं। फिर भी कबीलों के लोग और बहुत-से किसान बिना जाल के मछलियाँ पकड़ते हैं; वे मछलियों को घेरकर छिछले स्थानों या विशेष रूप से बनाये गये झाड़ियों के बाँध की ओर ले आते हैं और फिर उन्हें हाथों से निकाल लेते हैं। मैंने उन्हीं गढ़ों के किनारे उनके प्राग्-ऐतिहासिक पूर्वजों द्वारा छोड़े गये लघु-पाषाण उपकरणों के बहुत ही बड़े-बड़े ढेर देखे हैं। यही बात भांडों के बारे में है। यद्यपि पुरातत्त्व ने सिंधु प्रदेश में पांच हज़ार वर्ष पहले के चाक पर बने उत्तम भांड खोज निकाले हैं, फिर भी प्राग्-ऐतिहासिक पुरातत्त्व को दक्षिणी पठार पर बिना चाक बनाये गये अनगढ़ भांड भी मिले हैं। हर प्रकार के ऐसे भांड आज

भी, ठीक उन्हीं पद्धतियों से सेवटा (धीमे चलनेवाले चाक) पर, या बिना किसी चाक के, बनाये जाते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह धीमा चाक सिर्फ़ स्त्रियाँ ही चलाती हैं। पुरुष उन अधबने भांडों को एक हाथ से लकड़ी की पटिया द्वारा बाहर से एक-सा करते हैं, और दूसरे से मुट्ठी में एक पत्थर की 'निहाई' भांड के भीतर पकड़े रहते हैं। इस भाँति भांडों को पकाने के पहले पतला और मजबूत बनाया जाता है और बाद में भांड आकार और सफ़ाई दोनों ही दृष्टियों से कहीं बेहतर दिखाई पड़ता है। ऐसी 'निहाइयाँ' दो से तीन हज़ार वर्ष पुराने स्तरों की खुदाई में पायी गयी हैं। भांड बनाने का विशेष अधिकार केवल स्त्रियों को ही रहा होगा, यद्यपि कुम्हार का तेज़ चाक पुरुषों का ही औज़ार है और लगता है सदा ही ऐसा रहा भी है।

ऊपरी ढाँचे के आदिम अवशेष

जहाँ आदिम और प्राग्-ऐतिहासिक कार्यविधियों के इतने अवशेष मिलते हैं, वहाँ यह आश्चर्य की ही बात होती कि सामाजिक संगठन के रूप, रीति-रिवाजों और विश्वासों के, अर्थात् उत्पादन के संबंधों के कोई अवशेष न मिलते। दरअसल, ऐसे अवशेष भी प्रचुर मात्रा में हैं। उदाहरण के लिए, सम्पन्न परिवार के रसोईघरों में भले ही आज ईंधन के लिए तेल या बिजली का उपयोग होता हो, पर (आंध्र प्रदेश और दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र को छोड़कर) सिल और बट्टे का प्रयोग भी उनमें होता है जो पाषाण युग की वस्तुएँ हैं। उनके आकार में परिवर्तन हुआ है; आधुनिक रसोईघर में बट्टे की अपेक्षा सिल अधिक चपटी और चौड़ी होती है। उसका मुख्य उपयोग आज नारियल, मसाले और चावल के साथ खाने की सब्ज़ी या कढ़ी के लिए नरम मसाले कूटने या पीसने के लिए होता है। इस तरह की सिल पर अब नमक से अधिक कड़ी कोई वस्तु नहीं पीसी जाती। किन्तु प्राग्-ऐतिहासिक युग ने उनका उपयोग करनेवालों पर अपनी छाप छोड़ी है। सबसे पहले तो यह देखने की बात है कि उच्च वर्गों की स्त्रियाँ उसका उपयोग करने पर आमतौर पर बट्टे को ऊपर से पकड़ती हैं और निचली जातियों की स्त्रियाँ दोनों किनारों से। किनारों से पकड़ने पर घुमाने में रुका-वट पड़ने से काम कम होता है। किन्तु अगर सिल का आकार प्राग्-ऐतिहासिक युग की भाँति हो, और बट्टा सिल से चौड़ा तथा सिल सामने आगे की ओर ऊँची और ढालू हो, तो यह आकार और किनारों से बट्टे की पकड़ दोनों ही, आधुनिक चपटी सिल पर बट्टे की ऊपरी पकड़ की अपेक्षा, अनाज जैसी कड़ी वस्तु को पीसने के लिए अधिक उपयुक्त हैं। यह तथ्य इस बात को सूचित करता है कि निचली जातियाँ उन दिनों के अधिक समीप हैं जब सिल का उपयोग

वास्तव में अनाज को पीसकर आटा बनाने के लिए होता था। आजकल सभी जातियाँ आटा पीसने के लिए हाथ की चक्की या पिसाई मशीन का उपयोग करती हैं जो कहीं अधिक कारगर हैं। पर सिल-बट्टे के उपयोग में अंतर निचली जातियों के आहार-उत्पादन की ओर बाद में मुड़ने की ओर इंगित करता है। ठीक ये निचली जातियाँ ही अब मज़दूर और किसान हैं जो आहार-उत्पादन करते हैं। वर्गों का अंतर इसलिए भी है कि इन लोगों ने आहार-उत्पादन की अवस्था में बाद में प्रवेश किया। यह स्पष्ट ही बहुत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक और समाज-वैज्ञानिक घटना है। उच्च जातियाँ उत्तर से आयी थीं, अथवा उत्तर के उन आहार-उत्पादकों से पहले प्रभावित हो चुकी थीं, जिन्होंने दक्षिणी पठार में वास्तविक कृषि का समावेश किया और जो पहले से ही चक्की का प्रयोग करने लगे थे। सिल-बट्टे के साथ एक अन्य पुरानी परम्परा जुड़ी हुई है; यह एक विचित्र-सा अनुष्ठान है जो हिंदू (ब्राह्मण) ग्रंथों में नहीं मिलता, बल्कि शायद इसका लिखित उल्लेख मिलता ही नहीं। उसमें केवल स्त्रियाँ ही उपस्थित होती हैं जो उसके आदिम और प्राग्-ऐतिहासिक उद्गम का सूचक है। बच्चे के जन्म के दसवें (कभी-कभी छठे या बारहवें) दिन उपस्थित स्त्रियों में से कोई बड़ी-बूढ़ी बट्टे के कड़े, चिकने और बेलनाकार पत्थर को पालने के चारों ओर घुमाकर फिर पालने में ही रख देती है। इसका उद्देश्य यह है कि बच्चा भी बड़ा होकर उस पत्थर की भाँति ही निर्दोष और सहनशील बने। इस पत्थर को शिशु का झँगला (कुणची) पहनाते हैं, ओर देवी की भाँति माला या हार से भी सजाते हैं। उस पर कोई लाल और कभी-कभी पीला रंग भी लगाया जाता है। ऐसे अनुष्ठानों में प्रतीक-विधान कभी बहुत सीधा नहीं होता। पत्थर एक साथ ही शिशु और उसे आशीर्वाद देनेवाली मातृदेवी का प्रतीक होता है। पुरुष पुरोहितों को इस अनुष्ठान का पता नहीं होता, यद्यपि यह ब्राह्मण तथा अन्य निचली सभी जातियों में प्रचलित है। निस्संदेह यह आदिम समुदाय के किसी अंश से, संभवतः उत्तरी समुदायों के आगमन के बाद, ग्रहण किया गया होगा। यह पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान का एक उदाहरण है। आधुनिक क्षेत्र-कर्मी लगभग सभी पुरुष होते हैं जिनसे आदिवासी या निम्न जातियों की स्त्रियाँ अपने विशेष रीति-रिवाजों की चर्चा कभी नहीं करेंगी, बल्कि अपरिचित आगंतुकों को वे शायद ही कभी ये बातें बतायें। अन्यथा इन सब रस्मों के बारे में हमारी जानकारी कहीं अधिक होती। तब कुछ जनजाति समूहों की प्रारंभिक भाषा का पता चलना भी सम्भव हो जाता, जो प्रायः पुरुषों की बजाय स्त्रियों की बोलचाल और रीति-रिवाजों में अधिक जीवित रहती है। आमतौर पर भारतीय स्त्रियों में प्राचीन चिह्न देर तक रहे आते हैं, जबकि पुरुषों में कबीले या जाति से बाहर के लोगों से अधिक सम्पर्क होते रहने के कारण बहुदेशीय प्रवृत्तियाँ अधिक

दिखायी पड़ती हैं ।

सुपरिचित धार्मिक प्रथाओं की जड़ें भी आदिम और प्राग्-ऐतिहासिक अतीत में खोजी जा सकती हैं । वसंत ऋतु के होली के त्यौहार की, जो आजकल अश्लील और भ्रष्ट आमोदोत्सव हो गया है, मुख्य विशेषता है आग के चारों ओर नृत्य । कहीं-कहीं इसके बाद कुछ चुने हुए लोगों के अंगारों पर चलने की भी प्रथा है । पर हर जगह अगले दिन सार्वजनिक अश्लीलता का और दूर के स्थानों में निरंकुश यौनाचार का भी, खुल्लमखुल्ला प्रदर्शन होता है । प्राग्-ऐतिहासिक युग में आहार कम मिलता था, जीवन कठोर था और संतानोत्पत्ति बहुत सहज न थी । अश्लीलता उस समय प्रेरणा के लिए आवश्यक थी । उसमें भ्रष्टता तो बेहतर आहार और कृषि के लिए अधिक श्रम से उत्पन्न आधुनिक परिवर्तन है, जिसके फलस्वरूप कामेच्छा और उसके संबंध में दृष्टिकोण में पूरी तरह परिवर्तन आ गया । होली के त्यौहार की कुछ विशेषताएँ तो प्राग्-ऐतिहासिक मातृतंत्री अवस्था तक जाती हैं । कुछ स्थानों में एक पुरुष को (जिसे कोलीना कहते हैं) स्त्रियों के कपड़े पहनकर होली के चारों ओर नृत्यों में शामिल होना पड़ता है । बेंगलूर के वार्षिक करगा उत्सव में मुख्य व्यक्ति को शामिल होने के पहले स्त्रियों के वस्त्र पहनने पड़ते हैं । यही बात पश्चिमी भारत के बटेर पकड़ने वाले पारधियों में उनके प्रजनन संबंधी मंत्रों और उबलते हुए तेल की रस्म के संबंध में है । ये रस्में और त्यौहार मूलतः केवल स्त्रियों के थे जिन्हें बाद में पुरुष मनाने लगे । इसी प्रकार मातृ देवी के उपवनों का उल्लेख ब्राह्मण कथाओं और आख्यानों में मिलता है । ऐसे उपवन सड़कों से दूर गाँव में अब भी पाये जाते हैं । पर उनमें अब आमतौर पर स्त्रियों का प्रवेश वर्जित है; इसके कुछ अपवाद ऐसे ही उदाहरण हैं जहाँ पुरोहित का पद आदिम लोगों के हाथ में ही है, बाहर से आकर बसनेवाले किसानों को हस्तांतरित नहीं हुआ है । आरंभ में निषेध पुरुषों के प्रवेश का था । जब समाज मातृतंत्री से पितृतंत्री हुआ तो पुरोहित पद और कर्मकांड भी उसी के अनुरूप बदल गये ।

गाँव के देवताओं के सूक्ष्म अध्ययन से भी बहुत-सी बातों का पता चल सकता है । अधिकांश देवता सिंदूर, तेल या अन्य किसी लाल रंग से पुते मामूली पत्थर के टुकड़े मात्र होते हैं । यह रंग रक्त का स्थानापन्न है । वास्तव में विशेष अवसरों पर आज भी इन अधिकांश देवी-देवताओं के आगे रक्त-बलि होती है । कृषि द्वारा गाँव के अधिक समृद्ध होने और ब्राह्मण पुरोहित के प्रवेश के बाद, ये पूजाएँ कुछ निश्चित संप्रदायों का रूप ले लेती हैं, जैसे वानर देवता हनुमान, हाथी की सूँड़ वाले गणेश, अथवा पिशाचों के राजा बेताल । तब देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगती हैं । इन मूर्तियों में भी उनकी आदिम विशेषताएँ सर्वथा लुप्त नहीं होतीं, पर अंततः उनका पद

बढ़ जाता है और उनके लिए लाल रंग और रक्त-बलि की आवश्यकता नहीं रहती। सभ्यता की इस प्रगति के सभी चरण स्पष्ट देखे जा सकते हैं। आज भी कहीं-कहीं प्राग्-ऐतिहासिक देवता (प्रायः देवी) की पूजा उसके मूल पूजा-स्थान पर या उसके समीप ही होती पायी जाती है, यद्यपि आमतौर पर यह कहना कठिन है कि नाम अभी तक वही चला आता है या नहीं। एक महत्त्वपूर्ण अपवाद है बुद्ध का जन्मस्थान, जहाँ देवी का पिछले २५०० वर्ष से वही (लुम्मिनी-रुम्मिनी) नाम चला आता है। जुन्नार के बारे में कहा जा सकता है कि वहाँ की देवी ईसाई युग के प्रारंभ के समय बौद्ध गुफाओं को काटने के पहले मनमोदि थी, जो एक हज़ार वर्ष बाद बौद्ध धर्म का ह्रास होने पर बिना नाम बदले फिर लौट आयी। बहुत बार पूजा व्यापक और लोकप्रिय होने पर देवता शिव या विष्णु का रूप ले लेता है और देवी पार्वती, लक्ष्मी या अन्य ऐसी ही किसी ब्राह्मण देवी का। सबसे दिलचस्प वे देवियाँ हैं जिनका बड़ा प्रबल तथा अत्यधिक स्थानीय पंथ मौजूद है पर जिनके नाम की व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता : मेंगाइ, मांधराइ, सौंगजाइ, उदालाइ, कुंभलजा, झंझनी इत्यादि। नाम के अंत में 'आइ' ध्वनि का अर्थ माता है। ऐसे नाम प्रायः किसी विलुप्त जनजाति या कुलसमूह के सूचक हैं। पेरनेम के समीप बोलहाइ देवी की पूजा आज भी एक प्राग्-ऐतिहासिक लघु-पाषाण स्थल पर होती है (यद्यपि गायकवाड़ों के समृद्ध राजघराने ने वहाँ से कोई मील भर की दूरी पर एक सुंदर मंदिर बनवाकर इस महत्त्वपूर्ण लघु-पाषाण स्थल को नष्ट कर दिया है)। नाम बारहवीं शताब्दी तक पुराना हो चुका था और शायद उसका उद्गम कन्नड़ भाषा से है। किन्तु किसी सार्वभौम मातृदेवी का कोई प्रश्न नहीं उठता। यदि कोई स्थानीय पंथ फैल जाये तो उसका कारण प्रायः लोगों का देशान्तरण ही होता है। बोलहाइ के मुख्य अनुयायियों के नाम के साथ, जो सब अब साठ किलोमीटर दूर पर एक ही गाँव में रहते हैं, वाजी (घोड़ा) पद लगता है। यह माना जाता है कि देवी कुछ डाकुओं (कोरा) के साथ चली गयी, जो निश्चित रूप से यह सूचित करता है कि वह बहुत दिनों तक किसी नामहीन जाति की संरक्षिका थी। इस क्षेत्र की आबादी में इतने आवागमन और परिवर्तन हुए हैं कि यह आवश्यक नहीं कि उसकी लघु-पाषण राशि पर प्राग्-ऐतिहासिक काल से निरंतर ही पूजा होती रही हो। पर इस बात की हमेशा स्मृति बनी रहती है कि कुछ प्रकार के स्थान और पत्थर आधिभौतिक शक्तियों से, देवताओं अथवा राक्षसों से सम्बद्ध है, देवता और राक्षस दोनों को ही सुरक्षा के लिए पूजा चढ़ानी पड़ती है। घटना प्रायः कुछ इस प्रकार होती है : किसी किसान को स्वप्न में किसी देवी (या कभी वेताल अथवा मृत संबंधी के प्रेत) के दर्शन होते हैं। यदि उस देवी अथवा शक्ति-विशेष का मंदिर या स्थान पहले से मौजूद है, तो वह किसान आमतौर पर उस स्वप्न की पुनरावृत्ति से बचने के लिए कोई बलि चढ़ाता

है (आजकल एक नारियल अथवा पक्षी से या बहुत आवश्यकता होने पर बकरे से काम चल जाता है)। प्रेतात्मा के संतोष के लिए अन्त्येष्टि संबंधी पत्थर भी लगाया जाता है। पर कभी-कभी देवी किसी नये स्थान में स्वप्न में दर्शन देती है। यदि उस वर्ष फ़सल बहुत अधिक अच्छी हुई हो तो उस जगह देवी की मानता होने लगती है जिसे उस किसान का परिवार चलाता है। ऐसी देवी की मूर्ति का काम प्रायः लाल रंग से पुरे मामूली पत्थर मात्र से (तांदला अर्थात् चावल के दाने जैसा) चल जाता है। या कोई उभरी हुई अनगढ़ मूर्ति भी स्थापित की जा सकती है जो अपनी रचना की तिथि से पाँच हज़ार वर्ष प्राचीन दीख पड़े। उसकी पूजा को बनाये रखने का भार उस परिवार पर ही होता है, पर यदि किसी संकट, अकाल या महामारी के समय वह पूरे समुदाय की 'रक्षा' कर दे तो उसकी पूजा पूरे गाँव में फैल सकती है। विचित्र बात यह है कि पूजा के ऐसे नये स्थान बहुत बार किसी प्राग्-ऐतिहासिक देवता के स्थल पर होते हैं जहाँ लघु-पाषाण उपकरणों अथवा महा-पाषाणों पर खुदी हुई आकृतियों की राशि भी पायी जाती है। कुछ ही दिन पहले मैंने अपने कुछ मित्रों को, जो पूना के पास जंगल में वेताल की पूजा करते हैं, एक उपेक्षित लघु-पाषाण राशि दिखायी थी। फलस्वरूप बीस या तीस शताब्दियों से संपूर्णतः विस्मृत और विलुप्त पूजा को उन्होंने तुरंत फूल और लाल रंग द्वारा अपने ढंग से फिर से जीवित कर दिया। अब यह पूजा ज़ोर-शोर से चलती है और उसका आधुनिक नाम, वहाँ मिले हुए पत्थर पर उत्कीर्ण आकृति की शिव के नंदी से कल्पित समानता के आधार, पर नंदी पड़ गया है।

भारतीय जीवन में आदिम अवशेष और भी बहुत-से सहज ही दिखाये जा सकते हैं। रजस्वला स्त्री को छूना पुरुष के लिए वर्जित है, आकस्मिक स्पर्श होने पर भी स्नान द्वारा पवित्र होना और अपने सारे वस्त्र धोना आवश्यक समझा जाता है। मासिक धर्म के दिनों में स्त्री को सबसे अलग भी रहना पड़ता है। ये निषेध आधुनिक शहरी जीवन में मिटते जा रहे हैं। गोंधली पेशेवर पुजारियों की एक जाति है जो विशेषकर देहाती अनुष्ठानों में अपने खास संगीत और गान के साथ दीर्घकालीन तुमुल कोलाहलपूर्ण नृत्य करते हैं। उनका नाम और लगता है कि ११०० ईस्वी से पहले यह नृत्य-गीत का प्रदर्शन भी आदिवासी गोंडों से निकला है। यह संबंध अब विस्मृत हो चुका है। बहुत-से गांवों में अब भी एक खंभे के ऊपर एक सीढ़ी (बगाड़) से लोहे या इस्पात के हुकों में लोगों को झुलाने का रिवाज है। इस प्रकार झुलाये जाने का विशेषाधिकार कुछ प्रमुख परिवारों तक सीमित रहता है। आजकल हुक को कमरबंद या पेटी में अटकाया जाता है; पिछली शताब्दी तक (और बहुत थोड़े-से गांवों में आज भी) हुक को वास्तव में कमर के पुट्ठों में अट-

काया जाता था। यह लौह-युग की रस्म जान पड़ती है, और बहुत संभव है ऐसा ही हो। पर कुछ क्षेत्रों में यह पूर्ववर्ती मानव-बलि के बदले में और भी प्राचीन युग से चला आता है। इसके लिए जिस व्यक्ति को चुना जाता—और यह विशेषाधिकार एक-दो विशेष कुलों के लोगों के लिए आरक्षित था—उसे कुछ समय के लिए देवता माना जाता और फिर उसका सिर काटकर स्थायी देवता के आगे विशेष पटिया पर रख दिया जाता।

ऐसा सब काम अंधविश्वासों के अध्ययन रूप में मनोविज्ञान और समाजविज्ञान के क्षेत्र में आता है। अधिक गूढ़ देवताओं और पूजाओं का अध्ययन और भी गहरे स्तर पर किया जा सकता है। उच्चतर देवताओं की एक या अधिक पत्नियाँ, बच्चे—कभी-कभी गणेश-जैसे अर्ध-पशु भी—और सेवक होते हैं जो भूत-पिशाच भी हो सकते हैं। देवता विभिन्न पशुओं या पक्षियों पर सवारी करते हैं जो कभी कबीलाई टोटेम रहे होंगे। देवता, परिवार और सेवक-मंडली एक ऐतिहासिक घटना है जो उन विभिन्न जनजातियों में से एक मिला-जुला समाज उदय होने का सूचक है जो पहले एक नहीं थीं। ऐसे एकीकरण को उचित ठहराने के लिए ब्राह्मण ग्रंथों में (पुराणों में जिनके अत्यन्त प्राचीन होने का दावा किया जाता है पर जो सामान्यत: छठी और बारहवीं शताब्दियों के बीच रचवाये या फिर से लिखवाये गये थे) विशेष रूप से गढ़ी गयी कल्पकथाएँ संगृहीत हैं। उसके बाद गहन धर्मशास्त्र और देवताओं के सामंतवादी दरबार की अगली अवस्था आती है। फिर इसके स्थान पर दार्शनिक व्याख्याओं, रहस्यवाद और शायद सामाजिक सुधार का युग आरम्भ होता है। भारत के विशेष धार्मिक चिन्तन की मुख्य अवस्थाएँ यही हैं। दुर्भाग्यवश आंतरिक संगति और तर्क का तत्त्व इस 'चिन्तन' में बहुत ही विरल है; वह न कभी यथार्थ का सामना करता है और न साधारण तथ्यों का स्पष्ट विवरण ही देता है। मूलत: भिन्न देवताओं को संयुक्त करने की प्रक्रिया निरन्तर नहीं है; उसकी देश भर में विभिन्न स्थानीय पंथों और उनके अनुयायियों के आत्मसात होने के साथ-साथ समानांतर पुनरावृत्ति होती रही। देवताओं का संगठन मोटे रूप में समकालीन मानव-समाज के संगठन का ही अनुसरण करता रहा।

इन पंथों के साथ-साथ जो लोग आत्मसात हुए वे अपनी अलग विशिष्टता, और किसी हद तक अपनी पूर्ववर्ती कुलगत भिन्नता, बनाये रख सके। यह जाति द्वारा संभव हुआ और बेकार ब्राह्मणों ने सदा इसके लिए प्रोत्साहन दिया ताकि वे उस समूह के पुरोहितों का काम पा सकें। ये जाति-समूह साधारणतः अन्य जातियों के हाथ का पका भोजन नहीं खाते और न आपस में विवाह संबंध ही करते हैं। वास्तव में इस संबंध को कभी-कभी 'रोटी-बेटी व्यवहार' भी कहते हैं जो एक

प्रकार का विनिमय संबंध है। यह ठीक विवाह-संबंध करने वाले समूह के भीतर अतिरिक्त खाद्य के आदिम विनिमय के समतुल्य है (प्राचीन रोम में विवाह का सबसे सुदृढ़ रूप था 'कानफारीशियो', जिसका शब्दार्थ है दम्पति द्वारा रोटी का विनिमय और तोड़ना। सहभोजिता की बंधनकारी शक्ति 'कंपेनियन' शब्द से भी प्रकट है : 'कान' = के साथ, 'पानिस' = रोटी, यही बात आधुनिक फ्रेंच भाषा में 'गहरे दोस्त' के लिए 'कोपां' शब्द की व्युत्पत्ति से प्रकट है)। सिद्धान्ततः जाति को संयुक्त रखता है ब्राह्मण का शीर्षस्थ स्थान, जिसके हाथ का बना खाना सब खा सकते हैं, पर जिसकी बेटी का विवाह केवल ब्राह्मण से ही हो सकता है। उत्पादन का बंधन बदलता रहता था, पर बंधन था अवश्य। **जाति उत्पादन के आदिम स्तर पर वर्ग की सूचक है।** बहुत बार यह बन्धन केवल किसान परिवारों के बीच होता है जो सब एक-दूसरे के संबंधी होते हैं और एक साथ खेती करते हैं। पर बहुत-सी जातियाँ अलग-अलग धंधों की मध्ययुगीन श्रेणियों की पर्याय थीं, जैसे टोकरी बनाने वाले, जड़ी-बूटी बेचनेवाले (वैदू) खोदनेवाले (वड़डर), मछुवे। इनमें से कुछ लोग आज भी विलग ग्रामजीवन के साथ ही मध्य युग में जीवित रहने का प्रयास करते हैं। ऐसी बहुत-सी जातियों का कबीलाई मूल ज्ञात हो चुका है, जैसे बंगाल और बिहार में मछुवों के लिए कैवर्त, महाराष्ट्र में भोई। बहुत बार टोटेम संबंधी विशेषताएँ भी दिखाई पड़ती हैं। ऊपर उल्लेखित वाजी के कुलीय गाँवों के समानान्तर ऐसे भी गाँव हैं जहाँ के प्रत्येक मूल निवासी का एक ही कुलनाम है : मगर, लांडगे, मोर, पिंपड़ (पीपल) की व्याख्या आवश्यक नहीं। मूल जो भी हो, कुछ टोटेम संबंधी प्रथाएँ अब भी चली आती हैं। उदाहरण के लिए, मोर लोग मोर का मांस नहीं खा सकते; पिंपड़ लोग पीपल की पत्तियों में नहीं खा सकते, और किसी समय जलाने के लिए उसकी डालें काटने की भी मनाही थी, यद्यपि ईंधन की कमी के कारण यह निषेध समाप्त हो चुका है। उत्तर-वैदिक ब्राह्मण कुल पैप्पलाद (पीपल का फल खानेवाले) का नाम भी इसी प्रकार पड़ा था।

ऐतिहासिक स्थिति यह है कि एक प्रायः सीमाहीन परिवेश में, जिसमें आहार-संग्रहकों की बहुत हलकी-सी आबादी थी, आहार-उत्पादक समाज का धीरे-धीरे विस्तार हुआ। आहार-उत्पादक समाज में जन-वृद्धि स्वभावतः बड़ी तेजी से हुई और इसलिए उसने अधिकाधिक अछूते प्रदेशों को बसाया। आहार-उत्पादकों की गतिविधियाँ बढ़ने पर उत्पादकों और संग्रहकों के बीच संपर्क होना अनिवार्य था, फिर वह चाहे युद्ध द्वारा हो चाहे किसी प्रकार के विनिमय द्वारा। प्रत्येक आहार-संग्रहक समूह संख्या में बहुत छोटा था, पर विभिन्न कबीलों की विविधता अनंत थी। जहाँ कृषि से प्रति वर्ग किलोमीटर में सौ निवासियों का पालन हो सकता है, वहाँ

तीसरा अध्याय

सर्वप्रथम नगर

सिंधु संस्कृति की खोज

पिछले दो अध्यायों में भारत में उत्संस्करण के स्वरूप पर विचार किया गया। आज देश के निवासियों में बड़ी भारी संख्या किसानों की है; वे और बचे-खुचे कबीलों के लोग युगों से एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं। बेहतर आहार मिलने के कारण संख्या में वृद्धि से और कबीलाई जीवन के विघटन के कारण बाह्य रूप में, किसानों के टेढ़े-मेढ़े, यद्यपि कुल मिलाकर सतत विकास का बिना किसी कठिनाई के पता लगाया जा सकता है। उसकी रूपरेखा स्पष्ट है, यद्यपि प्रत्येक प्रदेश में ठीक-ठीक क्रम या तिथि का सदा पता नहीं चलता। अब शहरी जीवन के उदय और विकास का प्रश्न बचता है। अंततः सभ्यता का अर्थ है किसी संपूर्ण देश के जीवन की प्रमुख विशेषता के रूप में शहरी, नागरिक जीवन की रचना। यद्यपि आधुनिक भारतीय नगरों की स्थिति एक विदेशी उत्पादन पद्धति के कारण है, भारत में यंत्रयुग से बहुत पहले, और सामंती युग से पहले भी नगर मौजूद थे। प्राग्-ऐतिहासिक युग में से उनका विकास कैसे हुआ?

एक पीढ़ी पहले तक स्वीकृत मान्यता यह थी कि थोड़े-बहुत भी महत्त्व के नगर भारत में पहले-पहल ईसा-पूर्व पहली सहस्राब्दी में प्रकट हुए। यह माना जाता है कि ये नगर उन पशुपालक यायावर आर्यों के वंशजों ने बनाये, जिन्होंने आक्रमण-कारी कांस्ययुगीन जनजाति के रूप में उत्तर-पश्चिम से भारत में प्रवेश किया।

ई० पू० १५०० से १००० के कुछ बाद तक वे आपस में, और पंजाब के कुछ आदिवासियों के साथ, लड़ते रहे। फिर धीरे-धीरे गांगेय प्रदेश में नागरिक जीवन और सभ्यता की स्थापना हुई। इस पुरानी धारणा के अनुसार पहला सचमुच महान् भारतीय नगर पटना रहा जान पड़ता है। किन्तु इस सबका अनुमान अधिकांशतः प्राचीनतम संस्कृत ग्रंथों, मंत्रों और कथाओं से लगाया गया था जो सब कल्प-कथाओं और किंवदंतियों के स्तर की थीं। १९२५ ई० में पुरातत्त्वविदों ने ऐसे बड़े-बड़े नागरिक भग्नावशेषों की अपूर्व खोज की घोषणा की जिनका प्राचीन साहित्य में कोई उल्लेख तक न मिलता था। मुख्य भग्नावशेष दो नगरों के थे, जो दोनों ही ईसा-पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में अपने उत्कर्ष काल में शायद एक वर्ग मील क्षेत्र में फैले होंगे। दोनों ही सिंधु नदी की द्रोणी में थे और दोनों महत्त्वपूर्ण नदियों के किनारे बसे थे। इनमें से एक स्वयं सिंधु नदी पर दक्षिण की ओर एक उजाड़ टीले पर बसा था जो सिंधु में मोहेंजोदाड़ो के नाम से ज्ञात है। दूसरा हड़प्पा पश्चिमी पंजाब में सिंधु की एक बड़ी सहायक नदी रावी पर है। इन नदियों ने अब अपनी धाराएँ बदल ली हैं जैसाकि ऐतिहासिक काल में प्रायः होता रहा है, क्योंकि वे गहरी रौसली मिट्टी के प्रदेश में से बहती हैं। इन नगरों के मकान कई मंज़िलों के बड़े-बड़े और भली-भाँति पकी हुई ईंटों से सुदृढ़ बने हुए थे, जिनमें उत्तम स्नानघर और पाख़ाने-जैसी सुविधाएँ उपलब्ध थीं। उनके बड़ी संख्या में उपलब्ध बरतन-भांडे बहुत बढ़िया और तेज़ चाक पर बने हुए हैं, यद्यपि उनकी सजावट बहुत अच्छी नहीं है। सोना, चाँदी, जवाहरात तथा नष्ट सम्पत्ति के अन्य प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं। इमारतों की बनावट अपूर्व है, और वे आरंभ में २०० × ४०० गज़ के चौकोर क्षेत्रों में बनायी गई हैं जिनके साथ चौड़ी मुख्य सड़कें और अच्छी गलियाँ हैं। इतने प्राचीन युग में इतनी सावधानी से संयोजित ऐसा जटिल और उत्तम नागरिक संगठन और कहीं नहीं मिलता। मिस्र के नगर स्थापत्य की दृष्टि से उनके सम्राटों के पहाड़ी मकबरों और विशाल देवालयों की तुलना में नगण्य हैं। सुमेर, अक्कद, बावेरू (बेबीलोन) में सिंधु घाटी के नगरों से मिलते-जुलते ईंटों से बने नगर मिलते हैं, पर वे धीरे-धीरे विकसित हुए। इन सभी में, जिस प्रकार रोम, लंदन, पैरिस में और इसी प्रकार परवर्ती भारतीय नगरों में, सड़कें देहाती पगडंडियों की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी होती थीं। सिंधु घाटी के नगरों में सचमुच आश्चर्यकारी स्तर की नगर-योजना मिलती है। समकोण पर मिलती हुई सीधी सड़कों के अतिरिक्त वर्षा का पानी निकालने के लिए उच्चकोटि की जल-निकास व्यवस्था थी और नालियों को साफ़ करने के लिए मलकुंड थे। आधुनिक युग तक अन्य किसी भारतीय नगर में ऐसी कोई सुविधाएँ न थीं; बहुतों में आज भी नहीं हैं। बड़ी-बड़ी अनाज की खत्तियाँ थीं जो इतनी बड़ी हैं कि व्यक्तिगत अधिकार में नहीं रही

हो सकतीं। उनके पास ही नियमित आकार की पट्टियों पर छोटे-छोटे रहने के घर बने हुए हैं जिनमें अनाज को कूटने या भरनेवाले विशेष वर्ग के मजदूर या दास रहते होंगे। पर्याप्त व्यापार के भी प्रमाण मिले हैं जिसमें से कुछ समुद्र पार से भी रहा होगा।

इस खोज का यह परिणाम हुआ कि प्राचीन भारतीय इतिहास के संबंध में समस्त पूर्ववर्ती धारणाओं में संशोधन आवश्यक हो गया। भारत का सांस्कृतिक विकास किसी सीधे तर्कसंगत क्रम से नहीं हुआ, बल्कि उसमें बड़ी रुकावट और पशुचारण अवस्था की बर्बरता की ओर प्रत्यावर्तन दिखाई पड़ता है जिसका कारण समझ में नहीं आता। हड़प्पा जैसे बड़े शहर के होने से प्रकट होता है कि उसको पालनेवाला कोई क्षेत्र मौजूद था जहाँ यथेष्ट अतिरिक्त आहार-उत्पादन होता था। शहर साधारणतः सत्ता का केन्द्र भी हो जाता है, अर्थात् एक या एक से अधिक शहर का होना राज्य का अस्तित्व भी सूचित करता है। कुछ लोग अतिरिक्त खाद्य का उत्पादन करते थे, जिसे कुछ ऐसे अन्य लोग ले जाते थे जो स्वयं उत्पादन चाहे नहीं करते हों, पर जो कार्य का संयोजन, निर्देशन और नियंत्रण अवश्य करते होंगे। इसका यही अर्थ है कि बहुतों के ऊपर थोड़े व्यक्तियों के शासन पर आधारित वर्ग-विभाजन और श्रम-विभाजन के बिना प्राचीन युग में कोई शहर नहीं चल सकता था। पर फिर ऐसा शहर कोई उत्तराधिकारी या चिह्न छोड़े बिना मिट क्यों गया? उसके टूटने पर उसके प्रत्यक्ष प्रभाव में या उसकी प्रतिद्वन्द्विता में अन्य शहरों का उदय होना चाहिए था। ईराक़ में नगरों के विजेता उन पर अधिकार जमाये रहते थे। बावेरू का महान् शासक और विधिदाता हम्मूरबी (ई० पू० सातवीं शताब्दी) ऐसे ही विजेताओं में पैदा हुआ था जो प्रारंभ में बर्बर थे। यही मिस्र में हुआ। नागर संस्कृति की यह अपेक्षित निरंतरता भारत में नहीं मिलती।

ईराक़ की खुदाई के अन्य अवशेषों की तुलना से यह स्पष्ट है कि तीसरी सहस्राब्दी में इन नगरों तथा विदेशों में इनके-जैसे नगरों के बीच व्यापार होता था। सिंधु घाटी की नागर संस्कृति की अवधि मोटे तौर पर ई० पू० ३००० से २००० तक मानी जा सकती है। अधिक-से-अधिक १७५० ई० पू० के बाद शीघ्र ही इसका अंत हो गया। अंत के पहले धीरे-धीरे विघटन का लंबा युग रहा, पर वास्तविक अंत अचानक ही हुआ। मोहेंजोदाड़ो में तो नगर में आग लगाकर निवासियों की हत्या कर दी गयी, और इस हत्याकांड के बाद वहाँ लोगों का रहना नहीं के बराबर रह गया। हड़प्पा में अनुरूप प्रमाण बहुत अपर्याप्त हैं क्योंकि ऊपर के स्तर नष्ट हो चुके हैं। वहाँ की सामग्री (अधिकतर ईंटें) आधुनिक इमारतों के लिए, और इससे भी कहीं अधिक रेलों के लिए, सस्ते मलवे के रूप में, हटायी जा चुकी हैं। बलपूर्वक अंत होने
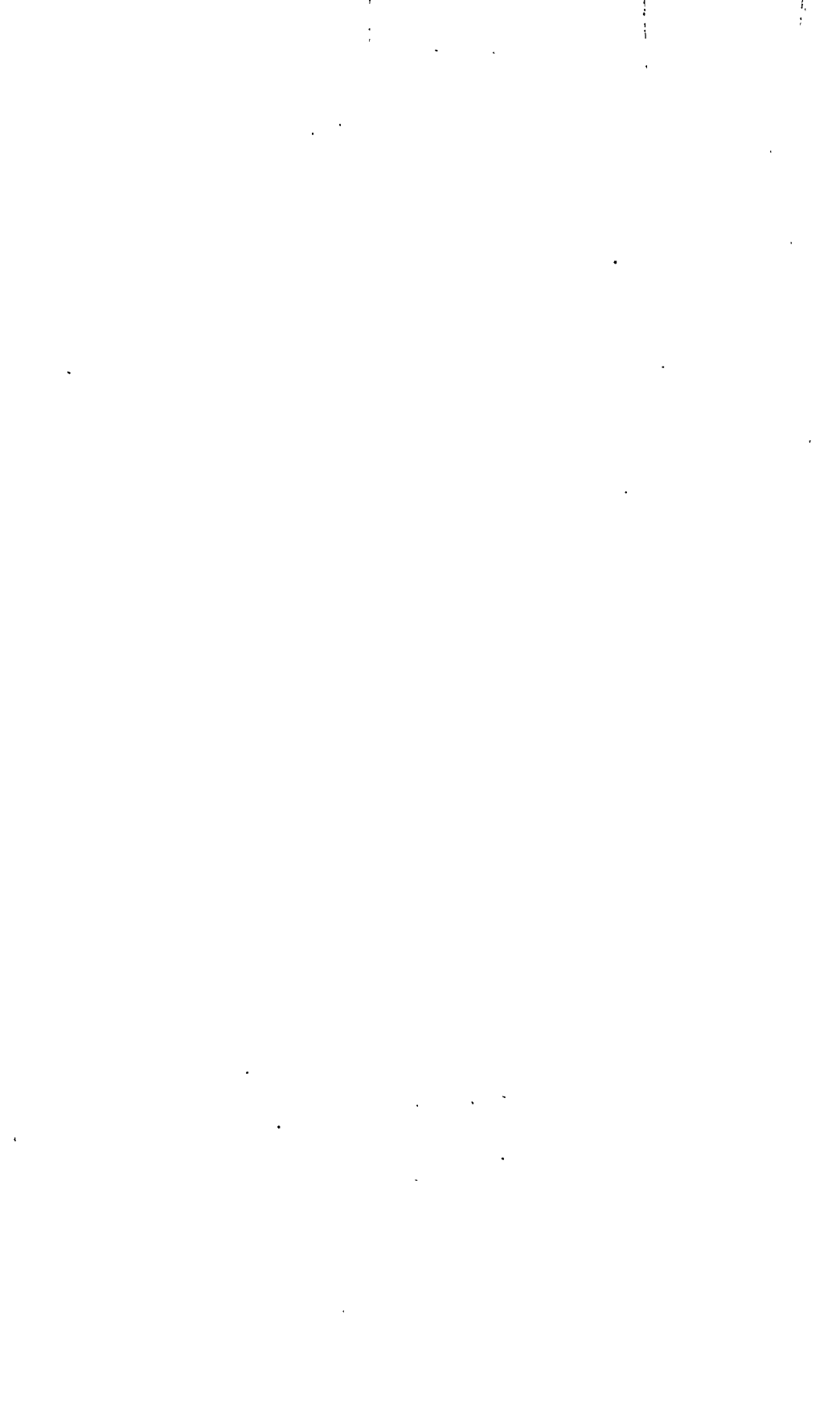
के इन प्रमाणों से पुराने संस्कृत ग्रंथों के उन आलंकारिक वर्णनों की सार्थक व्याख्या संभव हो गयी जहाँ कहा गया है कि शत्रुओं को युद्ध में नष्ट कर दिया गया, उनके भंडार लूट लिये गए और नगर जला दिये गए। इस भाँति जिसे कांस्य युग और ईसा-पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में प्राचीन भारतीय संस्कृति का पशुचारण प्रारंभ समझा जाता था, वह वास्तव में कहीं प्राचीन, और निश्चित रूप में श्रेष्ठतर, नागर संस्कृति के ऊपर बर्बरता की विजय थी। ऐतिहासिक प्रगति को नवीन प्रेरणा मिलने के बजाय उसके मार्ग में सामान्यत: अपेक्षित बड़ी भारी रुकावट आ गयी थी।

इतिहासकार के लिए इससे बड़ी विचित्र समस्या खड़ी हो जाती है। सिंधु-घाटी के कई अभिलेख अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। इसके अतिरिक्त ये अभिलेख मोहरों पर अंकित संक्षिप्त विरुद और बरतनों पर कुछ चिह्न भर ही हैं। इनकी लिपि अभी तक अज्ञात है और पढ़ी नहीं गयी है। पढ़ी गयी होती तो भी उससे प्राप्त जानकारी कुछ व्यक्तियों के नामों, शायद व्यापारिक संस्थाओं और एक-दो देवताओं के नामों तक ही सीमित रहती। समस्त प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व से प्राप्त सामग्री का लिखित दस्तावेज़ों, अभिलेखों इत्यादि से मिलान करने पर ही आधारित है। यहाँ सिंधु घाटी में पुरातत्त्व का कार्य तो व्यापक रूप से हुआ है, पर कोई सम्बद्ध दस्तावेज़ अभी तक नहीं पढ़ा जा सका है। किसी भी उपलब्ध वस्तु से एक भी व्यक्ति अथवा घटना का संबंध नहीं जोड़ा जा सका है। हम यह भी नहीं जानते कि वे लोग कौन-सी भाषा बोलते थे। दूसरी ओर इस हज़ारों वर्षों की संस्कृति को पूरी तरह नष्ट कर देनेवाले बर्बर आक्रमणकारियों ने प्राय: कोई पुरातत्त्व-राशि नहीं छोड़ी है। इस भाँति प्राचीन संस्कृत लेखों का कई निर्णायक बातों में कोई निश्चित अर्थ नहीं निकल पाता क्योंकि कई महत्त्वपूर्ण शब्दों को विशिष्ट स्थानों या पदार्थों से जोड़ना संभव नहीं। कुछ शब्दों को तो समझना भी असंभव है। सिंधु सभ्यता के अंत और नये तथा कहीं अधिक छोटे भारतीय नगरों के प्राचीनतम प्रारंभ के बीच, ६०० वर्ष का स्पष्ट व्यवधान है, जहाँ से ऐतिहासिक युग निर्बाध आरंभ हो जाता है। नष्ट करनेवाले और नष्ट होनेवाले दोनों ही इस उप-महाद्वीप के कोने में, आज के पश्चिमी पाकिस्तान में, सक्रिय रहे। बाकी देश में आहार-संग्रहकों की बहुत हलकी-सी आबादी थी, जो अपने-अपने ढंग से छोटे-छोटे पाषाण-युगीन कबीला-समूहों में रहते थे। भारत के मुख्य सांस्कृतिक विकास के प्रारंभ और ईसा-पूर्व दूसरी तथा तीसरी सहस्राब्दियों के भारतीय इतिहास-लेखन की संभावना, दोनों की बड़ी गहरी क्षति हुई है।

सिन्धु-संस्कृति में उत्पादन

साधारणत: सिंधु-संस्कृति की इस मूलभूत विशेषता पर लोगों का ध्यान नहीं

जाता कि वह भारत के उपजाऊ और सुविकसित भागों में नहीं फैल सकी। उसका क्षेत्र बड़ा तो था पर विशेष प्रकार का था, जो उत्तर से समुद्र-तट तक कोई एक हज़ार मील तक और शायद उतना ही समुद्र के किनारे पश्चिम की ओर फैला हुआ था। इस संस्कृति की व्यापारिक चौकियों अथवा छोटे-छोटे उपनिवेशों का क्रमशः पता चल गया है; वे गुजरात में खंभात (कैम्बे) की खाड़ी से लगाकर मकरान तट पर सुटकागेन डोर तक दूर-दूर पर बिखरे हुए हैं। शेष भारत की तुलना में यह सारा प्रदेश सूखा है। यह संभव है कि पुराने समय में जलवायु कुछ बेहतर रही हो, पर बहुत बेहतर नहीं। यह अन्तर सहज ही आधुनिक युग में अधिक जंगल कटने के कारण हो सकता है। इस उप-महाद्वीप में पहला विशाल नागर-विकास ऐसी नदीके किनारे क्यों हुआ जो प्रायः मरु प्रदेश में होकर बहती है ?

इस प्रश्न का उत्तर बहुत सीधा है। नदी पानी के लिए और एक मुख्य खाद्य मछली के लिए आवश्यक है। बाद में वह दूर-दूर तक नाव द्वारा भारी सामान ले जाने का भी बड़ा सहज साधन बन जाती है। इससे पहले चरण में आदिम आबादी की वृद्धि में सहायता मिलती है। रौसली रेगिस्तान भी अपने ढंग से उतना ही महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है कि प्रारम्भिक आबादी नदी के किनारे की पट्टी तक सीमित रहती है। एक अवस्था और सीमा के बाद आहार-संग्रह असंभव हो जाता है, जंगल अधिक-से-अधिक घास-फूस मात्र रह जाता है; पर इस असुविधा के बदले दो बड़ी भारी सुविधाएँ भी मिलती हैं। एक तो घने भारतीय जंगलों की अपेक्षा इन स्थानों में जंगली पशुओं, खतरनाक साँपों और कीड़े-मकोड़ों से रक्षा का इतना प्रबंध नहीं करना पड़ता। दूसरे, कृषि न केवल आवश्यक हो जाती है बल्कि घने जंगलों को काटे बिना ही संभव भी हो जाती है। सफ़ाई के लिए आग से काम चल सकता है और पत्थर के औज़ार भी काफ़ी होते हैं, जबकि वास्तविक मानसून-पोषित भारतीय जंगलों में धातु—लोहा—प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुए बिना खेती नहीं हो सकती। रौसली मिट्टी में यदि नियमित रूप से सिंचाई होती रहे तो उसके उपजाऊपन की तुलना नहीं। यह सब सिद्ध करना बहुत सरल है। विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ ठीक ऐसी ही नदियों के किनारे से पनपीं : नील और तिग्रा-उफ़ातु समूह दोनों ही बहुत शुष्क परिवेश में हैं। डेन्यूब तट की प्राग्-ऐतिहासिक संस्कृतियों और चीनी सभ्यता के प्रारम्भिक केन्द्रों को भी चारों ओर के रौसली मरुस्थल जैसी ही उत्तम परिस्थिति उपलब्ध थी, जैसे (हल्के जंगलोंवाले) पीली चिकनी मिट्टी के गलियारे जो खेती के लिए यथेष्ट उपजाऊ थे। अमेजन और मिसिसिपी जैसी विशालतम नदियों के किनारे प्राग्-ऐतिहासिक युग में सभ्यताएँ नहीं पनपीं। अमेज़न तट के जंगल आज भी इतने घने हैं कि उन्हें काटकर साफ़ करना बहुत लाभदायक नहीं।

और अमरीका के मध्य-पश्चिमी प्रदेश के ढेले इतने मोटे हैं कि इस्पात के भारी हल के आगमन के पहले वहाँ खेती करना संभव न था। इसी के अनुरूप भारत की पवित्र नदी गंगा के किनारे या आस-पास, ईसा-पूर्व पहली सहस्राब्दी तक, जब सिंधु घाटी के लोगों की स्मृति तक विलीन हो चुकी थी, कोई महत्त्वपूर्ण नगर नहीं बस सके थे।

सिंधु घाटी की संस्कृति काँस्य युग की है। यद्यपि चकमकनुमा बिल्लौर के उत्तम पतरों का छुरी तथा घरेलू औज़ारों के लिए प्रयोग होता था, पर हड़प्पा और मोहेंजो-दाड़ों में प्रयुक्त सबसे अच्छे औज़ार काँसे के ही थे, जो मज़बूत भी होते थे और कारगर भी; ताँबे के नहीं, असली काँसे के जो ताँबे और राँगे के साथ कुछ-कुछ अन्य धातुओं के मिश्रण से बनता है। ताँबे की खनिज मिट्टी राजस्थान से आती थी और इतनी मात्रा में उपलब्ध थी कि धातु का निर्यात पश्चिम को किया जा सके। यह निष्कर्ष बावेरू के तथा अन्य पूर्ववर्ती लेखों से निकलता है। सिंधु प्रदेश और ईराक के बीच विनिमय की बड़ी व्यापारिक मंडी फारस की खाड़ी में बहरीन द्वीप में थी। ईराक़ की गाथाओं का तिलमून यही है। अमर पौराणिक सुमेरवासी नोह ज़िउसुद्द ने प्रलय-प्लावन से बच निकलने पर यहीं दिन बिताये थे और यहीं उसे अमरता के रहस्य की खोज में भटकते वीर गिलगमेश ने खोज निकाला था। कील की आकृतिवाली मिट्टी की पट्टियों पर अलिक तिलमून नामक विशेष व्यापारी-वर्ग द्वारा बहरीन से व्यापार करने का उल्लेख है, जिसकी आधुनिक खुदाई द्वारा पर्याप्त पुष्टि हो चुकी है, यद्यपि लगभग एक लाख कब्रों के टीले अभी खुलना बाकी हैं। सिंधु के नगरों और ईराक़ में प्राप्त कुछ गोल मोहरों का प्रारम्भ बहरीन में हुआ जान पड़ता है। बाद में व्यापारी असीरी राजा की विशेष सुरक्षा और साझेदारी में व्यापार करने लगे, जो मुनाफ़े का बड़ा हिस्सा ले लेता था, पर जो उनका सबसे बड़ा ग्राहक भी रहा होगा। जान पड़ता है कि ईराक़-निवासी सिंधु प्रदेश को मेलुह कहते थे। मेलुह के सारे उल्लेख ईसा-पूर्व १७५० के आसपास बन्द हो जाते हैं, जिसका अर्थ है कि तब तक व्यापारिक संबंध, शायद आक्रमणकारियों के कारण टूट चुके थे। एक कोई अन्य मध्यवर्ती व्यापार केन्द्र मगान या मक्कान था जिसको ठीक से पहचाना नहीं जा सका है, पर जो शायद बहरीन और भारत के बीच तट पर ही कहीं था।

ताँबे के अतिरिक्त भारतवासी मोर, हाथीदाँत और हाथीदाँत की वस्तुएँ, जैसे कंघे (जो आज भी भारत में उसी नमूने पर बनते हैं जैसे सिंधु-संस्कृति में बनते थे और बालों में से जुएं निकालने के लिए लाजवाब हैं), लंगूर, मोती और कपास के वस्त्रों का निर्यात करते थे। बदले में वे चाँदी तथा अन्य वस्तुएँ लेते थे जिनका ठीक-ठीक स्वरूप अभी तक अज्ञात है। ईराक़ी खुदाई में जो भारतीय मुद्राएँ और अन्य वस्तुएँ मिली हैं उनसे अनुमान होता है कि उस समय भी मेसोपोटामिया में भारतीय

व्यापारियों की छोटी पर सक्रिय बस्ती अवश्य रही होगी। भारत में उसकी जवाबी बस्ती या तो रही नहीं या इतनी प्रमुख नहीं रही। सिंधु घाटी में ईराक़ी मोहरों से प्रभावित जो थोड़ी-सी मोहरें मिली हैं वे विशुद्ध स्थानीय पद्धति पर बनी हैं। संचार का साधन समुद्र द्वारा था और नावें उस घातक विपदपूर्ण किनारे पर एक अनोखी नौचालन व्यवस्था से चला करती थीं। किनारा आँखों से ओझल होने पर नाविक एक कौवा उड़ाते थे जो किनारे के समीपतम स्थल की ओर उड़ता था। ठीक यह उपाय बाइबिल में नोह ने किया है, जब उसने यह जानने के लिए कि भूमि किस दिशा में है, एक कौवा उड़ाया और फिर इस बात का पक्का पता लगाने के लिए कि भूमि उपजाऊ है, एक पालतू कबूतर छोड़ा। ईराक़ में फ़ारा नामक स्थान की खुदाई में एक मोहर मिली है जिस पर एक ऐसी ही नाव के साथ दिशा दिखानेवाला पक्षी अंकित है। भारतीय कथाओं से भी यह ज्ञात होता है कि दिशा दिखाने के लिए कौवे का उपयोग होता था। एक जातक कथा में व्यापारियों द्वारा बावेरू की ठीक ऐसी ही सागर-यात्रा का उल्लेख है। ईराक़ में कौवे का ज्ञात न होना यह समझने में सहायक हो सकता है कि उसके साथ भारत के व्यापार के कोई प्रमाण क्यों नहीं मिलते।

ऊपर निर्यात की जिन वस्तुओं का उल्लेख किया गया वे विलास-सामग्री की कोटि में आती हैं। खाद्य पदार्थों का उत्पादन देश में ही होता था। गेहूँ, चावल, जौ उस प्रदेश में आज भी उसी प्रकार होते हैं जैसे वे उस सुदूर अतीत में होते थे जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं। सिंधु तथा उसकी सहायक नदियों में मछली सदा बहुतायत से होती रही है। इस नदी द्रोणी की मिट्टी आज तक बहुत उपजाऊ है। सिंधु घाटी की मोहरों में दो प्रकार के मवेशियों के चित्र हैं—उत्तम कूबड़वाले और विशेष भारतीय 'ज़ेबू' (ककुदमान) प्रकार के, तथा सपाट पीठवाले, 'उरुस' प्रकार के जो अब भारत से लुप्त हो चुके हैं। गैंडा, हाथी, मेढ़ा और बहुत-से संयुक्त प्रकार के पशु भी दिखाये गए हैं। यह दलील सही नहीं है कि इस प्रदेश में वर्षा अधिक होती थी और तब बहुत-से जंगली पशु विचरण करते थे। गैंडा तो पंजाब में सोलहवीं शताब्दी में भी पाया जाता था और उसका शिकार होता था। हिमालयी हाथी सामंती युग में लुप्त हो गया। किन्तु सिंधु-सभ्यता की अर्थव्यवस्था में गैंडे का कोई महत्त्व न था और हाथी को शायद तब तक पालतू नहीं बनाया जा सका था। पानी में रहनेवाला भैंसा, जो अब भारत में इतना अधिक पाया जाता है, सिंधु-सभ्यता की कुछ ही मोहरों पर अंकित मिलता है। एक मोहर पर वह एक से अधिक शिकारियों को उछालता हुआ अंकित है, इसलिए तब तक संभवतः पालतू नहीं हो पाया था। किंतु इन मोहरों का उद्देश्य अपने समय के पशु-जीवन अथवा सामान्य जीवन के चित्रण से भिन्न था। एक मोहर पर पशुओं से घिरे हुए तीन मुखवाले एक देवता का चित्र है जो परवर्ती

पशुपति शिव का आदिरूप है। कुछ अन्य मोहरों में भी ऐसी दैवी आकृतियाँ अंकित हैं। एक मोहर पर पाल, चप्पू, परिचालक लंबे डाँड अथवा पतवार सहित जहाज़ अंकित है। दो मोहरों पर दोनों हाथों से एक-एक व्याघ्र का गला घोंटते हुए एक वीर की पुराकालीन तथा विशेष भारतीय प्रकार की आकृति है, जो सिंहों का गला दबाते हुए सुमेरियन गिलगमेश से ली गई है। वृषभ-मानव एनकिडु भी, जो ईराक़ में बहुत-से कारनामों में गिलगमेश का साथी था, सिंधु-सभ्यता की एक मोहर पर पहचाना जाता है। प्रसंगवश इससे भारत और ईराक़ के बीच संपर्क भी प्रमाणित होता है। इस भाँति इन मोहरों की कुछ धार्मिक सार्थकता थी। वे छाप लगाने की मोहरें हैं, ईराक़ की मोहरों की भाँति मिट्टी पर फेरने की बेलनाकर मोहरें नहीं। ऐसी मोहरों का उद्देश्य माल की पेटियों अथवा भरे हुए कलशों को सुरक्षित रखना था। चीन की भाँति ईराक़ में भी उनका उपयोग दस्तावेज़ों पर हस्ताक्षर के लिए भी होता था; पर सिंधु घाटी के नगरों में ऐसे हस्ताक्षरयुक्त दस्तावेज़, चाहे मिट्टी की पटिया हो चाहे अन्य प्रकार के, नहीं प्राप्त हुए हैं। माल की गठरियों अथवा मर्तबानों को ढँककर उन पर रस्सी लपेटी जाती थी और गाँठों पर मिट्टी का पलस्तर चढ़ाकर फिर उसे मोहरबंद कर दिया जाता था। आज यदि मोहरें टूटी न हों तो इससे केवल यही प्रमाणित होगा कि गठरियों में कोई हेरफेर नहीं हुआ है। प्राचीन युग में, मोहर किसी-न-किसी प्रकार के निषेध की सूचक होती होगी जिससे माल सुरक्षित रहे। वास्तव में, भारत में प्राप्त बहुत-सी मोहरों की छापों पर पीछे रस्सियों, गाँठों अथवा सरकंडों के कोई निशान नहीं मिलते, इसलिए वे शायद किसी पेटी पर लगायी नहीं गयी होंगी। सुमेरिया में विशेष आनुष्ठानिक मोहरें भी होती थीं (जो व्यावसायिक मोहरों से आकार में बड़ी होने की दृष्टि से ही भिन्न हैं), जो धार्मिक अनुष्ठानों में काम में आती थीं। ये सब मोहरें प्रायः उसी आकार के छोटे-छोटे खुदे हुए पत्थर के टुकड़ों से निकली हैं जो यूरोप के हिमयुगीन कलाकारों के लिए 'ख़ाके बनाने के कागज़ों का काम देते थे, जिनको देखकर, यद्यपि कहीं बड़े पैमाने पर, वे बाद में अँधेरी गुफ़ाओं में गवल अथवा अन्य पशुओं का यथार्थ चित्र अंकित करते होंगे। अनुलिपि की प्रक्रिया का कुछ विशेष आनुष्ठानिक उद्देश्य और अभिप्राय था। यद्यपि बाद में समाज में आलंकारिक मोहर का उपयोग पूजा अथवा जनन-संबंधी कृत्य के बजाय अन्य उद्देश्यों के लिए किया, फिर भी उसका मूल आभिचारिक आशय ईसा-पूर्व पहली सहस्राब्दी तक नष्ट नहीं हुआ था।

सिंधु घाटी संस्कृति की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता—उनकी अनाज पैदा करने की विशेष पद्धति—को फिर से निर्धारित कर सकना बड़ा आवश्यक है। यह केवल मिस्र और ईराक की दो समानान्तर नदी-घाटी संस्कृतियों से तुलना द्वारा ही संभव है। सिंधु द्रोणी में केवल दो भव्य नगर थे, मोहेंजो-दाड़ो और हड़प्पा। अन्य सभी बस्तियाँ
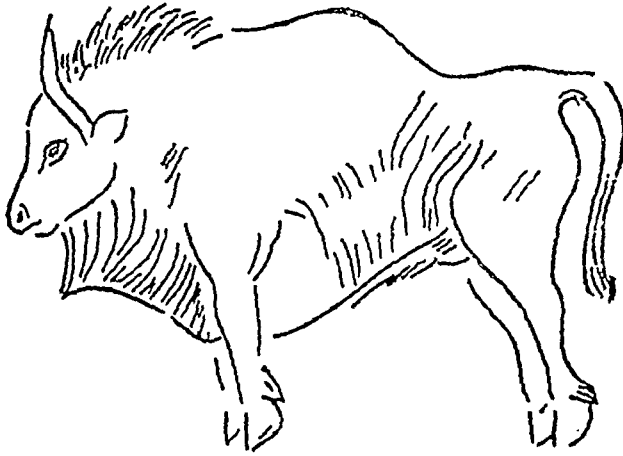
चित्र ६. ला लौजेरी बासे में प्राप्त उत्तर-फ्रांसीसी हिमयुग के गवल का कलाकार का 'रूपरेखा पटल'। इन रूपरेखाओं की सुनिश्चित अनुकृति में, किंतु कहीं बड़े पैमाने पर, पशुओं के चित्र चुनी हुई भूमिगत कन्दराओं में मिले हैं। ये चित्र जिन स्थानों में मिलते हैं वे 'रूपरेखाओं' से और एक-दूसरे से कोई दो सौ किलोमीटर दूर हैं। ऐसे खुदे हुए रोड़ों से सिंधु घाटी की मुहरें बस एक ही चरण आगे हैं।

अथवा उनके अवशेष तुलना में बहुत छोटे हैं। ऐसी छोटी बस्तियाँ भी संख्या में निश्चय ही आशा से कम हैं। मिस्र में नील नदी के प्रथम प्रपात और मुहानों के दलदल भरे डेल्टा के बीच की सँकरी घाटी प्राचीन युग की सघनतम ज्ञात आबादी का पालन करती थी। नदी की ७५० मील की लंबाई के किनारे कोई दस हज़ार वर्ग मील से भी कम ज़मीन पर सबसे आदिम पद्धतियों से खेती द्वारा रोमन युग में सत्तर लाख की आबादी का भरण-पोषण होता था। साथ ही, इतना अनाज बच जाता था कि उसका रोम नगर और भूमध्य सागर के अन्य भागों के साथ व्यापार किया जा सके। नील नदी की घाटी की चौड़ाई उजाड़ पथरीली चोटियों के बीच ३० मील से अधिक नहीं है; खेती के योग्य रौसली भूमि की चौड़ाई कहीं १० मील से अधिक नहीं है। किंतु यह रौसली मिट्टी हर वर्ष नील नदी की भारी बाढ़ों द्वारा नई होती रहती है, उसके संपूरण के लिए तो मिस्र में वर्षा प्रायः नहीं के बराबर है। ईराक़ में तीसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध में खेती नहरों द्वारा सिंचाई पर आधारित थी। सिंधु द्रोणी से अपेक्षाकृत छोटे और कम उपजाऊ क्षेत्र में एक दर्जन से अधिक प्रमुख और बहुत-से छोटे-छोटे नगर बसे थे। प्रत्येक नगर और उसके भीतरी प्रदेश का अपना अलग राज्य था और अपने अलग उद्योग-धंधे और व्यवसाय थे। प्रायः ये नगर एक-दूसरे से लड़ते रहते थे। सिंधु घाटी में फ़रओहों के भव्य स्मारकों अथवा ईराक़ के कुछ बहुसंख्यक नगर-टीलों आदि के बिना केवल दो ही बड़े नगर क्यों रहे?

इसका उत्तर यह जान पड़ता है कि सिंधु घाटी के लोगों में नहर से सिंचाई का चलन नहीं था और न उनके पास भारी हल ही था। इन दो आधुनिक विशेषताओं के कारण ही सिंध और पंजाब में कृषि की वर्तमान स्थिति है। केवल बाढ़ द्वारा सिंचाई से बहुत खेती नहीं हो सकती, यद्यपि जहाँ बाढ़ उपजाऊ गाद जमा कर जाती है वहाँ गहरी जुताई के बिना भी उपज बढ़िया होती है। इस भाँति हेंगे या पटरे को सिंधु-सभ्यता का आम भावमूलक प्रतीक माना जा सकता है (जिसे कभी-कभी उँगलियों सहित हाथ भी कहा जाता है), जबकि हल का प्रतीक नहीं मिलता। इस प्रदेश में अब केवल पाँच बड़ी नदियाँ हैं, इसीलिए इसका नाम 'पंजाब', पाँच नदियों का प्रदेश, पड़ा। प्राचीन काल में सात बड़ी नदियाँ थीं; उनमें से दो, घग्घर और सरसुती, सूख चुकी हैं। सिंधु नदी की प्राकृतिक बाढ़ें आज तक चली आती हैं। बाढ़ से सींची हुई भूमियाँ आज भी सबसे उपजाऊ हैं, यद्यपि बाढ़ से जमा होनेवाली गाद मिस्र की अपेक्षा छिछली और कम उर्वर है। ऐसा जान पड़ता है कि सिंधु घाटी के लोगों ने बाढ़ से प्रभावित क्षेत्र का विस्तार कर लिया था, नहरों के द्वारा नहीं, बल्कि बहाव को रोकनेवाले बाँधों के द्वारा। ये बाँध कभी-कभी मौसमी होते थे। फ़सल से प्राप्त अतिरिक्त अनाज को मुख्य नदियों द्वारा दो प्रमुख राजधानियों को भेजा जा सकता था, जहाँ पर तैयार और वितरण करने का काम धान्यागार करते थे। इस अतिरिक्त उपज से ही व्यापारी और जहाज़ियों का, आलीशान इमारतों और ग़रीब बस्तियों में रहनेवालों का, घरेलू उपयोग और विदेशों में बिक्री के लिए चीज़ें तैयार करनेवाले कारीगरों का, और नगर को निवास-योग्य बनाये रखनेवाले निचली श्रेणी के लोगों का, भरण-पोषण होता था। जान पड़ता है कि यह अतिरिक्त अनाज नगरों के आरंभ से लगाकर क़रीब-क़रीब उनके अंत तक प्रायः एक-सा ही बना रहा। सिंधु-संस्कृति में मिस्र की भाँति कोई नये शहर अथवा राजवंशों के कोई सुविज्ञापित परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ते, और न गंगा की घाटी के उतने ही उर्वर यद्यपि वनाच्छादित मैदानों में कोई वास्तविक, व्यापक विस्तार ही पाया जाता है।

सिंधु-सभ्यता की विशेषताएँ

अब समस्या उन पद्धतियों के बारे में कुछ तर्कसंगत अटकल लगाने की है जिनके द्वारा अतिरिक्त अनाज पैदा करनेवालों से वसूल किया जाता था। इसके लिए इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि ईसा-पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में मिस्र और ईराक़ में होनेवाले परिणामों से सिंधु घाटी के शहर किस प्रकार भिन्न हैं। फिर इन भिन्नताओं की व्याख्या द्वारा सिंधु घाटी समाज की रूपरेखा को फिर से निर्धारित करने का एक उपाय हो सकता है।

पहले सूत्र का उल्लेख किया जा चुका है—बड़े-बड़े परिवर्तनों का अभाव। ऐसा लगता है जैसे दोनों नगर पूरी तरह संयोजित रूप में प्रकट हुए हों। जहाँ तक पता चला है, दोनों की रूपरेखा एक-सी है। दोनों में कोई भी उस युग की समाप्ति के पहले नहीं बदला। मिट्टी के बर्तन, औज़ारों के प्रकार और मोहरें भी एक-सी रहीं। वर्ण-माला भी गतिहीन रही; भारत का ऐतिहासिक युग इस बात में सर्वथा विपरीत है, जिसमें अक्षरों का रूप प्रत्येक शताब्दी में इतना बदलता रहा कि पांडुलिपियों तथा अभिलेखों के तिथि-निर्धारण के लिए लिपि एक उत्तम उपाय—कभी-कभी तो एकमात्र उपाय—जान पड़ता है। इन नगरों का भूमितल निरंतर ऊँचा होता गया। मोहेंजो-दाड़ो में निरंतर बाढ़ों से ऊपर रखने के लिए घर की निचली मंज़िलें भर दी जाती थीं, और फिर उनके ऊपर नयी मंज़िलें बनायी जाती थीं। कुछ मकान प्राकृतिक कारणों से गिर जाते होंगे तो उनके मलवे को समतल करके उसके ऊपर नयी इमारत बना ली जाती थी। सड़कों की सतह भी ऊपर उठती रहती थी। फिर भी सड़कों का ख़ाका वही रहता था, बस घरों को उन्हीं दीवारों पर अथवा कमरों के उसी ढाँचे पर बहुत कम परिवर्तनों के साथ थोड़ा और ऊपर उठा दिया जाता था। कुएँ ईंटों के प्रारंभिक अस्तर पर इतने ऊँचे बनाये जाते थे कि आज खुदाई गहरी करने पर वे कार-ख़ानों की चिमनी जैसे जान पड़ते हैं। युग की समाप्ति के दिनों में ही ह्रास और अव्यवस्था के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। घटिया मसाले से अनगढ़ ढंग से बने हुए कुछ ऊपरी स्तरों के मकान सड़कों को दबाते हुए बने हैं; इसका अर्थ है कि नगर की वह बस्ती-विशेष तब तक ढह चुकी थी। बरतनों के आँवे अब नगरों की सीमा के भीतर प्रकट होने लगे, जो पहले किसी चरण में नहीं दीख पड़ता। ईंटों के भट्टे कहीं नहीं मिलते; नगरों की समृद्धि के हज़ार वर्षों में ईंटें कहीं दूर स्थान पर बनायी जाती थीं जहाँ ईंधन आसानी से मिलता हो, और फिर गाड़ियों या नावों से राजधानी में लायी जाती थीं। इमारती लकड़ी बड़ी-बड़ी नदियों के रास्ते हिमालय से आती थी। परवर्ती मकानों में कुछ पुरानी सामग्री का धूप में मिट्टी की सुखाई गई बिना पकी ईंटों के साथ फिर से उपयोग किया गया है। सिंधु घाटी की सहस्राब्दी में मिस्र में एक दर्जन पूरे राजवंश हुए; सुमेर पर अक्कद ने विजय प्राप्त की; सर्गन महान् ने एक-एक साम्राज्य की स्थापना की जो उसके उत्तराधिकारियों के हाथों में नष्ट हो गया। इस युग में ईराक़ के प्रत्येक नगर की रचना में महत्त्वपूर्ण भिन्नताएँ प्रकट हुईं, भारतीय नगरों में नहीं।

दूसरे, सिंधु घाटी के नगरों में एक संभाव्य अपवाद को छोड़कर, वैसे कोई सार्व-जनिक स्मारक या प्रदर्शन नहीं मिलते जैसे दो समानांतर संस्कृतियों में पाये जाते हैं। कोई विशाल सभाभवन नहीं मिलता, यद्यपि मोहेंजो-दाड़ो में ७० मीटर लंबा खंभों-

दार गलियारे या मंडपयुक्त भवन शायद सार्वजनिक काम में आता हो। कोई ज्ञात शिलालेख, कोई स्तंभ-चिह्न अथवा मूर्तियाँ, किसी प्रकार की कोई सार्वजनिक आज्ञप्तियाँ नहीं मिलतीं। कुछ शानदार इमारतों की दीवारें अच्छी तरह पकी हुई ईंटों की बनी हैं और सात फ़ीट मोटी हैं, जिसका अर्थ है कि ये घर कई मंज़िलों के होते थे। पर कोई भी इमारत बाक़ी इमारतों पर उस तरह हावी नहीं जान पड़ती, जैसे अन्य समसामयिक नदी मातृक सभ्यताओं में राजमहल अथवा मंदिर से सम्बद्ध भवन-समूह पाया जाता है। जहाँ तक दीख पड़ता है इन नगरों में सड़कों की ओर दीवारें ख़ाली और सजावटहीन हैं। पच्चीकारी, भित्तिचित्र, चमकीले खपरे, विशेष रूप से ढाली गई प्रतिमायुक्त ईंटें, गचकारी, यहाँ तक कि सजावटी द्वार भी यहाँ नहीं मिलते। घर में प्रवेश साधारणत: बगल की गली में से एक ऐसे सँकरे द्वार से होता था जिसे आसानी से सुरक्षित रखा जा सके। दूसरे शब्दों में, इन इमारतों के भीतर की सम्पत्ति का वैसा दिखावा नहीं होता था जैसा मंदिरों में या सैनिक विजय के वैभव-प्रदर्शन में पाया जाता है। साथ ही संचित निधियाँ असामाजिक तत्त्वों अथवा लुटेरों से काफ़ी सुरक्षित न थीं। नगरों में शासन करनेवाली सत्ता के पास भरोसे का आरक्षक प्रबंध न था।

इससे तीसरा विशेष लक्षण सामने आता है— बल-प्रयोग की विचित्र रूप से कच्ची व्यवस्था। मोहेंजो-दाड़ो में प्राप्त अस्त्र-शस्त्र वहाँ के उत्तम औज़ारों की तुलना में कहीं अधिक कमज़ोर हैं। भाले पट्टी के बिना और पतले हैं; उनकी नोक पहले ज़ोरदार आघात में ही मुड़ जायगी। तलवारें बिलकुल नहीं मिलतीं। मज़बूत चाकू या कुठार अस्त्र नहीं, औज़ार हैं। धनुर्धारी भावलिपि का प्रतीक तो बन गया है, पर तीरों के फलक काँसे के नहीं, पत्थर के मिलते हैं। लोगों पर शासन करनेवाली सत्ता जो भी हो, वह बहुत बल-प्रयोग के बिना ही काम चलाती थी। प्रत्येक नगर के एक किनारे पर एक दुर्ग का टीला है, जिसकी हड़प्पा में परवर्ती युग में क़िलेबंदी भी की गयी। उसके पहले वह एक दस मीटर ऊँचे कृत्रिम चबूतरे पर बना क़िलेबंदी रहित भवन-समूह मात्र था, जिसके दोनों ओर रपटे बने होते थे। ये रपटे आनुष्ठानिक उपयोग के लिए सुविधाजनक होते हुए भी सुरक्षा की दृष्टि से बेकार हैं।

सिंधु घाटी में परिवर्तन का अभाव केवल आलस्य अथवा रूढ़िवादिता से कहीं अधिक गहरे कारणों का परिणाम था। वह जान-बूझकर सीखने से इंकार के कारण था, जबकि नये परिवर्तनों से बहुत सुधार हुआ होता। व्यापारीवर्ग निश्चय ही बाबेल और सुमेर में नहरों द्वारा सिंचाई से परिचित रहा होगा। सिंधु क्षेत्र के हवाईजहाज़ों द्वारा लिये गये किसी चित्र में सिंचाई के आधुनिक साधनों के अतिरिक्त कोई नहरें नहीं दिखाई पड़तीं। वे लोग काँसे की खुली ढलाई की मामूली कुल्हाड़ी ही व्यवहार करते रहे, यद्यपि लकड़ी के हत्थे के लिए खाँचे या छेदवाली कुल्हाड़ी और बसूले

बनाने की योग्यता निश्चय ही सिंधु घाटी सभ्यता के कारीगरों में मौजूद थी। इस कोटि के औज़ारों के नमूने केवल सबसे ऊपरी सतहों में ही मिलते हैं और निर्विवाद रूप से उत्तर-पश्चिम के आक्रमणकारियों के हैं जिनकी (भारत से बाहर की) कब्रों में ऐसे औज़ार पाये जाते हैं। यही बात तलवार-जैसे अधिक सक्षम हथियारों के बारे में है जो सब सिंधु-सभ्यता में अज्ञात हैं।

एक-दो शताब्दी में ही ऐसे नगरों का आकस्मिक निर्माण और पूरा होना, जिनके कोई पूर्ववर्ती उदाहरण नहीं मिलते और जिन्हें एकदम शुरू से शुरू किया गया, इस बात का सूचक है कि उनकी प्रेरणा बाहर से आयी थी। इन नगरों की दीर्घकालीन परिवर्तनहीन स्थिरता से यह प्रगट होता है कि उनका रूप स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप था। उनका विकास इतना द्रुत है कि सिंधु घाटी क्षेत्र के पश्चिम और उत्तर-पश्चिम में बलूचिस्तान में पाये जानेवाले प्राग्-ऐतिहासिक गाँवों से उनका क्रमशः उदय संभव नहीं जान पड़ता। बलूची जैसे मिट्टी के बरतन हड़प्पा नगर के ठीक नीचे तो मिलते हैं, पर स्वयं नगर में नहीं। आप्रवासी नगर-निर्माताओं ने बड़ी संख्या में आक्रमण नहीं किया था। सिंधु घाटी का निर्माण और सामान्य शिल्प विशिष्ट और विचित्र रूप में अपना अलग है, सुमेरिया जैसी किसी अन्य विशाल नागर संस्कृति से उधार लिया हुआ नहीं। साथ ही सिंधु घाटी की स्थानीय पद्धतियों से बनी हुई एक-दो पुराकालीन (गिलगमेश-एन्किदू) सुमेरी प्रकार की मोहरों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। यों स्वयं सुमेरी लोग भी मूलतः तिग्रा-उफ़ातु नदियों के किनारे रहनेवाले नहीं थे; वे मूलतः किसी पहाड़ी क्षेत्र से आये थे। उनके प्रमुख देवालय ७० फ़ीट या उससे भी अधिक ऊँचे ज़िगुरतों, अर्थात् मिट्टी की ईंटों के चबूतरों पर बने हुए हैं, जो वास्तव में कृत्रिम पहाड़ियाँ ही हैं। ईराक़ी नगरों की सबसे निचली सतहों (हस्सुन) के नीचे प्राप्त प्राचीन मिट्टी के कुछ बरतन तो ईरानी पठार के जारमो-जैसे स्थान के पाँच सहस्राब्दी पुराने किसानों के बरतनों के समान हैं। यही बात मिस्र में है। सुदृढ़ मिस्री राज्यों की सर्वप्रथम स्थापना बाहर से आये हुए लोगों के कारण हुई जान पड़ती है। मिस्र (गेबेल-अलअरक) में प्राप्त असामान्य प्राग्-ऐतिहासिक छुरे का हत्था भी, जिस पर दो सिंहों का गला घोंटता हुआ योद्धा अंकित है, गिलगमेश प्रकार से मिलता-जुलता है। यद्यपि इसका काल नील घाटी के नागर विकास में बहुत प्रारंभिक है, किन्तु उसमें एक भिन्नता यह है कि उसमें सिंह-हंता को ऐसा चोगा पहने दिखाया गया है जैसा मिस्री कभी नहीं पहनते थे। सुमेरी और भारतीय सिंह-हंता एकदम नग्न हैं। कला में ऐसे बाह्य अभिप्रायों से स्पष्ट प्रकट है कि इन महान् संस्कृतियों के बीज बाहर से आये थे। फिर भी जिन तीन नदी-घाटी संस्कृतियों की हमने तुलना की है वे अनुकूल किंतु सर्वथा भिन्न स्थानीय परिस्थितियों के कारण सर्वथा

पृथक् सभ्यताओं के रूप में विकसित हुई।

इसकी सर्वोत्तम व्याख्या शायद निम्न रूप में हो सकती है। इन शक्तिशाली नदी-घाटी संस्कृतियों को जन्म देनेवाले लोग किसी सीमित किन्तु विकसित क्षेत्र या क्षेत्रों से आये थे; सीमित इस अर्थ में कि उनके मूल अज्ञात स्वदेश में विस्तार के लिए और स्थान नहीं रहा होगा; विकसित इसलिए कि इन तीनों महान् प्राचीन सभ्यताओं में कृषि, ईंटें बनाने, घरों के निर्माण तथा उचित समूहीकरण, और कुछ सैनिक प्रविधि का ज्ञान दिखाई पड़ता है। सैनिक प्रविधि की आवश्यकता दो कारणों से होती थी। कभी-कभी जल तक पहुँचने के लिए लड़ाई करनी पड़ती थी। रेगिस्तान में बहनेवाली नदियों की विस्तीर्ण कछारी घाटियों में खेती होने मात्र से ही आहार-संग्रहकों को किसान नहीं बनाया जा सकता था। परिवर्तन की इस समस्या से भारत में भी परवर्ती युगों में बार-बार सामना हुआ। आहार-उत्पादक आहार-संग्रहकों की अपेक्षा सदा अधिक तेज़ी से पैदा होते और बढ़ते हैं तथा अधिकाधिक क्षेत्र पर दखल जमाते हैं। इस कारण दोनों के बीच सशस्त्र संघर्ष होना स्वाभाविक ही है। किसी एक समय अनिवार्यतः यह भी समझ में आ गया होगा कि अधिक मज़दूरों की ज़रूरत को शस्त्र-बल द्वारा, अर्थात् दास बनाकर, जल्दी पूरा किया जा सकता है।

प्रारंभिक संस्कृतियों के संभाव्य उद्गम, अथवा कम-से-कम पूर्व-रूप, ईसा-पूर्व सातवीं सहस्राब्दी में ही, अनातोलिया में सताल ह्यूक में और फिलिस्तीन में जेरिको में मिल जाते हैं। पहले स्थल पर घना बसाया हुआ एक छोटा-सा शहर था जिसमें आक्रमणकारियों को प्रवेश करने से रोकने के लिए सीढ़ियाँ उठा लेने की व्यवस्था थी; बरतन टोकरियों की अवस्था से अभी विकसित ही हो रहे थे। पत्थर की मूर्तियाँ बनायी और पूजी जाती थीं। जेरिको में बर्तनों से पूर्व की लघु-पाषाणीय अवस्था में भी पत्थर के ढोकों से सुरक्षित अनोखा दुर्ग था। यह दुर्ग शहर के झरने की रक्षा के लिए आवश्यक था, जो उस शुष्क प्रदेश में जल का एकमात्र स्रोत था। यह आवश्यक नहीं कि इन दोनों में से कोई भी स्थान नील नदीय, ईराक़ी अथवा सिंधु घाटी सभ्यता का तात्कालिक स्रोत रहा हो। अभी तक कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे प्रत्यक्ष संबंध सिद्ध हो सके। किंतु छोटे पैमाने पर इतने प्रारंभिक खेतिहर समुदायों के ऐसे स्थानों में अस्तित्व में ही जो निरंतर विकास करके बड़े नगर-राज्य बन सकने के अनुपयुक्त थे, वह आवश्यक बीज है जिसने बाद में बढ़कर भव्य नदी-घाटी संस्कृतियों का रूप लिया।

सामाजिक ढाँचा

सिंधु घाटी नगरों में सामाजिक ढाँचे के बारे में कुछ कहने के पहले दोनों

नगरों में समान रूप से पायी जानेवाली एक विशेषता पर ध्यान देना ज़रूरी है। सर्वोत्तम भवन-समूह के पास, किन्तु दस मीटर ऊंचे मिट्टी की ईंटों से बने चबूतरे पर धनी लोगों के घरों से स्पष्टतः पृथक्, 'दुर्ग' का टीला है। यह टीला दोनों जगह एक ही आकार का चौकोर है। हड़प्पा का टीला आधुनिक युग में ईंटों की खदान के रूप में व्यवहार होने के कारण नष्ट हो गया है, और मोहेंजो-दाड़ो में एक अंश पर ईसा की दूसरी शताब्दी का एक बौद्ध-स्तूप अभी तक मौजूद है। यह मानकर कि टीले पर सब भवनों की रूपरेखा और विन्यास एक ही है, यह स्पष्ट है कि इन भवनों का उपयोग मूलतः सार्वजनिक तो था, पर सैनिक नहीं। क़िलेबंदी बाद में हुई। मोहेंजो-दाड़ो भवन-समूह में अभी तक एक बहुत-से कमरोंवाला और मूलतः कई मंजिलों का भवन है। यह एक खुले आँगन के चारों ओर है जिसमें २३ × ३९ फ़ीट का आठ फ़ीट गहरा एक चौकोर तालाब है। इसमें ईंटें बहुत सफ़ाई से लगायी गयी हैं, और तालाब की दीवार में एक बीच की पर्त जलसह डामर की है। दोनों सिरों पर जल तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ हैं जो मूलतः लकड़ी के तख़्तों से बनी थीं। संभवतः तालाब को सफ़ाई के लिए ख़ाली करने के लिए पानी निकालने की एक उम्दा नाली बनी हुई है। इस 'स्नानागार' को भरने के लिए पानी आँगन से लगे कमरों में से एक में बने कुएँ से परिश्रमपूर्वक निकाला जाता था। बाकी कमरों में जो दरवाज़े बने हैं वे आमने-सामने नहीं हैं; कुछ में सीढ़ियाँ बनी हैं जो ऊपर की मंज़िल या मंजिलों तक जाती हैं। यह 'विशाल स्नानागार' केवल स्वच्छता के लिए ही नहीं बना होगा, क्योंकि प्रत्येक मकान में भी उम्दा स्नानागार और कुएँ हैं, और सिंधु नदी दुर्ग के टीले के पास से ही बहती थी। अवश्य ही यह स्नानागार किसी ऐसे जटिल धार्मिक संस्कार के लिए रहा होगा जिसे वहाँ के निवासी महत्त्वपूर्ण मानते थे।

यदि परवर्ती प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित संस्कार संबंधी सरोवरों से इसकी तुलना की जाय तो इस स्नानागार का मूल उद्देश्य भलीभाँति समझा जा सकता है। संस्कृत में वे पुष्कर कहलाते थे—'कमलताल'। ऐसे कृत्रिम सरोवर पूरे ऐतिहासिक युग में बनाये जाते रहे : पहले स्वतंत्र रूप में, बाद में मंदिरों के समीप। आज भी वे इसी उद्देश्य से बनाये जाते हैं। स्पष्ट है कि प्राकृतिक कमलताल से काम नहीं चलता। धार्मिक संस्कार संबंधी स्नान और पवित्रीकरण के अतिरिक्त, ऐसे पुष्कर प्राचीन युग में भारतीय राजाओं और पुरोहितों के अभिषेक के लिए भी आवश्यक होते थे। भारतीय राजा 'अभिषिक्त' होता था, यूरोप की भाँति 'अभ्यंजित' नहीं। इसके अतिरिक्त सीढ़ियाँ (आधुनिक भारतीय घाट) तीर्थ स्थानों में विशेष रूप से पाई जाती हैं। धार्मिक यात्रा के लिए 'तीर्थ' शब्द सूचित करता है कि प्रारंभ में जल को पार करने के लिए घाट उतरना पड़ता था। ये दो विशेषताएँ मोहेंजो-दाड़ो के 'विशाल स्नानागार'
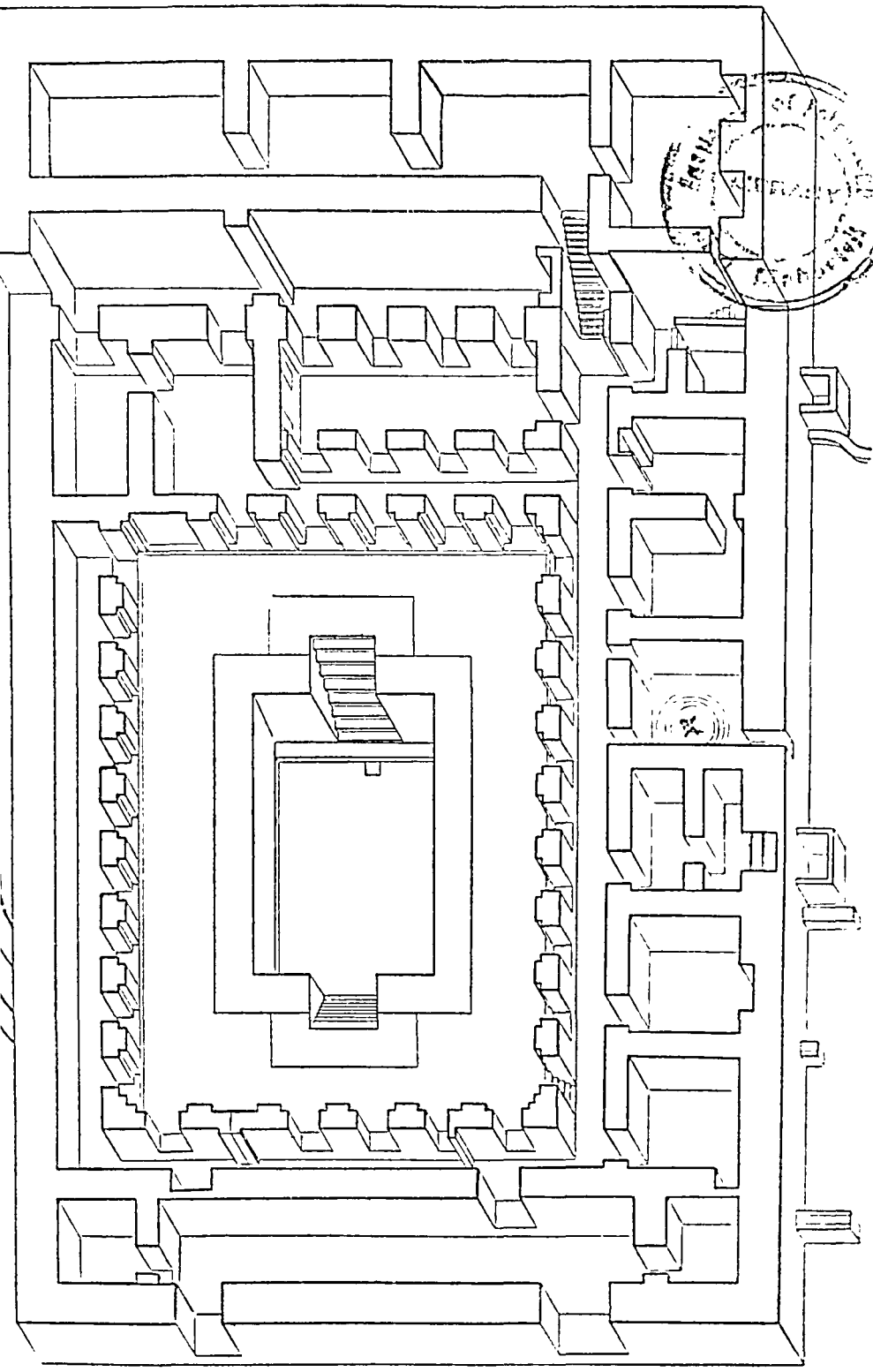
चित्र ७ विशाल स्नानागार, मोहेंजो-दाड़ो बीच में चौकोर तालाब है × चिह्न के स्थान पर कुआँ है। ऊपर नाली है

को परवर्ती भारतीय पवित्र पुष्करों से भली-भाँति जोड़ देती हैं। पर प्राचीनतम उल्लेखों में पुष्कर का एक तीसरा उद्देश्य भी बताया गया है जो उसे आदिम प्रजनन संबंधी संस्कारों से जोड़ता है। ये कमलताल साधारणतः जल में रहनेवाली अप्सराओं के विहार-स्थल माने जाते थे। अप्सराएँ ऐसी अपूर्व सुन्दर मोहिनी स्त्रियाँ होती थीं जो पुरुषों को अपने सम्मोहन से आकर्षित कर लेती थीं और अंत में योद्धाओं को विनाश की ओर ले जाती थीं। ये जल-विहारिणी सुंदरियाँ गीत और नृत्य में भी पारंगत होती थीं। इन उपदेवियों के अलग-अलग नाम थे और वे किसी-न-किसी विशेष क्षेत्र से सम्बद्ध थीं। वहुत-से प्राचीन भारतीय राजवंश किसी-न-किसी अप्सरा के साथ किसी योद्धा के अस्थायी समागम से उत्पन्न माने जाते हैं। अप्सराएँ विवाह करके स्थायी सामान्य गृहस्थ जीवन नहीं बिता सकती थीं। इस बात से मोहेंजो-दाड़ो के विशाल स्नानागार के साथ विचित्र ढंग से बने कमरों के उपयोग पर प्रकाश पड़ सकता है। किसी संस्कार के अंतर्गत न केवल पुरुषों को पवित्र जल में स्नान करना होता था वल्कि साथ ही दुर्ग की अधिष्ठात्री मातृदेवी की प्रतिनिधि परिचारिकाओं के साथ संभोग भी आवश्यक था। यह खींच-तानकर निकाला गया निष्कर्ष नहीं है। सुमेर में इश्तार और बेबीलोन में भी ऐसी प्रथाएँ थीं जिनमें प्रमुख परिवारों की लड़कियों को भी भाग लेना पड़ता था। स्वयं देवी इश्तार एक साथ ही चिरंतन कुमारी और वारांगना दोनों ही थी --मातृदेवी, किन्तु किसी देवता की पत्नी नहीं। वह नदी की देवी भी थी। वास्तव में दुर्ग का टीला ईराक़ी ज़िगुरात का ही सिंधु घाटी में प्राप्त प्रतिरूप था। मातृदेवी के प्रमाण छोटी-छोटी किन्तु डरावनी मिट्टी की मूर्तियों में मिलते हैं जिनमें स्त्रियों को ऐसे पक्षियों के मुखौटे पहने दिखाया गया है जिसने उनके सिर को पूरी तरह ढँक रखा है। ये मूर्तियाँ सिंधु सभ्यता-पूर्व गाँवों के खंडहरों और दोनों शहरों में मिलती हैं। वे केवल खिलौने या गुड़िया नहीं हैं, वल्कि किसी ऐसी देवी की मूर्तियाँ हैं जो जन्म और मृत्यु की अधिष्ठात्री थीं। उसकी अधिक वड़ी प्रतिमाएँ आवश्यक न थीं क्योंकि पुजारी उसकी ओर से प्रतिमा के बिना ही सारे आवश्यक धार्मिक अनुष्ठान पूरे कर देते थे।

अव इसकी मिस्र और ईराक़ की स्थिति से तुलना की जा सकती है। मिस्री फ़रओह सिद्धांततः तो दैवी शासक, भूमि का परम स्वामी होता था; पर वास्तव में वह वहुसंख्यक सशस्त्र सामंतवर्ग और उनसे भी विशाल पुरोहित समुदाय के समर्थन से ही राज करता था। उसका शासन संकीर्ण नदी-घाटी में एक आवश्यक कार्य सम्पन्न करता था। खाद्य के अतिरिक्त सभी आवश्यक कच्चा माल—इमारती लकड़ी, धातुएँ आदि --वहुत और कभी-कभी सैनिक प्रयास के साथ आयात करना पड़ता था। आयात के वाद उनका वँटवारा आवश्यक होता था। अलग-अलग गाँव यह नहीं कर पाते, क्योंकि कार्यों और सामग्री के वँटवारे का संचालन झगड़े के विना होना

आवश्यक था। यह संचालन और बँटवारा—तथा आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए आक्रमण और युद्ध—फ़रओह का मूलभूत कार्य था। यही कारण है कि फ़रओह के शासन और स्मृति से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु, जैसे पिरामिड का निर्माण इतने बड़े खर्च से किया गया। सिंधु घाटी में ऐसी कोई वस्तु न होने से यह निष्कर्ष निकलता है कि वहाँ दैवी युद्ध-नेताओं का वंशानुगत शासन न था। इस बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि सिंधु घाटी में कोई राजमहल नहीं पहचान में आता, और वहाँ उपलब्ध अस्त्र-शस्त्र बहुत थोड़े और बहुत ही कमज़ोर हैं। मोहेंजो-दाड़ो या हड़प्पा में किसी महान् विजेता के स्मारक नहीं मिलते। इन दोनों विशाल नगरों को कुछ अँग्रेज़ पुरातत्त्वविद एक साम्राज्य की उत्तरी और दक्षिणी राजधानियाँ मानते हैं—न केवल मिस्र के दृष्टांत पर, बल्कि इस भावना के कारण भी कि इतनी विकसित कोई वस्तु भारत में (अंग्रेजों-जैसे) सुदृढ़ साम्राजी शासन के फलस्वरूप ही हो सकती थी। इस राय पर और टिप्पणी अनावश्यक है।

ईराक़ी संस्कृति सिंधु-सभ्यता के अधिक समीप थी। मिस्रियों की भाँति उन्हें आर्थिक आवश्यकताओं के लिए दूसरों के देश जीतने की कोई आवश्यकता न थी, और न आंतरिक बँटवारे के लिए कोई प्रबल केन्द्रीय सत्ता ही इतनी ज़रूरी थी। ईराक़ की अर्थ-व्यवस्था में (पूर्व और पश्चिम की ओर तथा अफ्रीका के तटवर्ती प्रदेश से) व्यापार कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण योग था। किंतु जहाँ ईराक़ के नगर में बहुत-से मंदिर होते थे, जिनके पास अपनी भूमि होती थी और जो व्यापार में भाग लेते थे, वहाँ सिंधु घाटी के नगर में केवल एक ही ज़िगुरात टीला मिलता है, और आम लोगों के लिए किसी अन्य प्रबल अथवा लोकप्रिय पूजा-स्थल का प्रमाण नहीं पाया जाता, पारिवारिक अथवा गृह-संबंधी पूजा का जो भी स्वरूप हो। ईराक़ के व्यापारीवर्ग के पास भूमि, दास, पशु-धन तथा अन्य सामग्री के रूप में प्रचुर सम्पत्ति होती थी और उनकी प्रमुखता थी; पर उनके भवन सिन्धु घाटी के नगरों की भाँति विशाल और वैभवपूर्ण नहीं हैं और उनकी स्वच्छता संबंधी व्यवस्था बड़ी खराब थी। उनके उत्तराधिकार के नियमों, अनुबंधों, क़र्ज़ों और बंधकों के बारे में बहुत जानकारी मिलती है। पर सिंधु-सभ्यता के कोई दस्तावेज़ नहीं मिलते। निस्संदेह यह पहेली ही है कि सिंधु घाटी के व्यापारियों ने अपने ईराक़ी सहधर्मियों की भाँति, जिनसे उनका व्यापार चलता था, मिट्टी की तख्तियों पर लिखने का ढंग क्यों नहीं अपनाया। उन्होंने बेहतर विदेशी औज़ार क्यों नहीं अपनाये ? खेती के लिए नहरों से सिंचाई और गहरी जुताई का सहारा क्यों नहीं लिया ? उनमें से कुछ ने तो इस पद्धति से उफ़ातु नदी के किनारे उत्तम फ़सल होते देखी ही होगी। इसका यही उत्तर हो सकता है कि सिंधु घाटी के व्यापारी को ऐसे किसी सुधार से कोई लाभ न हो सकता

होगा। इससे निष्कर्ष निकलता है कि भूमि समग्रत: महान् देवालय और उसके पुरोहित-वर्ग की संपत्ति रही होगी और वही सीधे उसकी देखभाल करता होगा। एक वार प्रतिष्ठित होने पर वह भी, प्राचीन युग के अधिकांश पुरोहितवर्गों की भाँति ही, हर नवीनता का विरोध करता होगा। उसके लिए परिवर्तन अनावश्यक था; व्यापारियों के लिए परिवर्तन लाभदायक न था। ईराक़ में एक प्रवल लौकिक शासक होता था, इशक्कु, जो युद्ध के समय नगर की सेनाओं का नेतृत्व करता था और अंतत: दिव्य अथवा अर्ध-दिव्य शासक वन गया था। वह स्वयं अपने नगर में मंदिरों की व्यवस्था में विशेप दखल नहीं देता था, पर विजित नगरों में उसकी मनमानी चलती थी। सिंधु-क्षेत्र में इस प्रकार के किसी राजा का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। राजा का अस्तित्व अपरिहार्य नहीं था। मूल उत्पादक अतिरिक्त अनाज वहुत अधिक वल-प्रयोग के विना ही सौंप देते थे। सिंधु समाज की मूल सैद्धांतिक शक्ति वल या हिंसा नहीं, धर्म थी। यह वात भारतीय समाज के वारे में परवर्ती अन्य कई अवस्थाओं में भी दोहरायी जा सकती है। कभी शांतिपूर्ण धार्मिक गतिहीनता और कभी युद्ध, आक्रमण, विजय अथवा अराजकता का दौर—भारत में ऐतिहासिक क्रम यही था। सिंधु घाटी में धार्मिक गतिहीनता का यह युग लंवा और अडिग बना रहा।

यहाँ सभी व्यापारी अपने विशाल भवनों में अपनी सम्पत्ति जमा करने को स्वतंत्र थे, पर कोई एक भवन इतना विशाल नहीं कि उसे राजमहल कहा जा सके, या वह आकार और महत्व में दूसरों से वहुत अधिक वड़ा हो। इसका अर्थ है कि सिंधु घाटी के व्यापारी पर ईराक़ की तुलना में कर हलके थे और लाभ निश्चित रूप से कहीं अधिक था। कोई राजा न था जो वड़ा हिस्सेदार बनकर अधिकांश मुनाफ़ा हथिया ले। दूसरी ओर सुरक्षा-व्यवस्था या तो थी ही नहीं, या अपर्याप्त थी, और इसलिए प्रत्येक को अपनी और अपनी सम्पत्ति की रक्षा अपने-आप करनी पड़ती थी, जो उस विचित्र निराशाजनक प्रकार के भारी और सपाट स्थापत्य से प्रकट है जिसका पहले उल्लेख हो चुका है। खुदाई किये गये अवशेषों में इस वात के प्रमाण मिलते हैं कि ध्वंस होने के पहले भी शहरों में लुटेरे और डाकू सक्रिय थे। व्यापारियों के दस्तावेज़ कपड़े, तालपत्र, अथवा ऐसे ही किसी नष्ट हो जानेवाले पदार्थ पर रखे जाते होंगे पर सीमित स्थानीय लेन-देन होने के कारण वहुत लिखा-पढ़ी की उन्हें आवश्यकता ही न होती होगी और स्मृति से काम चल जाता होगा। यह वात भी परवर्ती भारतीय समाज की विशेषता वनी रही, जहाँ केवल ज़वानी किये गये अनुवंधों का पूरी तरह पालन किया जाता रहा। विदेशी पर्यवेक्षकों को इस पर सदा आश्चर्य होता रहा है।

अनाज महान् देवालय ही संग्रह करता और वाँटता था। धान्यागार दुर्ग की सम्पत्ति होते थे और दुर्ग के टीले पर ही या उसके आस-पास वनाये जाते थे। अनाज

संबंधी काम करनेवाले पड़ोस के घरों में रहते थे जो एक ही प्रकार के पर बड़े घटिया बने हुए थे। संभव है ये लोग मंदिर के दास हों, वैसे ही जैसे ईराक़ में क़ल्लु (गल्लु) कहलाते थे। देवालय किस हद तक उत्पादन की प्रक्रियाओं में भाग लेता था, यह ज्ञात नहीं, पर विदेशी उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह सहभागिता पूरी-पूरी रही होगी। किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्यापारियों की मोहरों पर कोई देवी अंकित नहीं मिलती। टोटेम के पशु निरपवाद रूप में सब नर हैं। जो थोड़ी-बहुत मानव-आकृतियाँ पहचानी जा सकी हैं, वे सब भी नर ही जान पड़ती हैं। इसका एक कारण संभवतः यह हो कि व्यापारियों ने अपने अलग गौण पंथ विकसित कर लिए थे जिनमें मातृदेवी का कोई प्रत्यक्ष स्थान न था। उस स्थिति में यही बात व्यापार के मुनाफ़े के बारे में भी सच होगी जो भूमिस्व से भिन्न है।

टुकड़े जोड़कर फिर से चित्र रचने के इस प्रयास में हम बस इतनी ही दूर पहुंच पाते हैं। स्पष्ट है कि इस व्यवस्था का प्रसार नहीं हुआ। उत्तर में तथा तट पर सिन्धु-सभ्यता की बस्तियाँ बहुत कम और नगण्य हैं। मुख्य शहरी आबादी तो तीसरी सहस्राब्दी के अंत में कम ही हो गयी। इससे यह प्रश्न स्वभावतः निकलता है कि शहरों के चरम ध्वंस के बाद सिन्धु-सभ्यता में से क्या बचा। निश्चित ही दस्त-कारी और व्यापार से संबंधित बहुत-कुछ बचा रहा। भारत में वज़न और संभवतः नाप (यह अंश इतना स्पष्ट नहीं है) के परवर्ती मानक प्रायः सीधे मोहेंजो-दाड़ो और हड़प्पा तक जाते हैं। कुछ मिथक और अनुश्रुतियाँ भी बच रही होंगी, जैसे प्रलय की सुमेरी-बाबेरू तथा बाइबिल के नमूने पर सर्वव्यापी जलप्लावन की भाँति प्रलय की भारतीय कथा। यह कथा परवर्ती—प्रारंभिक नहीं—संस्कृत लेखों में दीख पड़ती है, और प्राचीन तथा नवीन, आर्य और आर्य-पूर्व के उस उत्तरोत्तर आत्मसात्करण के बहुत-से लक्षणों में से एक है, जिसके कारण भारतीय साहित्य और क़ानून के व्यवहार में प्रत्याशित क्रम कभी-कभी उलट जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि मिस्र में जीवन में बुनियादी रचना और ढाँचे में कोई गहरा परिवर्तन हुए बिना एक के बाद एक राजवंश राज करता रहा। जो परिवर्तन दीख पड़ते हैं वे विदेशों में अकस्मात नयी धातुएँ हाथ लग जाने या युद्ध में बहुसंख्यक विदेशी दासों पर नियंत्रण हो जाने के कारण केवल फ़रओह के दरबार के स्तर पर ही प्रगट होते हैं। जन-साधारण का जीवन बहुत-कुछ एक-सा ही बना रहा। कुछ आक्रमणकारी मिस्र में भी आर्य थे। ईराक में विभिन्न आक्रमणकारियों के साथ भाषा और उपासना-विधियाँ तो बदलीं, पर नगर बने रहे। अधिक-से-अधिक प्रमुखता एक नगर से हटकर दूसरे को मिल जाती थी, भले ही शासक सुमेरी हों अथवा बाबेरू, असीरी या ईरानी। केवल जब

सिंचाई की व्यवस्था को दुरुस्त रखने से ध्यान हट गया तभी अनाज पैदा करनेवाली भूमि के फिर से रेगिस्तान हो जाने के कारण सभ्यता अंततः नष्ट हो गयी। यह संभव है कि सिन्धु घाटी के नगरों का पूर्ण विनाश भी केवल एक ही कारण से हुआ हो; उनकी कृषि-व्यवस्था का अंत। उनमें नहरों के अभाव को देखते हुए इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक, नदियों ने अपना मार्ग वदल लिया, जैसा प्रायः होता था। इसके फलस्वरूप वंदरगाह के रूप में नगर वरवाद हो गये और खाद्य की पूर्ति कठिन हो गयी। दूसरे, हो सकता है कि विजेता मुख्यतः कृषक न हों और उन्होंने वे वाँध नष्ट कर दिये जिनके द्वारा वाढ़ की मिट्टी व्यापक क्षेत्र में जमा होना संभव होता था। यह अनाज के उत्पादन और इस भाँति नगरों के भी अंत का सूचक था जो पहले से ही दीर्घकालीन गतिहीनता के कारण विघटित होने लगे थे। वास्तव में जीवनक्षम समाज प्राचीन और नवीन के संयोग द्वारा नये सिरे से ही विकसित हो सकता था।

चौथा अध्याय

आर्य

आर्य-जन

'आर्य' शब्द का संस्कृत में, और उससे देश की अधिकांश भाषाओं में, अर्थ है 'कुलीन', 'सच्चरित्र', अथवा तीन उच्च वर्णों का सदस्य। अन्य शब्दों की भाँति इस शब्द के भी शताब्दियों के दौरान अर्थ बदलते रहे हैं। यद्यपि परवर्ती दिनों में इसका उपयोग आदर-सूचक 'महोदय' या 'श्रीमान' जैसे शब्दों के समानार्थ होने लगा, किन्तु एकदम प्रारंभिक दिनों में यह नृजाति समूह के रूप में किसी विशेष क़बीले या क़बीलों का सूचक था। भारत के अधिकांश इतिहास इन प्राचीन आर्यों से ही शुरू होते हैं। कुछ लेखक अभी तक यह मानते हैं कि सिन्धु घाटी के लोग भी आर्य रहे होंगे, क्योंकि उनके मन में यह पूर्वग्रह जमा बैठा है कि भारत में प्रत्येक उच्च सांस्कृतिक उपलब्धि केवल आर्यों की ही हो सकती है। नात्सी शासन और उसके द्वारा मान्य दर्शन ने 'आर्य' शब्द को जो घृणित प्रजातिवादी अर्थ दिया उससे उलझन और भी बढ़ गयी है। इस विषय में संदेह होना स्वाभाविक ही है कि कोई आर्य कभी सचमुच थे भी या नहीं, और यदि थे तो वे किस तरह के लोग रहे होंगे।

आर्यों की एक ख़ास विशेषता है एक सामान्य भाषा-परिवार जो एक ऐसा गुण है जिससे एक बड़े जनसमूह को अलग नाम देना उचित जान पड़ता है। ये महत्त्वपूर्ण भाषाएँ सारे यूरोप और एशिया में फैली हुई हैं। संस्कृत, लातीनी, यूनानी प्राचीन आर्य भाषाएं थीं। लातीनी से दक्षिणी यूरोप में रोमैंन भाषा-समूह (इतालवी,

इस्पानी, फ्रांसीसी, रूमानियन आदि) विकसित हुआ। इसके साथ ही, ट्यूटोनी (जर्मन, अँग्रेज़ी, स्वीडी आदि) और स्लाव (रूसी, पोलिश आदि) भाषाएँ भी आर्य भाषा-समूह के अंतर्गत उपसमूह हैं। यह बहुत-से विभिन्न पदार्थों के नामों की अनार्य भाषाओं में उनके नामों की तुलना से सिद्ध हो जाता है। यूरोप में फिनिश, हंगेरियन और वास्क भाषाएँ आर्य भाषा परिवार में नहीं आतीं। हेब्रू और अरबी, भले ही वे सुमेरिया की प्राचीन संस्कृति से निकली हों, सामी (सेमिटिक) भाषाएँ हैं, आर्य नहीं। एक तीसरा विचारणीय अनार्य समूह चीनी-मंगोल है जिसमें चीनी, जापानी, तिब्बती, मंगोल तथा बहुत-सी अन्य भाषाएँ आती हैं। सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से यह समूह सबसे महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि भारत के लिए इतना नहीं। इंडो-आर्यन भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं। इस भाँति प्रारंभ में जो भाषाएँ निकलीं उनमें पाली—जो मगध में बोली जाने के कारण मागधी भी कहलाती थी—और सामान्य रूप से प्राकृत कहलाने वाली कई भाषाएँ थीं। इनसे हिन्दी, पंजाबी, बँगला, मराठी आदि आधुनिक भाषाएँ निकलीं। किन्तु भारत में अनार्य भाषाओं का भी एक विचारणीय और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समूह है, जिसमें द्रविड़ भाषाओं में तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम और तुलु शामिल हैं; इनके अतिरिक्त बहुत-सी छोटी-छोटी कबीलों की बोलियाँ हैं जिनसे भारतीय भाषाओं की प्रारंभिक अवस्थाओं के बारे में बहुत जानकारी मिलती है। एक समय उन सबको 'आस्ट्रिक' समूह में रखा जाता था, पर आजकल इस शब्द को, मुंडारी, ओरांव, तोडा आदि के बीच अंतर को देखते हुए, निरर्थक माना जाने लगा है। मुख्य प्रश्न यह है : क्या भाषा की सामान्यता, अथवा भाषा-समूह के सामान्य उद्गम से यह निष्कर्ष निकालना न्याय-संगत है कि किसी आर्य प्रजाति या आर्यजन का सचमुच कोई अस्तित्व रहा है ?

'प्रजाति' शब्द की चाहे जितने शिथिल ढंग से परिभाषा की जाय, यह मानना कठिन है कि गोरे स्कैन्डिनेविया निवासी और साँवले बंगाली एक ही प्रजाति के हैं। इसलिए कुछ प्रमुख यूरोपीय भाषाशास्त्रियों ने एक शताब्दी पहले ही यह निष्कर्ष निकाला था कि आर्य प्रजाति की बात करना भी उतना ही हास्यास्पद है जितना 'लघुकपालीय व्याकरण' की। आर्य एक भाषाशास्त्रीय पद है जिसमें नृजातीय एकता का कोई संदर्भ नहीं है। किन्तु इस सबके बावजूद, प्राचीन काल में ऐसे लोग सचमुच मौजूद थे जो स्वयं अपने-आपको आर्य कहते थे, और जिन्हें दूसरे भी आर्य कहते थे। हाखमनि सम्राट डेरियस प्रथम (मृत्यु ई० पू० ४८६) अपने अभिलेखों में अपने को 'हाखमनि' (हखामनिषीय), पारसीक (पार्स), पारसीक का पुत्र, आर्य वंश का आर्य कहता है। इस भाँति आर्य किसी समय हाखमनि कुल और पारसीक क़बीला दोनों के मिले-जुले ऐतिहासिक मानव-समुदाय के लोग थे। प्राचीनतम

पंजाब की नदियाँ
गंगा-यमुना के उद्गम स्थान
0 50 100 150 200
काबुल
स्वात नदी
सिंध नदी
खैबर घाटी
तक्षशिला
झेलम न.
चनाब न.
रावी नदी
सतलुज नदी
कुरुक्षेत्र
सुरवा तट
पानीपत
हस्तिनापुर
इन्द्रप्रस्थ
(दिल्ली)
मथुरा
यमुना नदी
गंगा नदी
घाघरा न.
राप्ती न.
सिंध न.
हकरा या घग्घर का
का रा को र म
तिब्बत का प्लेटो
कैलास पर्वत
कैलास शिखर
सांपो नदी
(ब्रह्मपुत्र)
नंदा देवी
धौलागिरि
अन्नपूर्णा
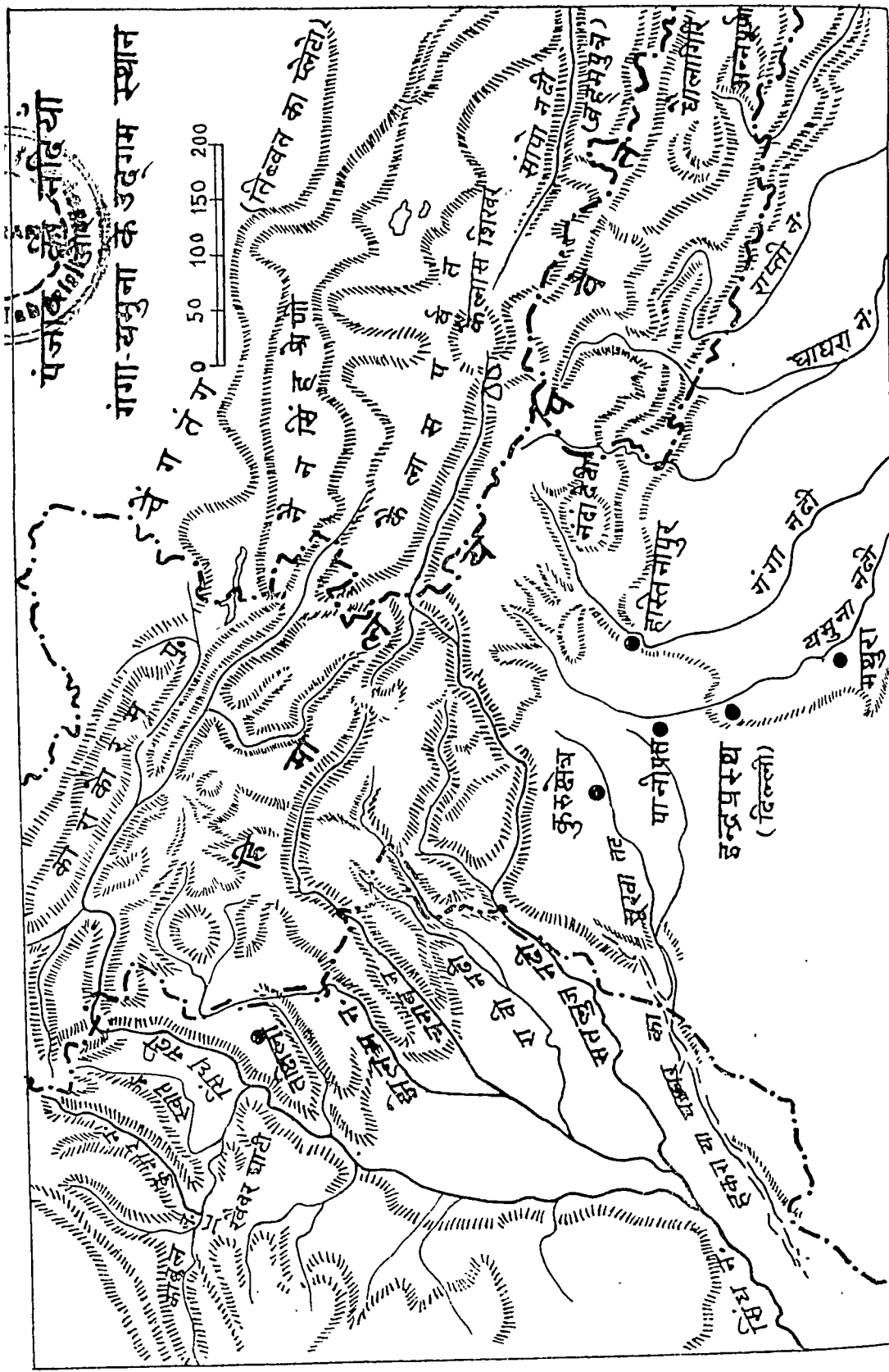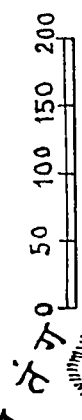
भारतीय दस्तावेज़, पवित्र वेद, आर्यों को वेदों में वंदित देवताओं का पूजक कहते हैं। तिथियुक्त अभिलेखों और विवरणों से एक-एक चरण पीछे जाने से वेद-सहित समस्त भारतीय लिखित सामग्री को एक प्रकार के कालक्रमानुसार रख सकना संभव है। परवर्ती ग्रंथों में पूर्ववर्तियों का उल्लेख अथवा अनुकरण है। भाषा के आर्ष प्रयोग भी पूर्वकालिकता सिद्ध करते हैं। इस भाँति ऋग्वेद सर्वप्रथम ठहरता है, उसके बाद (शुक्ल और कृष्ण) यजुर्वेद, सामवेद तथा इन सबके बहुत बाद अथर्ववेद आता है जिसमें तंत्र-मंत्र पर विशेष बल है। एक संगत अनुमान यह है कि ऋग्वेद का अधिकतर अंश या तो ई० पू० १५००-१२०० के बीच में पंजाब में रचा गया अथवा उस युग में होनेवाली घटनाओं का उल्लेख करता है। किन्तु वैदिक आर्य, भारत से बाहर अन्य आर्यों की भाँति ही, निरंतर आपस में भी उसी प्रकार लड़ते रहते थे जिस प्रकार वे अनार्यों अथवा आर्य-पूर्व लोगों से लड़ते थे। इसलिए यह निष्कर्ष तर्कसंगत है कि आर्य भाषाएँ बोलनेवाले केवल कुछ ही लोग अपने को आर्य कहते थे। डेरियस के बेटे ज़रक्सीज़ की सेना में आर्यों की (इसी नाम की) टुकड़ियाँ थीं, और यह ज्ञात हुआ है कि ईरानियों के पूर्ववर्ती मेड भी 'आर्य' कहलाते थे। ईरान 'आर्यानाम', 'आर्यों के (देश)' से निकला है। यद्यपि यूनानी, ईरानी और पंजाब के भारतीय आर्य भाषाएँ बोलते थे, मगर सिकंदर के समकालीन इतिहासकारों ने 'आर्य' शब्द केवल उस समय सिन्धु नदी के दाहिने किनारे पर बसे विशेष क़बीलों के लिए ही व्यवहार किया है।

आदिम आर्य भाषाओं के मूल बोलनेवाले किस प्रकार के लोग थे? जैसा पहले कहा गया, प्राचीन भाषाओं में 'वृक्ष', 'पशु', 'मछली' आदि जातिवाचक शब्दों की बजाय प्रत्येक प्रकार के पक्षी, पशु, पौधों इत्यादि के लिए अलग-अलग शब्द हैं। भाषाशास्त्रियों ने, उदाहरण के लिए, बहुत-सी आर्य भाषाओं में, नितान्त स्थानीय शब्दों को छोड़कर, 'वृक्ष' के लिए सामान्य मूल शब्दों की तुलना की है। इससे जान पड़ता है कि मूल आर्य वृक्ष भूर्ज था जो उत्तरी यूरोप और हिमालय में होता है, अधिक उष्ण जलवायु में नहीं। मछली संभवत: सामन थी। इस प्रकार के विश्लेषण का क्षेत्र विस्तृत किया जा सकता है। पृथ्वी के धरातल पर पौधों (खेती द्वारा उत्पादित और दूर-दूर तक यात्रा करनेवाले प्रकारों को छोड़कर), जंगली पशुओं, पक्षियों और मछलियों का सामान्य वितरण बहुत-कुछ स्थायी और ज्ञात है। कुछ छूट ऐसी घरेलू क़िस्मों के लिए देनी होगी जो मनुष्य अपने साथ एक से दूसरे स्थान में ले गये होंगे। उदाहरण के लिए, चाय और उसके लिए शब्द ऐतिहासिक युग में चीन से आया। हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि चाय आर्य शब्द अथवा पेय है, अथवा चीनी आर्य भाषा है, अथवा चीन आर्यों की मातृभूमि था। ऐसी संदिग्धता को दूर

कर देने के बाद निष्कर्ष यह निकलता है कि मूल आर्य यूरेशिया के उत्तरी प्रदेशों से परिचित थे और संभवतः वहीं से आये थे।

किन्तु भाषाशास्त्रीय विश्लेषण का क्षेत्र और उपयोगिता सीमित ही है। आर्यों की सगोत्रीय संबंधों की शब्दावली में विस्मयकारी एकरूपता है। पिता, माता, भ्राता, श्वसुर, विधवा आदि के लिए शब्द उल्लेखित भाषाओं में बहुत मिलते-जुलते हैं। इससे हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मूल सामाजिक संगठन समान था और लोग वास्तव में एक ही थे। साथ ही, यद्यपि 'पद' (पैर) के लिए तो सामान्य आर्य शब्द है, पर 'हस्त' (हाथ) के लिए नहीं। पुत्री के लिए 'दुहिता' शब्द का अर्थ 'दूध दुहनेवाली' भी है, और यह शब्द आर्य भाषाओं में व्यापक रूप से पाया जाता है। इसके आधार पर कुछ यूरोपीय विद्वानों ने आर्यों के घरेलू जीवन की बड़ी मनभावनी तस्वीर रच डाली। दुर्भाग्यवश, 'दूध' के लिए कोई समान शब्द नहीं है। 'गाय' और 'अश्व' के लिए पुरानी आर्य भाषाओं में समान शब्द मौजूद हैं, जिससे पता चलता है कि ये पशु उनकी अर्थ-व्यवस्था का मुख्य आधार थे। पर इस पद्धति को बहुत दूर तक खींचने पर हास्यास्पद निष्कर्ष निकलना अनिवार्य है। इसका उपयोग तभी उचित है जब कोई और उपाय न हो।

आर्यों की जीवन-पद्धति

यह बात एक सामान्य नियम के रूप में कही जा सकती है कि जब तक कोई भाषा श्रेष्ठतर उत्पादन-पद्धति के साथ जुड़ी न हो तब तक उसे विभिन्न भाषाओं वाले बहुसंख्यक लोगों पर लादा नहीं जा सकता। आर्य आक्रमणकारी गिरोह बहुत बड़े नहीं रहे होंगे, क्योंकि जिस देश से वे आये थे वह उन अधिकांश सभ्य और खेतिहर प्रदेशों से अधिक आबादी का पालन नहीं कर सकता था जिन पर उन्होंने आक्रमण किये। फिर वे स्वयं को और अपनी भाषा को दूसरों पर कैसे आरोपित कर सके? व्यापक अर्थ में संस्कृति को उनकी मुख्य देन क्या थी? भारत पर धावा बोलने वाले आर्यों के बारे में बहुत-कुछ कहना संभव है। भारतीय-ईरानी लोगों के लिए आर्य नाम ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी से निश्चित रूप से दस्तावेज़ों और भाषायी प्रमाणों के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है। पुरातत्त्व से पता चलता है कि ये विशेष आर्य दूसरी सहस्राब्दी में युद्ध-प्रिय-यायावर लोग थे। उनके भोजन का मुख्य साधन और सम्पत्ति का मापदंड पशुधन था जिसे वे महाद्वीप के विशाल भूभागों में चराते रहते थे। रथ में, भले ही अपेक्षाकृत अनिपुण ढंग से, घोड़े जोत लेने के कारण उन्हें युद्ध के समय सामरिक दाँवपेंच में अधिक गति और श्रेष्ठता प्राप्त थी। आर्य क़बीलों का संघटन पितृतंत्रात्मक था, और समुदाय में पुरुष ही प्रमुख और सम्पत्ति का स्वामी

होता था । आर्यों के देवता भी अधिकांशतः पुरुष ही हैं, पर कुछेक देवियाँ प्राचीन युगों अथवा अधिक प्राचीन लोगों से ले ली गयी थीं ।

आर्य संस्कृति की बात करते समय इसका अर्थ स्पष्ट समझ लेना चाहिए । आर्य तीसरी सहस्राब्दी की उन महान नागर संस्कृतियों की तुलना में सभ्य नहीं थे जिन पर उन्होंने आक्रमण किया और जिन्हें प्रायः नष्ट कर दिया । आर्यों के कोई ऐसे विशिष्ट भांड अथवा औज़ार भी नहीं मिलते जिनके आधार पर पुरातात्त्विक अर्थ में आर्य संस्कृति का विवरण दिया जा सके । इन लोगों को विश्व-इतिहास में जिस बात से इतना महत्त्व मिला वह थी इनकी बेजोड़ गतिशीलता, जो मवेशियों के रूप में चल आहार भंडार, युद्ध के लिए अश्व रथ, और भारी यातायात के लिए बैलगाड़ी के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी । उनकी मुख्य उपलब्धि यह थी कि उन्होंने महान नदी-घाटी सभ्यताओं से दूर बसे हुए तीसरी सहस्राब्दी के छोटे-छोटे, अवरुद्ध और प्रायः पतनशील किसान समुदायों के बीच अवरोधों को निर्ममतापूर्वक नष्ट कर दिया । आर्यों ने स्थानीय शिल्प में जो कुछ उपयोगी जान पड़ा उसे अपनाया और आगे बढ़ गये । उनके विध्वंस से होनेवाली क्षति को पूरा करना ध्वस्त लोगों के लिए प्रायः असंभव होता था । फिर भी आर्यों के और मिस्री (तथा बाद में असीरी) आक्रमणों के बीच अन्तर मूलभूत था । मिस्री फ़रओह अपनी लूट, भेंट, ताँबे पर नियंत्रण अथवा अपनी योजनाओं के लिए दास प्राप्त करने के बाद स्वदेश लौट जाता था । पूरी तरह बरबाद न होने पर उस प्रदेश में जीवन बहुत-कुछ पुराने ढंग से ही चलता रहता था । पर पुरानी बस्तियों मे आर्यों के आक्रमण के बाद, जिनमें से कुछ तो बहुत ही अगम्य स्थानों में और फ़रओह के आक्रमण के लिए अनुपयुक्त होती थीं, मानव-समाज और मानव-इतिहास यदि शुरू होता भी था तो यह सर्वथा भिन्न स्तर पर ही संभव हो पाता था । उसके बाद छोटी खेतिहर इकाइयों और बंद क़बीला समुदायों में पहले जैसा अलगाव असंभव हो जाता था । वे प्रविधियाँ, जो प्रायः निरर्थक कर्मकांड से सम्बद्ध होने से कट्टरतापूर्वक गुप्त रखी जाती थीं, सबकी जानकारी में आ जाती थीं । साधारणतः आर्य और आर्य-पूर्व लोग नये सिरे से समूहबद्ध होकर, प्रायः नयी आर्य भाषा के साथ, नये समुदायों का निर्माण कर लेते थे ।

दूसरी सहस्राब्दी में मध्य एशिया से दो मुख्य आर्य-तरगें आयी, एक प्रारंभ में और दूसरी अंत की ओर । दोनों ने भारत को, और संभवतः यूरोप को भी, प्रभावित किया । दोनों में से कोई भी जान-बूझकर किया गया, सुयोजित अथवा संचालित आन्दोलन न था । उस विशेष समूह की मातृभूमि (मोटे तौर पर आधुनिक उज़्बेकिस्तान) का चरागाह, संभवतः लंबे सूखे के कारण, मवेशियों और उनके स्वामियों के पालन-पोषण के लिए अपर्याप्त हो गया था । स्थानांतर गमन सदा किसी निश्चित

दिशा में ही नहीं होता था। भारत में घुसने वालों में से कुछ लोग, या तो खदेड़े जाने के कारण अथवा नये प्रदेश की परिस्थितियों से किसी असंतोष के कारण, वापस लौट गये। यह दूसरी सहस्राब्दी में बाद की कुछ खत्ती मोहरों पर भारत के विशिष्ट ककुदमान बैलों की आकृतियों से प्रकट होता है। खत्ती भाषा का आधार भी आर्य था; खत्ती शब्द का संभवतः संस्कृत 'क्षत्रिय' अथवा पाली के 'खत्तियों' से संबंध हो। खत्ती लोग अनातोलिया के विजित जनसमुदाय पर शासन करने के लिए बस गये। उनके तथा भारत के बीच संपर्क न तो निरंतर था न बहुत घनिष्ठ। पर यह संपर्क, चाहे जितना टूटा हुआ और संक्षिप्त हो, इसलिए महत्त्वपूर्ण था कि लोहे का ज्ञान, जो खत्ती लोगों में सबसे पहले प्रगट हुआ (इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि किस प्राचीनतर समुदाय ने यह रहस्य खत्तियों को सिखाया था), इस भाँति आर्यों की दूसरी तरंग में भारत पहुंच सका।

भारत से सीधा सम्बद्ध विदेशी आर्य-समूह ईरान में था। ईरानियों और मेडों की बोली आर्य थी जो संस्कृत के समीप थी। ई० पू० १४०० के आसपास मितन्नी लेखों से पता चलता है कि किसी आर्य भाषा में भारत-आर्य देवताओं की पूजा करने वाले लोग ईरान में उरमियेह् झील के पास बसे हुए थे। ई० पू० छठी शताब्दी के अंत में ज़रतुश्त द्वारा पूरी तरह प्रभावित होने के पहले ईरानी भी इंद्र, वरुण, मित्र इत्यादि देवताओं की ही पूजा करते थे। बाद में केवल भारत-आर्य देवता अग्नि ही दोनों द्वारा पूजित रहा। देवतासूचक संस्कृत शब्द 'देव' ईरानी भाषा में दानवसूचक शब्द हो गया। किंतु अवेस्ता ने सात नदियों के प्रदेश का (पंजाब—दो नदियाँ बाद में सूख गयीं) मान्य (आर्य) क्षेत्र के रूप में उल्लेख किया है। कुछ इण्डो-ईरानी वीर समकालीन गिलान और मज़न्देरान में, कैस्पियन के किनारे से आये थे। ईरानी लेखों में राजा यीमा के 'वर' का उल्लेख है जो ऐसी आयताकार जगह का नाम है जिसमें, जब तक कोई पाप न करे, मृत्यु या जाड़ों के शीत का प्रवेश नहीं हो सकता था। यह एक प्रकार से 'स्वर्णयुग' का ही एक सीमित रूप जैसा था। तब भले राजा यीमा ने निषेध को तोड़ने के दंडस्वरूप स्वयं मृत्यु को स्वीकार किया और इस भाँति पहला मर्त्य हुआ। भारत में ऋग्वेद का यम भी प्रथम मर्त्य, प्राचीन पैतृक मृत्यु-देवता है, और आज भी मृतकों का देवता माना जाता है। मूलतः इण्डो-आर्य मरने पर यम के संरक्षण में रहनेवाले अपने पूर्वजों के पास जाता था; बाद में यम नरक में मृतकों को यातना देने का अधिष्ठाता हो गया, और बाक़ी देवता स्वर्ग में शासन करने लगे। सोवियत पुरातत्त्वविदों को उज़बेकिस्तान में जो आयताकार अहाते मिले हैं उनकी लंबाई-चौड़ाई ठीक ईरानी धर्मग्रन्थों में यीमा के 'वर' जैसी है। प्राग्-ऐतिहासिक निर्माणकर्ता पत्थर की दीवारों के छोटे-छोटे कमरों में रहते थे, और विपत्ति के समय

पशुओं को बीच की खुली जगह में बाँधा जाता था। यीमा और उसका सुरक्षित क्षेत्र विशाल भारत-आर्य प्रवास के पूर्व का प्राग्-ऐतिहासिक यथार्थ है। बाद में 'वर' यूनानी मिथकों में 'औजियन' (गंदगी से भरी) 'अश्वशाला' के रूप में प्रगट हुआ जिसे हेराक्लीज ने साफ़ किया।

ऋग्वेद की ऋचाएँ चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दक्षिण भारत मे ठीक से संपादित करके लिखी गयीं और उन पर टीका हुई। तब तक वे शब्दशः कंठस्थ ही की जाती थीं (जैसा कि भारत में कुछ विद्वान आज भी करते हैं), पर आमतौर पर उन्हें लिखा नहीं गया था। इससे निष्कर्ष निकलता है कि समस्त वैदिक परम्परा जीवित नहीं रह सकी। ऋग्वेदकालीन कार्यकलाप का स्थल पंजाब था। उस परंपरा को बनाये रखनेवाले पुरोहित समुदाय का उस प्रदेश से शताब्दियों से संपर्क टूट गया था, इसलिए विभिन्न स्थानों के नाम का कोई अर्थ संप्रेषित नहीं होता था। स्थानों, नदियों और लोगों के नामों के अतिरिक्त भी बहुत-से महत्त्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या आज भी कठिन है क्योंकि भाषा बदल गयी है। बाइबिल के पूर्व-विधान की तुलना में वेदों का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत कम है, क्योंकि बाइबिल को सदा वे लोग इतिहास के रूप में प्रस्तुत करते रहे जिनका अपने उस विशेष प्रदेश से सम्पर्क बना हुआ था। फ़िलस्तीन का पुरातत्त्व भारत की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत और अधिक वैज्ञानिक ढंग से संचालित है, और उससे बाइबिल की बहुत-सी घटनाओं की पर्याप्त पुष्टि होती है। दूसरी ओर आर्य सदा स्थान बदलते रहते थे। नदियों और पहाड़ों के नाम प्रायः उनके साथ ही यात्रा करते थे। वेदों की पवित्र नदी सरस्वती कभी अफ़ग़ानिस्तान में हेलमंद थी (हरहवैति प्राचीन फ़ारसी में, अरक़त्तु असीरी में); फिर पूर्वी पंजाब की एक नदी जो संभवतः प्रथम सहस्राब्दी में ऋग्वेद के बाद सूख गयी।

किसी अन्य अधिक उत्तम विकल्प के अभाव में, ऋग्वेद को जैसा है वैसा ही स्वीकार करने पर उससे कम-से-कम एक नकारात्मक कार्य की, सिंधु घाटी के नगरों के विध्वंस की, पुष्टि तो होती ही है। मुख्य वैदिक देवता अग्नि है; जितनी ऋचाएँ उसके प्रति हैं उतनी और किसी के प्रति नहीं। उसके बाद महत्त्व है इंद्र का, जो ठीक वैसे ही प्रचंड, पितृतंत्रात्मक, कांस्ययुगीन बर्बरों का मानवीय युद्ध-नेता जान पड़ता है, जैसे पहली तरंग के आर्य निश्चित रूप से थे। वास्तव में यह अभी तक अनिश्चित है कि इंद्र ऐसा देवत्वप्राप्त पैतृक युद्धनेता है जो सचमुच लड़ाई के मैदान में आर्यों का संचालन करता था, अथवा क़बीलों के ऐसे सक्रिय मुखियाओं की परम्परा का। बहुत बार इंद्र को प्रबल मादक पेय सोम (एक तीव्र मद्य जिसे अभी तक पहचाना नहीं गया है) पीने और अपने आर्य अनुयायियों को विजय अभियान पर ले चलने के लिए आमंत्रित किया जाता है। इंद्र ने आर्यों के शत्रुओं का नाश किया, 'देवहीनों के कोषागारों

को' लूटा। जिन दानवों का उसने संहार किया वे हैं: संवर, पिप्रु, अर्षसानस, पुश्न (जो संभवतः सूखे का साकार रूप हो), और नमुची आदि। इनमें से कई नाम अनार्य जान पड़ते हैं। वैदिक मिथक को संभाव्य ऐतिहासिक यथार्थ से अलग करना सदा ही कठिन होता है; आलंकारिक प्रशंसा युद्धक्षेत्र में सैनिक सफलता की सूचक हो भी सकती है और नहीं भी। नमुचि की 'सेना' में स्त्रियाँ मानवी थीं या मातृदेवियाँ? इस दानव की दो पत्नियाँ थीं या वह दो नदियों के उस स्थानीय देवता का सूचक है जो मेसोपोटामीय मोहरों पर प्रायः दिखाई पड़ता है? आर्यों ने भारत में आने के पहले अन्य नागर संस्कृतियों का भी विध्वंस किया था। इंद्र ने एक आर्य मुखिया अभ्यावर्तिन चायमान की ओर से हरियूपीया में बचे-खुचे वरषिखों को मिटाया था। नष्ट होनेवाला कबीला वृचीवतों का था जिनके १३० कवचधारी योद्धाओं की प्रथम पंक्ति को इंद्र ने यव्यावती (रावी) नदी के तट पर मिट्टी के घड़े की भाँति तोड़ दिया था, सारी विपक्षी सेना 'पुराने कपड़ों' की भाँति फट गयी थी, और शेष लोग डरकर भाग गये थे। ऐसी प्रबल भाषा में हड़प्पा में किसी वास्तविक संघर्ष का वर्णन मिलता है, चाहे वह दो आर्य-समूहों के बीच रहा हो चाहे आर्यों और अनार्यों के बीच। यह मानने का लोभ होता है कि हड़प्पा में 'एच' समाधिक्षेत्र जो आर्य-पूर्व नागर संस्कृति के बाद का है, अपनी ऊपरी सतह में आर्यों की समाधियों का सूचक है। इसी प्रकार हमें नारमिनी नगर को मोहेंजो-दाड़ो मानने का भी लोभ होता है। पर ऋग्वेद में इससे अधिक ब्यौरा नहीं मिलता कि नगर शायद आग से नष्ट हुआ था। आर्य-पूर्व लोगों के बहुत-से लकड़कोट और सुरक्षित स्थान थे, कुछ मौसमी ('शरद ऋतु के लिए'), और अन्य इतने मजबूत कि उन्हें 'पीतल के' कहा जा सके। शत्रु 'कृष्ण' और 'अनासस' (बिना नाकवाले) थे। इंद्र द्वारा ध्वस्त अनेक तिजोरियों को आलंकारिक भाषा में 'कृष्ण भ्रूणों से गर्भित' कहा गया है।

जिस एक करतब के लिए इंद्र की बार-बार प्रशंसा की गयी है वह है 'नदियों की मुक्ति'। उन्नीसवीं शताब्दी में, जब होमर के काव्य में ट्राय के विध्वंस से लगाकर प्रत्येक बात का कारण प्रकृति-संबंधी मिथकों में खोजने का प्रयास किया गया, इस बात का अर्थ वर्षा लाना समझा गया था। इंद्र वर्षा का देवता है जो बादलों में दबे जलों को मुक्त करता है। किंतु वर्षा का वैदिक देवता तो पर्जन्य है। जिन नदियों को इंद्र ने मुक्त किया वे तो 'कृत्रिम अवरोधों' से 'निश्चल' कर दी गयी थीं। वृत्र दानव 'पहाड़ के ढाल पर विराट सर्प की भाँति लेटा था'। इंद्र द्वारा इस दानव के संहार के बाद 'पत्थर गाड़ी के पहियों की भाँति लुढ़कने लगे'; जल 'दानव की निर्जीव देह के ऊपर से बह निकला'। इस वर्णन का अर्थ, उसके समस्त अलंकरण के बावजूद, किसी बाँध के ध्वंस के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। अच्छे भाषाशास्त्रियों ने 'वृत्र' शब्द

का अर्थ 'अवरोध' या 'बाधा' किया है, पर 'दानव' नहीं। इस अपूर्व साहसिक कार्य के लिए इंद्र को वृत्रहन कहा जाता था। वही शब्द ईरानी भाषा में 'वेरेत्राघ्न' के रूप में प्रकाश के ज़रतुश्ती देवता अहुरमज़्द के लिए काम में आता था। मिथक और रूपक उन पद्धतियों का सुस्पष्ट विवरण प्रस्तुत करते हैं जिनके द्वारा सिंधु घाटी की कृषि अंत में नष्ट हुई। साथ ही, इंद्र ने (अभी तक अज्ञात) विबालि नदी को, जो किनारों से वह निकला करती थी, उसके उचित मार्ग तक सीमित कर दिया। जैसा कहा जा चुका है, सिंधु घाटी में बाँधों की सहायता से, जो कभी-कभी अस्थायी होते थे, बाढ़ द्वारा सिंचाई की प्रथा थी। इससे भूमि आर्यों के पशुसमूह के लिए अत्यधिक दलदली हो जाती होगी, और बाँधों से रुकी हुई नदियाँ दूर-दूर तक पशुओं को चराना असंभव बना देती होंगी। बाँधों के साथ-साथ आर्यों के सिंधु घाटी के नगरों में स्थायी निवास की संभावना भी नष्ट हो गयी क्योंकि वार्षिक जल-वर्षा कम थी।

जिन मुख्य अनार्य लोगों का स्पष्ट नाम लिया गया है, यद्यपि बहुत अधिक नहीं, वे पणि थे। धनी, विश्वासघाती, लोभी, युद्ध में इंद्र के सामने टिकने में अक्षम—उनका सामान्य वर्णन यही है। ऋग्वेद की एक परवर्ती किंतु प्रसिद्ध ऋचा में इन पणियों और इंद्र की संदेशवाहक श्वानदेवी सरमा (सरोवर की मातृदेवी) के बीच संवाद दिया हुआ है। ये संवाद न केवल सस्वर पाठ के लिए, बल्कि स्पष्ट ही अभिनय के लिए, रचे गये थे, इसलिए वे किसी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना के आनुष्ठानिक स्मारक हैं। टीकाओं में आमतौर पर घोषणा है कि पणि लोगों ने इंद्र के पशु चुराकर छिपा दिए थे। सरमा उन्हें इंद्र के अनुयायी देवों को लौटा देने की माँग करने गयी थी। ऋचा में चुराये गये पशुओं के बारे में प्रत्यक्ष कुछ नहीं कहा गया है, पर उसमें पशुओं के उपहार की सीधी स्पष्ट माँग है जिसे पणि लोग तिरस्कारपूर्वक अस्वीकार कर देते हैं। तब उन्हें इसके भयंकर परिणाम की चेतावनी दी जाती है। जान पड़ता है कि आक्रमण करने के लिए आर्यों की मान्य पद्धति यही थी। पणि नाम आर्य नहीं जान पड़ता, पर संस्कृत में इस शब्द से उत्पन्न महत्त्वपूर्ण रूप वर्तमान हैं और संस्कृत से परवर्ती भारतीय भाषाओं में भी आ गये हैं। आधुनिक बनिया, व्यापारी, संस्कृत शब्द 'वणिक' से आया है, जिसका संस्कृत में पणि के अतिरिक्त कोई अन्य मूल स्रोत ज्ञात नहीं है। संस्कृत में सिक्के को 'पण' कहते हैं; व्यावसायिक माल और सामान्य वस्तुएँ 'पण्य' कहलाती हैं। भारतीय सिक्कों के वज़न के प्राचीनतम मानक ठीक वे ही हैं जो मोहेंजो-दाड़ो में एक विशेष वर्ग के सिक्कों के हैं, और वे ईरान या मेसोपोटामिया में प्रचलित मानक नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि सिंधु-सभ्यता के कुछ लोग आर्यों के लोभ से बच निकले और व्यापार की और सामान बनाने की पुरानी परंपरा चलाते रहे।

ऋग्वेद में, ईंटों से बने नगरों की तो बात ही दूर, न तो किसी स्थायी बस्ती का उल्लेख है न लिखने, पढ़ने, कला और स्थापत्य का। संगीत कर्मकांड के लिए सस्वर पाठ तक सीमित था। शिल्पविधा अधिकांशतः रथों, औज़ारों और युद्ध के लिए अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण से आगे न बढ़ी थी; उसके अधिष्ठाता त्वष्टि देवता और उसके अनुयायी थे, जो दोनों सिंधु-सभ्यता से आए जान पड़ते हैं। किंतु इस अवस्था में क़बीले के भीतर कोई जाति या वर्ग का भेद न था; कारीगर अभी तक क़बीले के स्वाधीन सदस्य थे, जाति-पद में हेठे नहीं, जैसे कि वे अगले चरण में, जब क़बीले विघटित होने लगे, हो गये। बुनाई का काम स्त्रियाँ करती थीं, यद्यपि पुरुष ऋषि ऋचाओं को ऐसे 'बुनते' माने जाते थे जैसे वह करघे पर कोई नमूनेदार कपड़ा हो। पुरुषों के सामुदायिक जीवन का केन्द्र सभा थी; यह शब्द कबीले के सम्मेलन और उसके टीले पर बने भवन, दोनों का सूचक था। जन परिषद की बैठकों के अलावा, सभा का पुरुषों द्वारा, और केवल पुरुषों द्वारा ही, विश्राम के लिए भी उपयोग होता था। क़बीले का यह भवन एक प्रिय कार्यकलाप द्यूतक्रीड़ा का भी स्थल था। अपने एकमात्र असाध्य व्यसन में लीन और घर तथा परिवार के प्रति पूरी तरह उदासीन द्यूतकर प्राचीनतम वेद की एक परवर्ती किन्तु प्रसिद्ध ऋचा में प्रकट होता है। कहीं-कहीं रथों की दौड़ों, नर्तकियों, पुरुष मुष्टि-मल्लों का भी उल्लेख मिलता है। आर्य लोग स्पष्ट ही बर्बर थे, और जिन नागर लोगों का उन्होंने ध्वंस किया उनकी तुलना में संस्कृति के निम्नतर स्तर पर थे।

पूर्वाभिमुख अभियान

परवर्ती ऋग्वेदीय सैनिक कार्य-कलाप ऐतिहासिक जान पड़ते हैं, क्योंकि उनका श्रेय देवता इन्द्र को नहीं, मनुष्यों को, वीरों अथवा राजाओं को दिया गया है। इस कोटि का सुविदित प्रसंग दस राजाओं के संघ के ऊपर राजा सुदास (सुदाह) की विजय का है। सुदास, जिसे पिजवन का वंशज कहा है, दिवोदास का पुत्र भी बताया जाता है। इन नामों में, 'दास' पद बड़ा विचित्र है। परवर्ती संस्कृति में दिवोदास का अर्थ होगा 'स्वर्ग का दास', पर प्रारंभ में 'दास' या 'दस्यु' विरोधी अनार्य लोगों के लिए व्यवहार होता था। उनका विशेष रंग (वर्ण जिसका अर्थ बाद में जाति हुआ) था, काला (कृष्ण), जो उन्हें आर्यों से अलग करता था। यह उनके शरीर के साँवले रंग का ही सूचक हो सकता है जो आगंतुकों के गोरेपन से अलग था। लगातार विजय के बाद ही 'दास' शब्द का अर्थ सेवक या गुलाम ('स्लेव' या 'हेलौट' जो दोनों ही नृवंशीय नामों से निकले हैं), शूद्र वर्ण का हुआ, अथवा 'दस्यु' के रूप में 'लुटेरा' या 'डाकू' हुआ। इतने प्रारंभिक आर्य राजा के नाम के अंत में 'दास' शब्द का होना

इस बात का सूचक है कि ई० पू० १५०० के शीघ्र बाद आर्यों और अनार्यों में कोई नया संयोग हुआ था। सुदास जिस क़बीले का प्रधान था उसका नाम भरत कहा गया है, या शायद भरतों की एक शाखा विशेष थी जिसे त्रित्सु कहते थे। इस देश के आधुनिक नाम 'भारत' का अर्थ है 'भरतों का देश'।

सुदास के विरोधियों के नाम भी दिये हुए हैं। उन दिनों, और बाद में भी बहुत समय तक, क़बीले और उसके प्रधान का नाम, विशेषकर बाहरवालों के लिए एक ही होता था। यहाँ विरोधियों के नाम दस से अधिक हैं। साथ ही यह भी निश्चित है कि इन दस में कुछ आर्य भी थे। पक्थ के बारे में यह अनुमान लगाया गया है कि उसका अफ़ग़ानिस्तान और पाकिस्तान के पख़तून या पठान से संबंध है। ये लोग पश्तो भाषा बोलते हैं जो भारत-ईरानी आर्यभाषा है। इन लोगों का ऋग्वेदीय उद्भव विश्वसनीय जान पड़ता है, क्योंकि हेरोडोटस ने एक ऐसे भारतीय कबीले पक्त्यन का उल्लेख किया है। अलिन (भौंरा), मत्स्य (मछली) दोनों स्पष्ट ही टोटेमीय नाम हैं। अलिन लोगों के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है; पर मत्स्य कबीले के लोग ऐतिहासिक युगों में ऋग्वेदीय युद्धक्षेत्र के काफ़ी पूर्व में आधुनिक भरतपुर के पास बसे हुए थे। ई० पू० दूसरी शताब्दी में उत्तर-पश्चिमी पंजाब में लिखते हुए वैयाकरण पातंजलि ने 'पूर्वी भरत', पद को निरर्थक शब्दबहुलता का उदाहरण बताया है, 'क्योंकि पूर्व के अतिरिक्त भरत कहीं हैं ही नहीं'। सामान्यत: इन तथा ऐसे ही उद्धरणों से पूर्वाभिमुख अभियान स्पष्ट है। दस विरोधियों में से एक अन्य शिग्रु का अर्थ है सहिजन का वृक्ष; उस नाम के एक ब्राह्मण गोत्र का मथुरा के कुषाण शिलालेख में उल्लेख है, यद्यपि उपलब्ध गोत्र-सूचियों में वह नहीं मिलता। क़बीलों के ऐसे नामों के टोटेमीय स्वरूप के बारे में कोई संदेह नहीं। किंतु सुदास के शत्रुओं में सबसे अधिक आश्चर्यकारी नाम है भृगु, जो स्पष्ट ही उस समय के एक क़बीले का नाम है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से इस शब्द का 'फ्रिजिअन' (Phrygion) से संबंध है। एक अन्य स्थान पर भृगुओं द्वारा इंद्र के लिए बनाये गये रथ-विशेष का प्रशंसा के साथ उल्लेख है। किंतु प्राचीन संस्कृत से लगाकर आज तक केवल इस नाम का अवशिष्ट रहना एक ऐसे प्रमुख बहिर्विवाही ब्राह्मण गोत्र-समूह से अधिक कुछ नहीं सूचित करता जो आज भी शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण है। वे ब्राह्मणों के समुदाय में बाद में आये, पर शीघ्र ही प्रमुख हो गये।

दस राजाओं के युद्ध का कारण यह था कि इन दसों ने परुष्णि नदी को मोड़ने का प्रयास किया था। यह आधुनिक रावी एक भाग है जो अपना मार्ग कई बार बदल चुकी है। सिंधु नदी-समूह के पानी की दिशा में परिवर्तन आज भी भारत और पाकिस्तान के बीच कुछ आरोप-प्रत्यारोप का कारण बना हुआ है। 'स्निग्धकंठी' पुरु लोग

सुदास के शत्रु होते हुए भी न केवल आर्य थे वलिक भरतों के निकट संबंधी थे। परवर्ती परम्परा में तो भरतों को पुरुओं की ही एक शाखा बताया गया है। ऋग्वेद में एक ही कुल-पुरोहित विभिन्न ऋचाओं में निष्पक्ष भाव से पुरुओं को शाप और आशीर्वाद दोनों ही देते हैं, जिससे प्रकट होता है कि उनके और भरतों के बीच अनवन स्थायी न थी। यह कलह आर्यों और अनार्यों के बीच झगड़े से भिन्न थी। पुरु लोग हड़प्पा क्षेत्र में ही रहे और परवर्ती युगों में उन्होंने अपने राज्य को पंजाब तक फैला लिया। उन्होंने ही ३२७ ई० पू० में सिकन्दर से सबसे प्रवल युद्ध किया। आधुनिक पंजाबी कुलनाम 'पुरी' का उद्‌भव संभवतः पुरु क़बीले में हो।

दस राजाओं पर विजय का गुणगान करनेवाले पुरोहित का कुलनाम वशिष्ठ (सर्वश्रेष्ठ) है, जो आज भी 'सात' पारंपरिक प्रमुख वहिर्विवाही ब्राह्मण-समूहों में से एक है। मूल पुरोहित कुशिक (उल्लू) गोत्र के विश्वामित्र थे। ऋग्वेद में पुरोहित का कार्य अभी तक किसी एक जाति-विशेष का कार्य नहीं बना था; वलिक ऋग्वेद में केवल एक ही प्रकार के वर्ण-भेद का उल्लेख है—गोरे आर्यो और काले शत्रुओं के बीच। प्राचीन यूनान या रोम की भाँति, परिवार, कुल या क़बीले की उपासना-विधियों को सुरक्षित रखने का भार समूह के किसी एक पुरुष पर होता था जिसे इस कार्य के लिए वरिष्ठता, निर्वाचन अथवा प्रथा के अनुसार यह भार सौंपा जाता था। यद्यपि यज्ञ के समय विभिन्न विशिष्ट पुरोहिती पदों की सूची मिलती है, पर कोई अलग ब्राह्मण जाति अभी नहीं बनी थी जिसे पुरोहित पद का एकाधिकार प्राप्त हो। किंतु वशिष्ठ नये ढंग का पुरोहित था। वह मित्र और वरुण नामक दो वैदिक देवताओं के, जो किसी समय क्रमशः सूर्य और आकाश के देवता थे, वीर्य से उत्पन्न माना जाता है। उसकी माँ का कोई उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत वह—उसी वर्णन में —'उर्वशी के मन से उत्पन्न', दोनों देवताओं के संयुक्त वीर्य को धारण करनेवाले एक कुम्भ से, और एक पुष्कर में 'वज्रधारण किये हुए' प्राप्त, बताया गया है। ऊपर से उलझा हुआ लगनेवाला यह विवरण वास्तव में बहुत सुसंगत और सुस्पष्ट है। इसका अर्थ है कि वशिष्ठ किसी आर्य-पूर्व मातृदेवी के मानवीय प्रतिनिधियों से उत्पन्न था इसलिए उसका कोई पिता न था। पितृतंत्रात्मक आर्यों में स्वीकृत होने के लिए एक संभ्रांत पिता की और साथ ही अनार्य माता के अस्वीकार की आवश्यकता थी। एक अन्य, आज भी वर्तमान, प्रमुख ब्राह्मण कुल-समूह का संस्थापक अगस्त्य भी इसी प्रकार एक कुम्भ से उत्पन्न हुआ था। कुम्भ कोख का, और इस प्रकार मातृदेवी का, प्रतीक है। सात मुख्य ब्राह्मण कुलों के प्रजनक अत्यन्त प्राचीन सुमेरी या सिंधु-सभ्यता के 'सात मनीषियों' की ओर इंगित करते हैं; ब्राह्मण धर्मशास्त्रों में दी हुई विभिन्न सूचियों में उनके नाम नहीं मिलते। आठवें विश्वामित्र ही इन सबमें सचमुच

आर्य हैं। ऐसे 'कुम्भजात' ऋषियों को उच्च आर्य पुरोहित वर्ग में स्वीकार कर लेना एक मूलभूत नवीनता थी। आर्यो और आदिवासियों के इस नये संयोग से एक ऐसा नया विशेषज्ञों का वर्ग—ब्राह्मण वर्ग—विकसित हुआ जिसने बाद में समस्त आर्य कर्मकांड के एकाधिकार का दावा किया। जो भी प्राचीन धर्मग्रन्थ आज हमारे पास हैं वे इसी वर्ण द्वारा सुरक्षित रखे गये, इसी वर्ण द्वारा फिर से लिखे गये, और इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि वे उस वर्ण के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करते हैं। फिर भी उन्होंने एक कार्य अवश्य किया जिसके महत्त्व पर बहुत कम ही ध्यान दिया जाता है : परस्पर-विरोधी समूहों और उनकी बहुत-सी नयी उपासना-विधियों का समान देवताओं को पूजनेवाले एक समाज में आत्मसात करना।

ऋग्वेद में भी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि एक ऐसा नया पेशेवर ब्राह्मण पुरोहित वर्ग अंकुरित होने लगा था जो आवश्यकता पड़ने पर एक से अधिक स्वामी के काम आ सके, भले ही वह आर्य हो अथवा न हो। वश अश्व्य ऋषि ने दास राजा बलबूथ और तरुक्ष को प्रचुर दक्षिणा के लिए, जिसमें सौ ऊँट भी थे, धन्यवाद दिया है और उनके कबीले को बहुत-से आशीर्वाद दिए हैं। ऊँट प्राचीन भारतीय परंपरा में बहुत दुर्लभ है, और भारत के बाहर भी १२०० ई० पू० से पहले उसे पालतू नहीं बनाया जा सका था। इससे शिथिल ढंग से इस ऋचा की तिथि का कुछ अनुमान होता है। बलबूथ और तरुक्ष नामों की ध्वनि भी आर्य नहीं जान पड़ती और संस्कृत ग्रंथों से अन्यत्र कहीं उनका ज़िक्र भी नहीं आया है। इस सबसे यह ध्यान में आता है कि वेद में उल्लेखित कुछ असुर-दानव ऐतिहासिक असीरी हो सकते हैं, जिनमें से राजा तिगलथ-पिलसर तृतीय ने हेलमंद नदी तक आर्यो के प्रदेश पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की थी। एक अन्य ऋचा के आर्य ऋषि ने 'पणियों के प्रमुख ब्रिबु' को उसके संरक्षण के लिए धन्यवाद दिया है।

पूर्व की ओर बढ़नेवाले आर्य भारत के प्रथम आक्रमणकारियों से भिन्न थे। एक नए प्रकार का आदिवासी गुलाम, दास, अब अतिरिक्त परिश्रम के लिए उपलब्ध था। पुराने और नये, आर्य-पूर्व लोगों और आर्यो को मिलाने से एक अत्यन्त विशेषज्ञ पुरोहित वर्ग का निर्माण हो चुका था। पुरातत्त्व की दृष्टि से यह युग अभी तक कोरा है। केवल रथ ही एकमात्र ऐसा भौतिक पदार्थ है जिसका ऋचाओं में इतनी सावधानी से वर्णन है कि उसका रूप निर्धारित किया जा सके। यह आशा तो बहुत व्यर्थ है कि किसी दिन वैदिक रथ खुदाई में मिल जायेंगे। आर्यो के कोई विशेष भांड न थे, यद्यपि उत्तर के (रँगे हुए) धूसर भांडों ने शीघ्र ही यह स्थान प्राप्त कर लिया। दूसरी सहस्राब्दी के अन्त तक की कोई विशेष आर्य अथवा भारत-आर्य प्रविधि भी पुरातत्त्वविद् नहीं पहचान सके हैं। यह अनुमान उचित ही है कि कुछ ऐसे

विचित्र आर्य देवता, जो अन्यत्र कहीं ज्ञात नहीं, आर्य-पूर्व लोगों से लेकर अपना लिये गए थे। जैसे प्रभात की देवी उषस, इन्द्र के अस्त्र-शस्त्र बनानेवाला शिल्पी देवता त्वष्ट्रि, और दुरूह देवता विष्णु जो बाद में भारत में बहुत शक्तिशाली हुआ, उसका अतीत चाहे जो रहा हो। इनमें से उषस की व्यास नदी के किनारे इन्द्र के साथ सुप्रसिद्ध भिड़न्त हुई, जिसके अन्त में उषस की बैलगाड़ी चकनाचूर हो गयी और स्वयं उसे भागना पड़ा। बाद में, इन्द्र और त्रित नामक वीर ने त्वष्ट्रि के पुत्र तीन सिर-वाले दानव-ऋषि त्वाष्ट्र को मार डाला जिसका नाम बहुत-कुछ अपने पिता जैसा ही था। जिस ऋचा में इस हत्या का वर्णन है उसका रचयिता स्वयं खंडित मस्तक त्वाष्ट्र को बताया जाता है, जिसका अर्थ है कि उषस की भाँति ही उसे भी नष्ट नहीं किया जा सका था। उसके तीनों सिर पक्षी हो गए, जिनमें से कम-से-कम दो तो ज्ञात ब्राह्मण-कुलों के टोटेम हैं। इसके अतिरिक्त त्वाष्ट्र को औपनिषद् गुरुओं की परंपरा में स्पष्ट ही बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। इन आख्यानों के अधिक गहरे विश्लेषण से हम मुख्य समस्या से दूर भटक जायेंगे, यद्यपि एक तीन सिरवाले दानव का वध ईरानी मिथकों में भी मिलता है, और उषस का यूनानी एओस से संबंध जान पड़ता है। पर ब्राह्मणों ने कम-से-कम इन्द्र के शत्रुओं के साथ, और वे जिन विरोधी देवताओं की मूलतः पूजा करते थे उनके साथ, कुछ संबंध वेदों में भी स्वीकार किया है।

ऋग्वेदोत्तर आर्य

सभी आर्य पूर्व की ओर नहीं बढ़े और न उनका बढ़ाव एकसमान ही था। बात इतनी मामूली न थी कि और आर्यों ने भारत में प्रवेश किया और अपने पूर्व-वर्तियों को आगे ठेल दिया। जैसा कहा जा चुका है पुरु ई० पू० चौथी शताब्दी के अंत तक पंजाब में डटे रहे, यद्यपि उन्हें भी अपने उपनिवेश और शाखाएं बाहर स्थापित करनी पड़ीं, उनके मूल प्रदेश में थोड़े-से ही पशुचारी लोगों की गुज़र हो सकती थी। दक्षिण की ओर विस्तार रेगिस्तान के कारण न हो पाता था। पूर्व की ओर यमुना के समीप अधिकाधिक घना जंगल था जिसे लोहे के बिना साफ़ करना सुविधाजनक नहीं था। इसके दो ही अपवाद थे; एक, पंजाब और गांगेय प्रदेश के बीच निम्न जल-विभाजक पर सँकरी पट्टी और दूसरी हिमालय की तराई के किनारे-किनारे जहाँ छिछली मिट्टी को आग द्वारा भलीभाँति साफ़ किया जा सकता था। ताँबा राजस्थान से मिल सकता था, पर लोहे की अस्यक, कम-से-कम इतने उच्च कोटि की अस्यकें जिन्हें लाभपूर्वक खोदकर निकाला जा सके, बहुत दूर पर थीं। धातुओं और धातु-विज्ञान का ज्ञान मात्र पर्याप्त न था; मुख्य समस्या खनिज पदार्थों के भण्डार तक पहुँचने की थी। इसलिए आर्य क़बीलों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बन गयीं जिनके बारे

में कुछ भी, उनका नाम तक, ज्ञात नहीं है। कुछ का केवल उल्लेख मात्र यूनानी अथवा भारतीय ग्रंथों में मिलता है।

यजुर्वेद से हमें १०००-८०० ई० पू० के युग के विषय में कुछ निष्कर्ष निकालने में सहायता मिलती है। उससे सम्बद्ध ग्रंथ शतपथ ब्राह्मण ६०० ई० पू० तक जानकारी को बढ़ाता है। कोई निश्चित तिथियाँ ज्ञात नहीं हैं, बेशुमार सामाजिक और जनजातीय विविधता का हम केवल अनुमान लगा सकते हैं। सिकंदर के समय भी पंजाब में कुछ क़बीलों में अनाज का बँटवारा समुदाय के परिवारों के बीच आवश्यकतानुसार होता था, और अतिरिक्त अंश को व्यापार में विनिमय करने के बजाय जला दिया जाता था। कुछ अन्य ने विकसित होकर समृद्ध और आक्रामक राज्यों का रूप धारण कर लिया था। ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में, चीनी यात्री ह्वान-सांग निम्न-मध्य सिंधु प्रदेश में यथेष्ट आबादी को अभी तक पशुचारी अवस्था में, और असभ्य सामूहिक विवाह की प्रथाओं का अनुयायी, पाकर चकित रह गया था। ये लोग संभवतः उत्तर-वैदिक आभीरों के वंशज थे, पर उनसे कम-से-कम इतना तो प्रमाणित होता ही है कि ऐतिहासिक मध्य युग तक आर्य-जीवन-पद्धति कुछ विशेष क्षेत्रों में ही संभव हो सकी थी। सम्पूर्ण देश की स्थिति के बारे में किसी भी समय को लेकर कोई सामान्य स्थापनाएँ नहीं की जा सकतीं। अधिक-से-अधिक हम ऐसे परिवर्तनों पर नज़र डाल सकते हैं जो अंततः सारे देश में संभव हुए।

इतना तो सरसरी नज़र से भी स्पष्ट हो जाता है कि यजुर्वेदीय समाज और उसके कर्मकांड का आधार पशुचारी जीवन था। फिर भी कृषि और धातुओं का बढ़ता हुआ महत्त्व एक स्तोत्र में (जो अभी तक पढ़ा जाता है) बहुत स्पष्ट प्रकट है जो प्रारंभिक ऋग्वेदीय ढाँचे में नहीं बैठता : 'मेरे लिए ··दूध, रस, घृत, मधु, मिलकर खाना-पीना (सग्धि और सपीति), कृषि, वर्षा, अभिजिति, विजय, धन-संपत्ति, वैभव, समृद्धि,···कुयव आहार, क्षुधा से मुक्ति, चावल, जौ, तिल, मोठ, मटरी, गेहूँ, मसूर, बाजरा और जंगली धान की (यज्ञ से वृद्धि हो)। मेरे लिए पत्थर, मिट्टी, पहाड़ियाँ, पर्वत, बालू, वृक्ष, सोना, काँसा, सीसा, राँगा, लोहा, ताँबा, अग्नि, जल, कंदमूल, पौधे, जुती हुई भूमि में उपजनेवाला, अनजुती भूमि में उपजनेवाला, पालतू और जंगली मवेशी, सबकी यज्ञ के द्वारा वृद्धि हो।' इसका काल कोई ८०० ई० पू० है, और इससे यह प्रकट है कि जहाँ आर्यों के ऋग्वेदीय काँस्य युग के पूर्वज किसी समृद्धतर सभ्यता को लूटकर संतुष्ट थे, और उसके बाद नये चरागाहों की खोज करते थे, वहाँ लोह युग के आर्यों के सामने उत्पादन की नयी-नयी समस्याएँ थीं।

भविष्य सिन्धु-सभ्यता-क्षेत्र के पूर्वी भाग के भीतर और परे रहनेवाले लोगों का था। आर्यों को यमुना नदी से पचास मील दूर तक प्रवेश करने में अधिक कठिनाई

न थी। इस क्षेत्र के कम सघन जंगलों को जलाकर साफ़ किया जा सकता था। किन्तु आग से साफ़ की हुई भूमि का वंदोवस्त करने के लिए आवश्यक सामाजिक संगठन सरल कवीले के वश का न था। सबले निचला वर्ण—वर्ण अव तक कवीले में पैदा हो चुके थे—अब शूद्र कहलाता था और यह नाम शायद किसी कवीले के ही नाम से आया होगा (जैसे, निम्न सिन्धु प्रदेश के निवासी आक्सीद्रकोइ जो सिकंदर के विरुद्ध लड़े थे)। शूद्र दास थे जो कवीले के मवेशियों की भाँति ही सम्पूर्ण कवीले या कुल-समूह की सम्पत्ति होते थे; उन्हें कवीले में वैसे सदस्यता के अधिकार प्राप्त न थे जैसे तीन उच्च वर्णों को। इन तीन उच्च वर्णों को ही सचमुच आर्य और कवीले का पूर्ण सदस्य माना जाता था—क्षत्रिय (योद्धा और शासक), ब्राह्मण (पुरोहित), वैश्य (कृषि और पशु प्रजनन द्वारा समस्त अतिरिक्त आहार उत्पन्न करनेवाला)। वर्ण शब्द से इन चार वर्ग-समूहों में से ही किसी एक का वोध होने लगा। ये समूह उन कवीलों में वर्ग-व्यवस्था के सूचक थे जो सम्पत्ति रखने के विकसित रूपों तक पहुँच चुके थे और काफी वड़े पैमाने पर व्यापार-विनिमय करते थे। यह वात प्रत्येक आर्य कवीले के वारे में सही न थी; वहुतों में कोई वर्ग-भेद न था और कुछ में केवल आर्य-शूद्र (स्वाधीन और दास) विभाजन था। प्राचीन यूनान और रोम की भाँति शूद्रों का क्रय-विक्रय नहीं होता था, पर यह भारतीय आर्यों में किसी दया के कारण न था। इसका सीधा कारण यह था कि वस्तु उत्पादन और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभी पर्याप्त विकास नहीं हुआ था। मवेशियों पर एक प्रकार का सामूहिक स्वामित्व होना सहज ही प्रमाणित हो सकता है। 'गोत्र' का शव्दार्थ है 'गायों का वाड़ा', और उसका अर्थ वहिर्विवाही कुल भी है। यह ज्ञात है कि एक गोत्र के मवेशियों पर, उन्हें दूसरों से अलग पहचानने के लिए, कोई विशेष चिह्न, छाप या कान पर कोई खाँचा वना रहता था। सम्पत्ति के रूप का नाम उस सामाजिक इकाई पर भी आरोपित हो गया जिसका उस संपत्ति पर अधिकार था और वाद के क़ानूनों में यह नियम मिलता है कि उत्तराधिकारी विना मरनेवाले की सम्पत्ति गोत्र के अधिकार में चली जाती है।

शूद्र जाति के अस्तित्व का परवर्ती भारतीय समाज पर विचित्र प्रभाव पड़ा। प्राचीन यूरोपीय (विशेषकर यूनानी-रूमी प्रकार की) सम्पत्तिमूलक दासप्रथा का आकार और महत्व भारत में उत्पादन के साधनों और संवंधों में कभी वड़ा न हो सका। हथियाने योग्य अतिरिक्त उपज के लिए सदा शूद्र मौजूद रहा। जाति-प्रथा का विकास कवीले के अलगाव को तोड़कर एक सामान्य वर्ग समाज वनने का पूर्व-सूचक था। कुछ ब्राह्मण पहले से ही एक से अधिक कुल या कवीले का काम करने लगे थे, जो कई समूहों के वीच किसी-न-किसी प्रकार के संवंध को सूचित करता था। आर्थिक पैमाने के दूसरे छोर पर कुछ ब्राह्मण अपने मवेशियों के साथ वहुत छोटे-छोटे समूहों में

पूर्व के घने जंगलों की ओर बढ़ने लगे थे; कभी-कभी व्यक्ति के रूप में भी, किसी भी सम्पत्ति और रक्षा अथवा आखेट के लिए अस्त्र-शस्त्र के बिना ही। यह स्पष्ट था कि उनसे किसी को हानि नहीं पहुंच सकती थी, और जंगलों में रहनेवाले आहार-संग्रहक नागा वहशियों से समझौता करने में उनका बड़ा महत्त्व था। वे प्रायः उनमें शामिल हो जाते या उनके साथ मैत्रीपूर्वक रहने लगते। उनकी सुरक्षा केवल उनकी दरिद्रता और स्पष्ट ही अहानिकर स्वभाव के कारण ही थी। दूसरी ओर व्यापारी आवश्यकता होने पर अपने साथ सशस्त्र क्षत्रियों को ले जाते थे जो आदिवासियों (निषादों) से उनकी रक्षा करते थे। ये क्षत्रिय धीरे-धीरे भृत्तिभोगी समूह बन गये जो भाड़े पर किसी के लिए भी लड़ने को तैयार रहते थे।

धर्मग्रंथों में यज्ञों में रक्त-बलि की बहुत अधिक चर्चा है। ऐसी सामूहिक बलि-क्रियाएँ अग्नि के अतिरिक्त अन्य वैदिक देवताओं के लिए भी, यद्यपि सर्वदा पवित्र अग्नि के सामने ही, होती थीं। इन अनुष्ठानों की अवधि और जटिलता निरंतर बढ़ती गयी। जितने प्रकार के और जिस संख्या में पशुओं की बलि होती थी वह आज तो अविश्वसनीय लगता है। बलि योग्य श्रेष्ठतम 'पशु' थे, मनुष्य, बैल, अश्व; किंतु यजुर्वेद और ब्राह्मणों के अनुसार इन बलि-अनुष्ठानों में प्रायः प्रत्येक पशु और पक्षी का वध होता था। असीमित आनुष्ठानिक हत्या में इस विकट रूप में लगे रहने से सिद्ध होता है कि समाज के जीवन-निर्वाह के साधन चुकने लगे थे। ऊपर जिस स्तोत्र का उद्धरण दिया गया है उससे प्रगट होता है कि मवेशी, खाद्य और समृद्धि में वृद्धि ही यज्ञ के मुख्य उद्देश्य थे, और यह भी कि इन सबको दूसरों पर आक्रमण द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता था। यज्ञ युद्ध में विजय के लिए और आमतौर पर युद्ध के संचालक की सफलता के लिए अपरिहार्य समझे जाते थे। उदाहरण के लिए, अश्वमेध यज्ञ अब आर्यों की अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण एक पशु का साधारण वध और भक्षण मात्र न था। प्रधान रानी को एक वीभत्स प्रजनन अनुष्ठान में वध्य अश्व के साथ संयुक्त होना पड़ता था, जो संभवतः राजा अथवा उसके प्रतिनिधि की बलि के किसी पूर्ववर्ती अनुष्ठान का स्थानापन्न था। अश्व को बलि के एक वर्ष पूर्व से चाहे जहाँ विचरने दिया जाता था, उसके उन्मुक्त विचरण में किसी अन्य कबीले द्वारा बाधा को युद्ध की चुनौती माना जाता था। निरंतर युद्धों और यज्ञों के कारण ब्राह्मणों की दक्षिणा बढ़ गयी और क्षत्रिय व्यस्त रहने लगे। यज्ञ का अधिक गहरा, स्वीकृत सामाजिक उद्देश्य पहले से ही था। कर्मकांड-संबंधी ग्रंथों में साफ़-साफ़ कहा गया है— 'वैश्य की भाँति···दूसरों को कर देनेवाला, दूसरों के द्वारा भक्षणीय, इच्छानुसार दमन करने योग्य···शूद्र की भाँति···दूसरों का सेवक, इच्छानुसार हटाने योग्य 'इच्छानुसार वध करने योग्य।' इन दोनों निचले वर्णों को, जो प्राथमिक उत्पादक थे, 'वध्य

करने के लिए', संपूर्ण कबीले के यज्ञ की शोभायात्रा में दो उच्चतर वर्णों के बीच परिबद्ध रखा जाता था। इसको देखते हुए जाति-व्यवस्था के मूलभूत वर्ग-स्वरूप में किसी संदेह की गुंजाइश नहीं, यद्यपि ये वर्ग अभी उत्पादन के आदिम स्तर पर थे। पहले-पहल करों को बलि कहा जाता था क्योंकि वे कबीले अथवा कुल के लोगों द्वारा यज्ञ के अवसर पर प्रधान को भेंट-रूप में दिये जाते थे। इस काम के लिए एक विशेष अधिकारी भी होता था जो केवल इसी संक्रमण काल में मिलता है—भाग-दुध (राजकीय बँटवारा करनेवाला)। ऐसा जान पड़ता है कि उसका कार्य था बलि-उपहारों का कबीले के राजा के निकट अनुयायियों के बीच उचित बँटवारा करना, और शायद करों का निर्धारण भी।

अभी तक नाम लेने योग्य नगर नहीं के बराबर थे। संकट के समय कबीले या कुल के सारे लोग उस लकड़कोट के पीछे एकत्र हो जाते थे जहाँ प्रधान साधारणतः रहता था। धातुओं की कमी और पंजाब की नदियों के निरन्तर मार्ग-परिवर्तन के कारण बड़ी या स्थायी बस्तियाँ कठिन थीं। सबसे छोटी इकाई ग्राम थी, जिसका बाद में अर्थ 'गाँव' हो गया। पर इस समय यह शब्द केवल एक सजात समूह का सूचक था जो साधारणत: अपने अलग ग्रामणी के नेतृत्व में अपने मवेशियों और शूद्रों के साथ स्थान बदलता रहता था; ग्रामणी कबीले का एक अधिकारी था जो प्रधान के प्रति-उत्तरदायी होता था। गर्मियों में ग्राम अपने मनुष्यों और मवेशियों को पानी के समीप किसी अच्छे चरागाह में ले जाता था। वर्षा ऋतु में वे लौटकर कुछ खेती के लिए किसी ऐसी ऊँची भूमि पर आजाते थे जो साधारणत: बाढ़ से बची रहती हो। अगर अभियान में एक ही कबीले के भी दो ग्राम एक साथ आ जाते, तो सदा बखेड़ा खड़ा हो जाता था। यह एक नये शब्द 'संग्राम' से प्रकट होता है, जिसका शब्दार्थ है 'ग्रामों का मिलना', पर संस्कृत में जिसका अर्थ युद्ध है। कबीला राज्य (राष्ट्र) के विभिन्न ग्राम केवल सम्मिलित यज्ञ के समय अथवा किसी सामान्य शत्रु का प्रतिरोध करने के लिए ही एकत्र होते थे। ऐसे लोगों के ऊपर राजा साधारणतः कबीले के बहुत-से कुलों के मुखियों में से कोई प्रमुख व्यक्ति होता था, जो प्रधान के पद पर बारी-बारी से या निर्वाचन द्वारा भी पहुँचता था और वंशानुगत विशेषाधिकारों द्वारा भी। 'राजन्य' शब्द (राज्य करने योग्य) राजकुमार, राजा और सामान्य क्षत्रिय, सभी के लिए समान रूप से व्यवहार में आता था। राजकीय विशेषाधिकार कबीले की प्रथाओं और कानूनों द्वारा बहुत सीमित रहता था। किन्तु निरंतर युद्धों के कारण राजा के अधिकार बढ़े और राजा का पद एक ही परिवार तक सीमित रखने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के लिए संभाव्य प्रतिद्वन्द्वियों को, चाहे वे अन्य राजा, भूतपूर्व प्रधान हों अथवा कुलों के शक्तिशाली मुखिया, किसी-न-

किसी प्रकार हटाना (अपरुद्ध करना) पड़ता था। इस अनिवार्य निर्वासन से, जो बिलकुल प्राचीन एथेन्स के देश-निष्कासन जैसा है, षड्यंत्र की प्रवृत्ति बढ़ी और कबीले के बन्धन और भी ढीले होने लगे। एक नियमित वर्गमूलक राज्यतंत्र, जो मुख्य संचालक शक्ति के रूप में कबीले की एकता से बिलकुल मुक्त हो, उत्पन्न होने को था।

नागर पुनरुत्थान

ऊपर जिस समाज का वर्णन किया गया उसे सभ्य कहना कठिन है। ब्राह्मण विचारधारा आज भी वेदों को समस्त भारतीय लेखन में सर्वोपरि मानती है। पर यदि व्यवहार में सचमुच वेदों की वही स्थिति बनी रही होती, तो भारतीय संस्कृति में लिखने योग्य कुछ न होता। उच्चतर संस्कृति के विकास के लिए सामाजिक जीवन के किसी ऐसे रूप की आवश्यकता थी जो वैदिक समाज की अल्पताओं और अंतहीन संघर्षो से रहित हो। यज्ञ-बलि और उससे सम्बद्ध सामाजिक दर्शन की असहनीय अतिरंजना बंद गली की ओर ले जाती थी। नये समाज की मुख्य कथा अगले अध्याय की विषय-वस्तु है, पर यहाँ हम प्रारंभिक बातों पर नज़र डाल सकते हैं। संक्षेप में, नगर जीवन ऐसी नयी स्थिति थी जो उत्तर भारत में ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दी के प्रथम चरण में उत्पन्न हुई। लगभग ७०० ई० पू० के बाद से, नागर दिनचर्या, व्यापार और पक्की तौल के चाँदी के सिक्कों के लिए आवश्यक सुचिन्तित लेखा-विधि, साक्षरता के बिना संभव नहीं हो सकती थी। यह अभी तक निर्धारित नहीं हुआ है कि उस समय वर्णमाला ठीक-ठीक क्या थी और किस हद तक उसका उपयोग होता था। निश्चित रूप से पंजाब के बृहत्तर भाग में आर्य कबीले अनपढ़ ही थे; पर यह अनुमान भी प्रबल है कि परवर्ती ब्राह्मी लिपि, कम-से-कम प्रारंभिक रूप में, नये नगरों में ज्ञात हो चुकी थी। बाकी तो, बुद्ध द्वारा एक 'गृहस्थ' के पुत्र को राजगृह जैसे नगर में शिष्टतापूर्ण व्यवहार न करने के लिए डाँटने के प्रसंग के बावजूद, यह याद रखना चाहिए कि ई० पू० सातवीं शताब्दी में सचमुच बड़े नगर दो से अधिक नहीं रहे हो सकते। अन्य सब ऐसे क़स्बे रहे होंगे जिनमें सब व्यक्ति एक-दूसरे को जानते होंगे, अथवा ऐसे गाँव जहाँ आवारा फिरने के लिए शायद ही कोई सड़क रही हो। जो अब केवल सामान्य नागरिक आचरण जान पड़ता है, वह उस समाज के लिए नयी बात थी जिसे अपने सामाजिक जीवन के मुख्य केन्द्र के रूप में 'संघागार' (पुरुषों के एकत्र होने के लिए कबीले का स्थल) का परित्याग अभी करना बाकी था।

हड़प्पा (जो विजय के बाद कुछ समय तक अधिकृत रहा) और मोहेंजो-दाड़ो (जो हमले के बाद अचानक ही और अकाल-ध्वस्त हो गया) के अन्तिम विध्वंस के

बाद पहले नगर सिंधु-क्षेत्र और उसके परे पूर्वी किनारे पर बनाये गये। उनका पैमाना निश्चित रूप से छोटा था, पर वे ऐसे नगर थे जिनके लिए पशुचारी अर्थव्यवस्था की अपेक्षा, जिसका महत्त्व अभी तक बहुत था, कृषि के ऊपर कहीं अधिक आग्रह आवश्यक था। यजुर्वेद में बारह बैलों द्वारा खींचे जानेवाले हलों का उल्लेख होने लगा था; ऐसे हल आज तक व्यवहार में आते हैं, और वे गहरी जुताई और उस भारी मिट्टी को उलटने के लिए अनिवार्य हैं जो अन्यथा अच्छी फसल नहीं देती अथवा उर्वरता खो देती है। मज़बूत हल तो काठ को काँसे के औज़ारों से छीलकर बनाया जा सकता था, पर पूर्वी पंजाब में, विशेषकर जल-विभाजक के समीप पथरीली भूमि पर, फाल लोहे का होना ज़रूरी था। यह लोहा कहाँ से आया ? क्या ताँबे के कोई नये स्रोत नहीं थे जो तलवारों और अन्य औज़ारों के लिए, जो अभी तक काँसे के होते थे, अधिकाधिक परिमाण में आवश्यक होने लगा था ?

धातुएँ यथेष्ट परिमाण में पूर्व से आना कोई ई० पू० ८०० से शुरू हुआ। भारत में लोहे और ताँबे के श्रेष्ठतम भंडार गांगेय प्रदेश के पूर्वी छोर पर, दक्षिण-पूर्वी बिहार (ढालभूम, मानभूम, सिंहभूम ज़िलों) में हैं। किन्तु इन प्रदेशों में आज तक जंगल और वर्षा सघन है और इनमें जंगल काटने से कृषि में इतना लाभ नहीं हो सकता जितना गांगेय प्रदेश में होता है। इसलिए, पड़ौस में धमन-भट्टियों और धातु के कारखानों के बावजूद, काफ़ी आदिम कबीलों का जीवन अभी तक यहाँ मौजूद है। हम जानते हैं कि इस प्रदेश से ताँबे की निकासी हुई थी। जहाँ ताँबे के खनिज भंडार हैं वहीं अज्ञात काल की लोहचून और खंगर की राशियाँ भी मिलती हैं और लगभग १००० ई० पू० के बेशुमार ताँबे के पदार्थ सारे गांगेय मैदानों में पाये जाते हैं। कुछ काँटेदार बरछियों, कुल्हाड़ियों और अर्द्ध-मानवीय आकृतियों के रूप में हैं। सबसे बड़ी छड़ की कुल्हाड़ियाँ कोई दो फुट लंबी और अनगढ़ छैनी-जैसे सिरे वाली, इतनी बेडौल हैं कि औज़ार नहीं रही हो सकतीं। ये पदार्थ स्पष्ट ही व्यापारियों के संचय हैं। वे स्वयं आदिवासियों के बनाये हुए नहीं हैं, क्योंकि ताँबे के शोधन के लिए नियंत्रित अग्नि और इसलिए अच्छे आवे होना आवश्यक है। ऐसे आवों से उत्तम भांड भी तैयार किये जा सकते हैं, और यह माना जाता है कि वास्तव में वे पहले, पहल भाँडों के आवों से ही प्राप्त हुए थे। पर ताँबे के इन ज़खीरों के साथ जो भांड मिले हैं वे इतने बेहद भोंडे, बुरी तरह पकाये गये, और गेरू से धुले हैं कि खुदाई में ही टूट जाते हैं। इसलिए ये सिंधु-सभ्यता के लोगों और आर्यों की (जिन्होंने आम तौर पर उत्तर के-से चित्रित धूसर भांड व्यवहार करना शुरू कर दिया था) बस्तियाँ तो हो नहीं सकतीं। निष्कर्ष यह है कि ये व्यापारी भ्रमणशील आर्य होंगे। लेकिन वैसे गेरू-धुले निम्न कोटि के भांड हस्तिनापुर जैसे नये आर्य-स्थलों में चित्रित

धूसर भांडों के नीचे और प्राकृतिक मिट्टी के ठीक ऊपर दबे मिले हैं। स्पष्ट ही सभी आर्य पंजाब में पशुपालन के लिए नहीं बसे थे। निश्चित रूप से दूसरी सहस्राब्दी में, विशेषकर दूसरी प्रमुख आर्य तरंग में, ऐसे लोग थे जिनमें अग्रगामियों के लिए आवश्यक दृढ़ता और साहस मौजूद था। वे अच्छे योद्धा थे और धातुविज्ञान के भी, विशेषकर लोहे के, जानकार थे, जो पहली सहस्राब्दी के प्रारंभ में एशिया के उन सब भागों में प्राप्त हो चुका था जिनमें होकर आर्य भारत पहुँचे थे। गंगा की घाटी का जंगल अभी इतना सघन था कि वहाँ खेतिहर बस्तियाँ कठिन थीं। इसलिए मुख्य आर्य बस्तियाँ पूर्व की ओर एक श्रृंखला में, हिमालय की तराई के किनारे-किनारे दक्षिणी नेपाल तक फैलीं और फिर दक्षिण की ओर मुड़कर बिहार के चंपारन जिले में होती हुई गंगा तक जा पहुँचीं। भूमि को जंगल जलाकर निकाला गया था जो गंगा के अधिक पास संभव न होता। यह पद्धति, जिसने प्रारंभिक विस्तार को गंडक नदी के पश्चिम की निचली पहाड़ियों तक सीमित रखा, शतपथ-ब्राह्मण के एक प्रसिद्ध परिच्छेद में समझायी गयी है। इसका काल ७०० ई० पू० से पहले का होना चाहिए। पर चंपारन में होकर दक्षिण की ओर मोड़ उन खनिज भंडारों तक पहुँचने के लिये ही था जो गंगा के दक्षिण में आर्यों की एक मात्र प्रारम्भिक बस्ती राजगिर की पहाड़ियों के परे थे।

यह स्पष्ट है कि इतिहास में पूरी निरंतरता वाले प्रारंभिक नगर, कछारी क्षेत्रों को आबाद करने में कठिनाई के बावजूद, नदियों के मार्ग पर बसे हुए हैं: यमुना के किनारे कुरु प्रदेश के इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) और हस्तिनापुर तथा कोसाम्बी (संस्कृत, कौशाम्बी) और गंगा तट पर बनारस (वाराणसी, काशी) विख्यात हो गये हैं। प्रथम सहस्राब्दी के प्रारंभ में उनकी स्थापना केवल इस आधार पर ही समझी जा सकती है कि अभेद्य जंगलों और दलदल में से तेज़ी से बहनेवाली इन प्रबल नदियों पर पहले से नौ-यात्रा होने लगी थी। ऋग्वेद की एक सूक्ति में उचथ्य और ममता के ब्राह्मण पुत्र दीर्घतमस का वृद्धावस्था में नौकाचालक होना बताया गया है। प्राचीनतम वेद में सौ चप्पू वाले जहाज़ों और निकटतम भूमि से तीन दिन की जल-यात्रा का संक्षिप्त-सा उल्लेख हुआ है, जिससे पता चलता है कि आर्य नाव चलाना जानते थे। इसकी एकमात्र व्याख्या यही हो सकती है कि ये अज्ञातनामा साहसी अग्रगामी ई० पू० पहली सहस्राब्दी में समुद्र तक जा पहुंचे थे और उन्होंने खनिज भंडारों को खोज निकाला था। अन्यथा गंगा के तट पर बनारस के किले में आठवीं शताब्दी के तटबंध से पूर्ववर्ती संचयों का कोई कारण या अर्थ नहीं हो सकता। एक बार खनिज भंडार हाथ लगने के बाद, पहाड़ की तराई में बस्तियों की शृंखला को किसी भूमि के रास्ते से नदी के पास बढ़ाकर उतनी दूर ले जाना आसान था जहाँ तक

जंगल की भूमि साफ की जा सके। यह स्थापना इतनी ऊटपटांग नहीं है जितनी लग सकती है। स्वयं नदी से अपार मात्रा में मछली मिल सकती थी और किनारे के जंगलों से शिकार। आवश्यकता केवल उद्यम के लिए निर्भीक साहस की थी।

अगस्त्य कुल और विंध्याचल के दक्षिण में आर्यों के प्रवेश के बीच कुछ संबंध अवश्य है, किंतु अभी तक इसका रूप मिथक का ही है, भले ही उसे दक्षिणी महान पाषाणों से जोड़ने का लोभ होता हो। मैसूर राज्य में ब्रह्मगिरि के महापाषाण रायचूर ज़िले में नव-पाषाणयुगीन पशुपालकों द्वारा छोड़े हुए राख के टीलों से संबंधित हैं। पत्थर के औज़ारों और भांडों की क्रमशृंखलाओं से यह सिद्ध हो जाता है। रेडियोकारबन द्वारा राख के टीलों का काल तीसरी सहस्राब्दी के अन्त से कुछ पहले निकलता है। उनके धूसर भांडों और नर्मदा के किनारे दूसरी सहस्राब्दी के इक्का-दुक्का संचयों में भिन्न प्रकार के भांडों के साथ कहीं-कहीं प्राप्त काँसे के टुकड़ों के कारण कुछ पुरातत्त्वविदों ने ईरान से सम्पर्क का अनुमान लगाया है। यदि ऐसा हो, तो यह प्रारंभिक प्रसार पहेली ही है। क्या आदि-आर्यों की कोई शांतिपूर्ण लहर आयी जो सिंधु प्रदेश में होकर उस समय फैल गयी जब वहाँ की नागर संस्कृति अपने शिखर पर थी? क्या आर्यों ने लूटमार का ढंग तभी शुरू किया जब बाद की लहर ने युद्ध में काँसे के शस्त्रों का उपयोग सीख लिया था? दूसरी ओर पहली सहस्राब्दी के प्रारंभ में गंगा का अन्वेषण पुरातत्त्व द्वारा दिखलाया जा सकता है। रायचूर और मैसूर में 'उत्तरी घुसपैठ' का स्तर निश्चित रूप से परवर्ती है और लोह युग का अग्रदूत है। इससे भिन्न, पश्चिमी बंगाल में अजय नदी के किनारे पांडु राजार ढिबि में 'ताम्र-पाषाणिक' संचयों में निरंतरता का अभाव दिखाई पड़ता है। नर्मदा किनारे के समरूप संचयों की भाँति ये भी दूसरी सहस्राब्दी के अन्वेषकों, संभवतः आर्यों की केवल इक्का-दुक्का अस्थायी बस्तियों के सूचक हैं, जबकि अतरंजीखेड़ा स्थायी था।

महाकाव्य युग

इन प्रारंभिक छोटे नगरों में कुरु-देश (दिल्ली-मेरठ) के दो नगरों ने भारतीय परंपरा पर अमिट छाप छोड़ी है; यद्यपि अन्ततः वाराणसी ही ब्राह्मणवाद के लिए पवित्रता का केन्द्र बना जो वह आज तक है। पंजाब और उत्तर प्रदेश के बीच विभाजन ऐतिहासिक काल में सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। दिल्ली आजकल भारत की राजधानी है, और कुछ शताब्दियों से रही है। विभिन्न युगों में कुरु-देश में पानीपत में ऐसे कई निर्णायक युद्ध हो चुके हैं जिनसे देश के समस्त उत्तरी क्षेत्र के भाग्य का निबटारा होता रहा है। महान भारतीय महाकाव्य **महाभारत** की विषय-वस्तु

कुरुक्षेत्र का संहारकारी युद्ध ही है। यदि ऐसा युद्ध सचमुच हुआ हो तो, ऐतिहासिक राजाओं तक पारंपरिक राजवंशों की गणना के अनुसार, वह ई० पू० ८५० के आस-पास ही हुआ होगा। इस तथाकथित घटना का अनुमाप उस समय छोटा ही रहा होगा, किन्तु उसका साहित्यिक महत्त्व यूनानी भाषा में त्रोजन युद्ध के समान ही वहुत अधिक है। कुरु-देश के हस्तिनापुर में प्रारंभिक वस्ती प्राचीन वैदिक पुरु जन की छोटी शाखा के कारण थी। हस्तिनापुर द्वितीय के चित्रित धूसर भांडों को पुरु-कुरु मृत्तिका-शिल्प माना जाना चाहिए, सामान्य आर्य भांड नहीं। एक दूसरी शाखा ने, जो पांडव (पांडु के पुत्र) कहलाते थे, (संभवतः दिल्ली में पुराने किले के पास) जंगल जलाने की पारंपरिक पद्धति द्वारा इन्द्रप्रस्थ बसाया। जंगल साफ करने के इस कार्य की अग्निदेवता के लिए एक महान यज्ञ के रूप में कल्पना की गयी थी। अग्नि के घेरे से निकलने की चेष्टा करनेवाले प्रत्येक जीवधारी का वध करके नये क्षेत्र को हल द्वारा खेती के लिए आवाद किया गया। तब दोनों पड़ोसी और संवंधित राज्यों में परस्पर विनाश के लिए युद्ध हो गया। वाद में इसको ऐसा युद्ध वताया गया जिसमें सारे संसार (जिसका अर्थ है भारत) पर अधिकार के लिए लाखों व्यक्तियों ने भाग लिया। किंतु उस काल में उत्पादन इतना विकसित न था कि वड़ी सेनाओं का पालन किया जा सके, प्रादेशिक राज्यों द्वारा दूर-दूर से वड़ी-वड़ी सुसज्जित टुकड़ियाँ दिल्ली भेज सकना तो दूर की वात है। वास्तव में किसी कुरु मुखिया के शासन में एक छोटा-सा कवीला राज्य कुरु-देश में पाँचवीं शताब्दी तक जीवित था, पर उसके वाद जल्दी ही मिट गया। परवर्ती कवियों की कल्पना के वाहर, किसी भी समय पूरे देश पर कुरु-प्रभुत्व का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह कहा जाता है कि कुरुओं के वंशज परीक्षित का तक्षशिला में सम्राट के रूप में राज्याभिषेक हुआ था। पर चौथी शताब्दी से पहले तक तक्षशिला एक गांव से अधिक कुछ न था, और तव उसने किसी परीक्षित के विना ही इतिहास में प्रवेश किया। महाभारत के वाद वंशानुक्रम में चौथे राजा को वाढ़ के कारण हस्तिनापुर छोड़ना पड़ा था, जिसके कुछ पुरातात्त्विक प्रमाण मौजूद हैं। वह पुरु-कुरु राजधानी को नदी पर नीचे कोसाम्वी में ले गया।

काव्य के रूप में महाभारत का विकास इस काल्पनिक महायुद्ध का सवसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इस कृति का आरम्भ, इलियट की भाँति ही, एक अभिजात वंश-परम्परा के अंत पर शोक-काव्य के रूप में हुआ था। किन्तु विजेता अभी तक राज कर रहे थे, इसलिए स्वभावतः गीतों को जल्दी ही वदलकर उनको कुछ-कुछ व्यंग्यपूर्ण जय-गान का रूप दे दिया गया, और यह नाम अभी तक इस रचना से जुड़ा हुआ है। किसी भी प्रसंग के गाने के पहले आमतौर पर (जैसा कि उन दिनों अन्य देशों में भी

होता था) एक पवित्र (यहाँ वैदिक, जैसे यूनान में होमरिक) स्तुति गायी जाती थी। यदि अनुष्ठान में कोई संरक्षक मौजूद होता तो प्रशस्ति के साथ उसकी वंशावली भी गायी जाती थी। इन स्तुतियों के कारण ब्राह्मणों के लिए इस परम्परा पर अधिकार कर लेना आसान हो गया। पेशेवार चारण (सूत) ही प्रारम्भिक कवि और गायक थे और तब तक रहे जब तक ब्राह्मणवाद ने पुरोहित जाति को अन्य आर्यों से वहुत अधिक पृथक् नहीं किया। ब्राह्मणों द्वारा संशोधित संस्करण में—अब केवल वही उपलब्ध है—कोई ८०,००० श्लोकों और कुछ गद्य अंशों का संग्रह है जिसे ई० पू० २०० और २०० ईस्वी के वीच वर्तमान रूप प्राप्त हुआ। प्रस्तावना में कहा गया है कि २४,००० श्लोकों का एक पूर्ववर्ती संस्करण उस समय भी मौजूद था जो अब पूरी तरह लुप्त हो चुका है। नये संपादकों ने श्रोताओं के विभिन्न वर्गों को आकर्षित करने के लिए हर संभव आख्यान और मिथक को उसमें जोड़ दिया है। बहुत-से प्रसंग, जिनका युद्ध से तनिक भी कोई संबंध नहीं, विभिन्न पात्रों के वर्णनों में कथा में से कथा के रूप में मौजूद हैं। इस स्फीति को एक आधारभूत कहानी का ढाँचा जोड़ कर अधिक स्वाभाविक वना दिया गया। राजा जनमेजय तृतीय ने नागों के संपूर्ण विनाश के लिए एक विराट नाग यज्ञ किया। ये सर्प-दानव इच्छानुसार सर्प या मानव का रूप ग्रहण करने में समर्थ थे और उनमें से एक ने जनमेजय के पिता परीक्षित द्वितीय को डस लिया था। युद्ध की कथाएँ तथा अन्य इतिवृत्त ऐसे दीर्घकालीन यज्ञ के समय कहे जानेवाले कथाचक्र की भाँति थे। अर्थात्, अपने मौजूदा रूप में महाभारत एक महायुद्ध का नहीं, वल्कि एक महान् यज्ञ का विवरण है। महाभारत के प्रसार की प्रक्रिया २०० ईस्वी में ही समाप्त नहीं हुई, बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती रही। देश के विभिन्न भागों के विभिन्न पाठान्तरों की तुलना से एक विवेचनात्मक आद्य-रूप तैयार करना प्रायः संभव हो गया जो चौथी शताब्दी का हो सकता है। मूल गीतों से मिलते पाठ के पुनरुद्धार का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

अधिकांश परवर्ती परिवर्धनों का स्वरूप धार्मिक है, जो वैदिक कर्मकांड और धर्म से भिन्न बातों से संबंधित हैं। उसके द्वारा ब्राह्मणों ने, बौद्ध धर्म द्वारा उनकी प्राचीन प्रतिष्ठा को बहुत कम कर देने के बाद, समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान फिर से प्राप्त कर लिया। इनमें सबसे प्रतिभाशाली परिवर्धन भगवद्गीता है, जो युद्ध के पहले भगवान् कृष्ण द्वारा दिया गया उपदेश माना जाता है। पर यह देवता स्वयं ही नया था; उसका चरम देवत्व तो वाद में शताब्दियों तक स्वीकृत नहीं हुआ। उसमें प्रयुक्त संस्कृत ईसा की तीसरी शताब्दी की है। ऐकिक ब्राह्मणीकृत महाकाव्य के रूप में महाभारत का अपने प्रथम संस्करण की अवस्था में प्रमुख कार्य तो, कृष्ण के देवता का कोई पद प्राप्त करने के बहुत पहले ही, उसके ढांचे की कथा द्वारा पूरा हो चुका

था। वास्तव में, ढांचे की कथा का महत्त्व जितना प्रायः समझा गया है उससे कहीं अधिक है। जनमेजय का यज्ञ, जो उस कथा में वास्तविक युद्ध से अधिक प्राथमिकता प्राप्त कर लेता है, इतिवृत्त के अनुसार बिना पूरा किए हुए ही कर देना पड़ा था। इस विचित्र परिणति का श्रेय ब्राह्मण पिता और नाग माता के पुत्र युवक आस्तीक की प्रतिभा को था। इसके अतिरिक्त जनमेजय का मुख्य पुरोहित सोमश्रवस भी वैसे ही संयुक्त माता-पिता की संतान था। कट्टर ब्राह्मण नियमों के अनुसार ब्राह्मण पिता तथा अन्य जाति की माता के बच्चे कभी ब्राह्मण नहीं माने जा सकते। इसलिए यदि अति-स्फीत महाकाव्य के संपादक ब्राह्मण अपनी वंश-परंपरा आर्य घेरे के इतने बाहर होने पर भी बेझिझक घोषित कर सके, तो नाग लोग दानव या निम्न जाति के नहीं, किसी-न-किसी प्रकार से बहुत संभ्रान्त समुदाय के रहे होंगे। आस्तीक की वंशपरम्परा यायावर गोत्र की थी। उस नाम का एक परिवार ईसा की नवीं शताब्दी तक मौजूद था। विख्यात संस्कृत कवि-नाटककार राजशेखर, जो ब्राह्मण नहीं था, या कम-से-कम जिसने मराठा या राजपूत सामंती चाहमान कुल की अ-ब्राह्मण स्त्री से विवाह किया था, इसी परिवार का था।

तो फिर कौन थे ये नाग—सर्प-दानव किन्तु साथ ही मानव भी, इतने दुष्ट भी कि विशेष प्रबल यज्ञ द्वारा उनका विनाश आवश्यक हो, किन्तु फिर भी उनकी स्त्रियाँ ब्राह्मणों की वैध तथा अत्यन्त सामान्य संतानों की माँ बन सकें? इसका उत्तर उपलब्ध सामग्री से देना संभव है। स्पष्ट है कि 'नाग' शब्द वनों में रहनेवाले उन आदिवासियों का सूचक जातिवाचक पद हो गया था, जो अनिवार्यतः एक-दूसरे से सम्बद्ध या सम्बन्धित न थे, पर जिनका टोटेम नाग था, या जो नाग की पूजा करते थे, जैसा कि बहुत से भारतीय आदिवासी (और केवल आदिवासी ही नहीं) आज भी करते हैं। ये विशेष नाग लोग उस समय पास के जंगलों में थे जब आर्यों ने पहले-पहल कुरु-देश को बसाया। आहार-संग्रह खुली, आधी-उजाड़ नदी-घाटियों या पंजाब की निचली पहाड़ियों की अपेक्षा गांगेय वनों में अधिक आसान था। किन्तु उसी सघन जंगल के कारण नाग लोगों को जीतना या उन्हें कबीले का दास बना लेना असम्भव था, जैसा पश्चिम में दासों और शूद्रों के साथ सम्भव हो सका था। जब तक वे स्वतन्त्र आहार-संग्रहक रहे तब तक कभी उन्हें नीची जाति में पददलित नहीं किया गया। स्वयं वेदों से प्रकट है कि ऐसे गरीब ब्राह्मण उन दिनों मौजूद थे जिन्हें किसी आर्य कबीले का संरक्षण प्राप्त न था, जो शान्तिपूर्वक जंगलों में जाकर चाहे जैसे, प्रायः आहार-संग्रह करके अथवा अधिक-से-अधिक कुछ मवेशियों के सहारे, जीवन-यापन करते थे। विद्या अध्ययन की ब्राह्मण-परम्परा में, जो प्रायः ईसाई युग प्रारम्भ होने तक प्रचलित रही और सिद्धान्ततः आज भी अनिवार्य है, प्रत्येक शिष्य को ऐसे ही किसी तपोवन में बसे

किसी वरिष्ठ गुरु के चरणों में बारह वर्ष तक शिक्षुता करनी पड़ती थी; उसके लिए गुरु के मवेशियों की देखभाल करना, अलिखित वेदों को कंठस्थ करना, कर्मकांड के प्रत्येक पक्ष में पारंगत होना, और इस प्रकार स्वयं पूर्णतः दीक्षित ब्राह्मण बनकर निकलना आवश्यक था। इन आश्रमों में आखेट अथवा कृषि का चलन नहीं था। यह अत्यन्त प्रारम्भिक युग की बात है इसलिए नाग आदिवासियों के साथ अंतर्विवाह वर्जित न था; पुरोगामी ब्राह्मण के साथ अपनी जाति की स्त्रियाँ बहुत कम ही होती थीं, विशेषकर तब तक जब तक गुरुकुलों की प्रथा पूरी तरह स्थापित न हो गयी। नागों से संघर्ष का कोई कारण न था, क्योंकि वे न तो कभी (आसाम के आधुनिक नागाओं से भिन्न) युद्धप्रिय थे और न आहार-उत्पादक, और इसलिए जंगलों में विरल बिखरे हुए रहते थे। हस्तिनापुर प्रथम के बुरी तरह सिके हुए, निम्नकोटि के, गेरू-धुले भांड अनुमानतः परवर्ती नागों के बनाये हुए हैं। नाग लोग खेती में जंगल साफ़ होने के साथ-साथ धीरे-धीरे क्रमशः आत्मसात हुए। महाभारत से प्रकट है कि कम-से-कम एक नाग वंश की कुरुओं के साथ, पाण्डवों के साथ नहीं, मैत्री और कोई विशेष संबंध था। ऐसे नागों के वंशजों ने स्वभावतः अपनी मूल उपासना-विधियाँ बनाये रखी होंगी, और लुप्त कुरु-गौरव का ज्ञान करनेवाले प्रारम्भिक कवियों के साथ उनका व्यवहार मैत्रीपूर्ण रहा होगा। महाभारत के प्रथम पर्व में नाग-वंशावलियों और मिथकों को बड़ा महत्त्व दिया गया है, यद्यपि युद्ध की मुख्य कथा से उनका कोई संबंध नहीं। इसके विपरीत यदु योद्धा और अर्ध-देव कृष्ण की गाथा और वंशावली को जिसका 'सर्वेश्वर' पद पर आरोहण महाकाव्य के विभिन्न स्तरों में स्पष्टतः दृष्टिगोचर है, एक परिशिष्ट, हरिवंशपुराण में डाल दिया गया है। परवर्ती भारतीय प्रतिमाशास्त्र में महानाग का बहुत-सी परिस्थितियों में उपयोग हुआ है। यह माना गया है कि वह सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने मस्तक पर धारण किए हुए है। उसे जल में धसक जाने से बचाये हुए है। वह समुद्र में सोने वाले विष्णु के लिए शैया और छत्र का भी काम देता है, जिसके अवतार कृष्ण हुए; नाग शिव के गले का हार है, गणेश के हाथ में एक अस्त्र है, और उसे एक स्वतन्त्र देवता का पद भी प्राप्त है जिसकी पूजा के लिए वर्ष का एक विशेष दिन नियत है जब रूढ़िवादी भूमि की खुदाई और धातु का प्रयोग नहीं कर सकते। साथ ही वह भारतीय किसान का प्रिय 'खेतरक्षक' है (क्षेत्र-फल, जो शिव का ही एक नाम है)। महाभारत निश्चित रूप से अपने नगण्य और अत्यन्त संदिग्ध ऐतिहासिक तत्त्व की बजाय पारस्परिक उत्संस्करण की प्रक्रिया की दृष्टि से अधिक रोचक है जिसको वह उद्घाटित करता है।

महाभारत के सांस्कृतिक महत्त्व और सामान्य भ्रामक व्याख्या के कारण पूर्ववर्ती विवेचन का सार संक्षेप में फिर से दोहराना आवश्यक है। इस महाकाव्य की

प्रारंभिक कथाओं के तीन सुस्पष्ट स्रोत हैं : पुरु-कुरु युद्ध-गाथाएँ, आदिवासी मिथक, और यदु आख्यान। इन वेमेल कथाओं को मिश्रित, किन्तु फिर भी आदिम, समाज की आवश्यकताओं के अनुसार किसी-न-किसी प्रकार एक साथ ठीक वैठाना जरूरी था। इसके लिए कुठाली का काम दिल्ली-मेरठ-मथुरा क्षेत्र ने ऐसे समय में किया जव धातुओं, विशेषकर लोहे का पता तो चल चुका था पर वे अधिक मात्रा में उपलब्ध न थीं। उत्तर-वैदिक आर्य, विभाजक वनों के निवासी नाग, आहार-संग्रहक और कृष्ण के नव-वैदिक गोपालक यदि आपस में लड़ना बन्द कर पाते तो मिलकर एक अधिक कुशल आहार-उत्पादक समाज की रचना कर सकते थे। परिवेश और धातुओं की कमी के कारण तीनों में से किसी भी एक के लिए दूसरों को वल-प्रयोग द्वारा अपने अधीन कर सकना असंभव था। इसलिए मिथकों का संलीन होकर एक होना आवश्यक था। मानव-तत्त्वों के फिर से संयुक्त होने में कश्यपों ने सहायता की; आख्यानों का संपादन एक अन्य ब्राह्मण-कुल भृगुओं ने किया। यह पारस्परिक उत्संस्करण इतना प्रभावी था कि महाभारत में स्फीति होती रही और उसी नमूने पर पूरे मध्य युग में पुराण फिर से लिखे जाते रहे। यह प्रक्रिया तभी निष्फल हुई जव सम्मिलित अंधविश्वासों के आधार पर लोगों को एक समूह में रखने से अधिक उत्पादनशील समाज रचने में सहायता मिलना वंद हो गया। यह असफलता मुस्लिम विजय की आपेक्षिक सरलता से और भी स्पष्ट हो गयी। पर तव तक 'जियो और जीने दो' को वहुत पहले से ही इस वात का समानार्थक माना जाने लगा था कि 'तर्क, वाह्य यथार्थ अथवा साधारण सहजवुद्धि की परवाह किये विना पुरोहित जो कहे उस पर विश्वास करो।'

पाँचवाँ अध्याय

कबीले से समाज की ओर

नये धर्म

देश के बाहर लाखों-करोड़ों लोगों के लिए भारत केवल बुद्ध का देश मात्र है। कोई राजनैतिक व्यवस्था या भौतिक नियति नहीं, बौद्ध धर्म ही बहुसंख्यक एशियाई लोगों के लिए आज भी सदा के लिए भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण खोज है। भारतीय प्रभाव के अन्तर्गत विकसित बौद्ध अभिप्रायों के बिना बर्मा, थाईदेश, कोरिया, जापान और चीन का स्थापत्य और कला, और इसलिए विश्व की कला, बहुत अधिक कंगाल होती। प्राचीन मंगोल और तिब्बती साहित्य का कहीं बड़ा अंश बौद्ध-धर्मग्रंथों का ही है। १६५६ तक तिब्बत का पूरा राजतंत्र थोड़े-से बौद्ध मठों और उनके मनोनीत व्यक्तियों से बना था। लंका, बर्मा, थाईदेश और हिंदचीन के लोग न केवल अपनी समझ के अनुसार बौद्ध धर्म को मानते हैं, बल्कि अपने विभिन्न इतिहासों के उदयकाल में उस धर्म को ही प्रमुख सभ्यकारी प्रभाव समझते हैं। चीन के, विशेषकर ईसा की पाँचवीं और छठी शताब्दी में उसके पृष्ठप्रदेश के, आर्थिक विकास में बौद्ध मठों के शक्तिशाली और अपरिहार्य योग को अभी हाल ही में समझा जा सका है। सुदूर देशों के अगणित यात्री रेगिस्तानों, ऊंचे बर्फ से ढंके पहाड़ों और प्रचंड तूफानों से भरे समुद्रों के कष्ट उठाकर बुद्ध के जीवन की घटनाओं से जुड़े भारतीय स्थानों को देखने के लिए साहसपूर्वक आते रहे हैं, और आज भी आते हैं। अपने युग में पूर्व की अपेक्षा पश्चिम की ओर बौद्ध धर्म का प्रसार

और भी अधिक उल्लेखनीय था । बमियाँ (अफ़ग़ानिस्तान) में पहाड़ में काटकर बनायी गयी बुद्ध की ६० मीटर ऊँची विशालकाय मूर्तियाँ अपने-आप में इस बात की यथेष्ट प्रमाण हैं। मध्य एशिया में असंख्य ध्वस्त स्तूप भी इसके साक्षी हैं। बौद्ध धर्म ने न केवल मानीवाद को प्रभावित किया, बल्कि पूर्ववर्ती युग में ईसाई धर्म के निर्माण में भी योग दिया होगा। मृतसागर सूचियाँ लिखनेवाले विद्वान भले यहूदी होने के साथ-साथ ऐसी विशेषताएँ भी प्रगट करते हैं जिनका उद्गम बौद्ध है। प्रायः एक कब्रिस्तान के ऊपर एक मठ में उनका रहना यहूदी धर्म के लिए भले ही घृणास्पद हो, पर बौद्धों को पर्याप्त रुचिकर होगा। इस (संभवतः ऐसीन) फिलिस्तीनी संस्थान के दस्तावेजों में उल्लेखित 'धर्मशिक्षक' बुद्ध की ही एक उपाधि का सूचक है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि पर्वत-प्रवचन पूर्व-विधान (ओल्ड टेस्टामेंट) के अनुयायियों की अपेक्षा, जिन्होंने उसे सबसे पहले सुना था, बौद्धों को अधिक परिचित जान पड़े। क्राइस्ट के कुछ चमत्कार, जैसे पानी पर चलना, बुद्ध के जीवन-संबंधी साहित्य में बहुत पहले से प्रचलित थे। इस दृष्टि से 'बरलाम और जोसफत' शीर्षक से ईसाई संत का आख्यान बुद्ध की जीवनकथा का सीधा रूपांतर है। ('अरेबियन नाइट्स' द्वारा विख्यात) बग़दाद के अब्बासिद खलीफ़ा हारूँ-अल-रशीद के अधीन एक महत्त्वपूर्ण मंत्री परिवार के लोग बर्मेसिडेस किसी समय नओ-बेहार के बौद्ध मठ के पुश्तैनी मठाध्यक्ष (परमक) थे। इस्लाम धर्म में हाल ही में दीक्षित होने के कारण उन पर यह संदेह किया गया था कि वे अपने पुराने धर्म की कुछ विधर्मी धारणाएँ अभी तक अपनाए हुए हैं।

इस असाधारण विसरण के दो आश्चर्यजनक किन्तु परस्पर असंगत पक्ष हैं। भारत के बाहर प्रचार बल-प्रयोग के अथवा भारतीय राजनैतिक प्रभाव में तदनुरूप वृद्धि के बिना, ही हुआ। असोक (संस्कृत अशोक) का नाम, किसी विजय अथवा शक्ति के किसी अन्य प्रदर्शन के लिए नहीं, महान् बौद्ध सम्राट होने के कारण, उसके देश के बाहर दूर-दूर तक आदर से लिया जाता है। कुषाणों ने अवश्य एक साथ ही मध्य एशिया और भारत के कुछ भागों पर शासन किया था; पर वे बौद्ध धर्म के अतिरिक्त कई अन्य भारतीय पंथों और देवताओं के भी संरक्षक थे। इन देवताओं में शिव भी थे किन्तु उनकी पूजा बहुत दूर तक नहीं फली। हान राजवंश के मिन-ती से लगाकर बहुत-से चीनी सम्राटों ने विशेष प्रयत्न-पूर्वक बौद्ध धर्मोपदेशकों को आमंत्रित किया। फिर भी भारत के उत्तर-पूर्वी सीमांत पर कुछ चिह्नों को छोड़कर अपने जन्म के देश में से बौद्ध धर्म लुप्त हो गया। बाह्य सफलता के विपरीत यह पूर्ण आंतरिक तिरोभव बड़ा रहस्यमय लगता है। आज भी यदि शिक्षित भारतीयों से भी यह कहा जाय कि बौद्ध धर्म ही—जिसे वे आकस्मिक

पथभ्रष्टता मात्र मानते हैं—विश्व-संस्कृति को उनके देश का उत्कृष्ट योगदान है, तो आम तौर पर या तो भौचक्के रह जायेंगे या रुष्ट हो उठेंगे। बौद्ध धर्म के उदय, प्रसार और पतन के पूरे चक्र के १५०० वर्षों में भारत में अर्ध-पशुचारी कबीलों का जीवन बदल गया और प्रथम राजतंत्रों की और फिर सामंतवाद की स्थापना हुई। इसलिए इस धर्म ने, अपने मूल उद्गम के देश की विभिन्न अवस्थाओं में, जो विविध भूमिकाएँ पूरी कीं उनका भारतीय सभ्यता के किसी भी गम्भीर विवेचन में केन्द्रीय स्थान होना चाहिए। साथ ही इस सिद्धान्त के देश के भीतर और बाहर दोहरे और उलझन-भरे विकास को समझने का भी प्रयास होना आवश्यक है।

ई० पू० छठी शताब्दी ने चीन में कन्फ्यूशिअस का दर्शन और ईरान में ज़रतुश्त के व्यापक सुधारों को जन्म दिया। गंगा घाटी के मध्य में बहुत-से एकदम नये शिक्षक पैदा हुए। इनमें एक बुद्ध भी थे जो अपने समय में सबसे लोकप्रिय न थे। विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी मतों के बारे में जानकारी अधिकांशतः परस्पर-विरोधी धार्मिक रचनाओं में पक्षपातपूर्ण विवरणों से ही होती है। किन्तु जैनधर्म अभी तक भारत में जीवित है और अपना उद्भव बुद्ध से भी पूर्ववर्ती संस्थापकों द्वारा बताता है। आजीवकों के बारे में मैसूर के शिलालेखों से पता चलता है कि वे ईसा की चौदहवीं शताब्दी तक मौजूद थे। इन दो सम्प्रदायों के मुख्य प्रस्तावक, महावीर (यद्यपि जैन लोग पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की एक लम्बी परंपरा का दावा करते हैं जिनमें से पार्श्व का ऐतिहासिक होना संभव है) और मक्खलि गोसाल दोनों ही बुद्ध के अन्य अनेक समकालीनों की भाँति बहुत-कुछ समान स्थानों में अपना उपदेश देते थे। स्वयं बुद्ध ने अपने दो अग्रज समकालीन आर्य कबीले कालाम के अलार और राम के पुत्र उद्दक की शिक्षाओं को लेकर आगे बढ़ाया। इसलिए बौद्ध धर्म को केवल उसके असंदिग्धतः महान संस्थापक की वैयक्तिक उपलब्धि मात्र नहीं माना जा सकता और न उसका पतन ही मानवता की अपूर्णताओं के कारण हुआ। स्पष्टतः एक ही छोटे-से प्रदेश में यथेष्ट आकर्षण और विशिष्टतायुक्त इतने सारे संप्रदायों का एक साथ उदय इस बात का सूचक है कि कोई ऐसी सामाजिक आवश्यकता अवश्य थी जिसे पुराने सिद्धांत पूरा न कर पाते थे। इस आवश्यकता का विश्लेपण सभी नये शिक्षकों में सामान्य तत्त्वों की खोज और शिष्यों के नए वर्गों की जांच द्वारा हो सकता है। यदि यह केवल साधारण निरंतरता और क्रमिक विकास की बात होती तो नये धर्मों का उदय सिंधु नदी के किनारे होना चाहिए था जहाँ एक महान सभ्यता के ध्वंस की स्मृतियाँ थीं, या उत्तर-पश्चिम में होना चाहिए था जो शताब्दियों से वैदिक संस्कृति का केन्द्र रहा था और अब भी था, या कुरु-देश में होना उचित था जो महाभारत कथा का केन्द्र और उस नैतिकता के लिए उपयुक्त स्थान था जिससे वह महाकाव्य लदा

पड़ा है, या फिर मथुरा में होता जहाँ से कृष्ण की सर्वेश्वरता के एक नए और शक्तिशाली संप्रदाय का अंततः प्रसार होनेवाला था। तो फिर पूर्व के नवीनतम, और कुछ सांस्कृतिक पक्षों में अपेक्षाकृत पिछड़े हुए प्रदेशों ने धर्म के सबसे विकसित रूपों में क्यों नेतृत्व किया ?

ई० पू० छठी शताब्दी में गंगा घाटी में नए वर्गों की मौजूदगी से इंकार नहीं किया जा सकता। एक वर्ग स्वतंत्र खेतिहरों और किसानों का था। कबीले के भीतर वैश्यों के नव-वैदिक पशुचारी वर्ग का स्थान अब ऐसे कृषकों ने ले लिया था जिनके लिए कबीले का अस्तित्व न था। व्यापारी इतने संपन्न हो गये थे कि पूर्वी नगरों में सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति आमतौर पर 'श्रेष्ठि' ही होता था। यह शब्द पहले अज्ञात था और श्रेष्ठता अथवा प्रमुखता का सूचक है। वास्तव में श्रेष्ठि अर्थपति या महाजन होता था और कभी-कभी किसी व्यापारी संघ का प्रधान भी। निरंकुश स्वेच्छाचारी शासक भी श्रेष्ठियों के साथ आदर का व्यवहार करते थे, यद्यपि राजनीति में उनका कोई प्रत्यक्ष मताधिकार न था। किन्तु नए वर्ग का प्रमुख सूचक है 'गहपति' (संस्कृत, गृहपति) शब्द का बदला हुआ महत्त्व; इसका शब्दार्थ है 'घर का स्वामी', पर अब से वह रोमनों के 'कुलपिता' का समानार्थी हो गया। वैदिक और ब्राह्मण साहित्य में वह महत्त्वपूर्ण किन्तु अ-राजसीय यज्ञों में आतिथेय और प्रमुख याजक का सूचक हुआ करता था। अब पहली बार उसका अर्थ होगा किसी भी जाति के बड़े पितृतंत्रात्मक परिवार का प्रधान, जो मुख्यतः अपने धन के कारण सम्मान का अधिकारी था। यह धन चाहे व्यापार अथवा उत्पादन से प्राप्त हुआ हो, चाहे खेती से, पर केवल मवेशियों की संख्या पर आधारित नहीं होता था। एक नए संपत्तिशाली वर्ग के कार्यकारी सदस्य के रूप में गहपति को अपने धन का मनमाना उपयोग करने का अधिकार था, यद्यपि परिवार के सदस्यों के पालन का भार उसी पर था और वह अपने सगोत्रीय समूह के उत्तराधिकार संबंधी नियमों से बँधा हुआ था; पर कबीले के नियमों का बंधन अब उस पर न था। यह नयी वर्ग-स्थिति कुछ समय के लिए जाति और सगोत्रीयता के औपचारिक बंधनों से कुछ दबी रही, पर वे बंधन भी अधिकाधिक शिथिल होते जाते थे। 'गोत्र' शब्द, जो पहले केवल बहिर्विवाही कुल का सूचक था, अब से गहपति के बड़े पितृतंत्रात्मक परिवार का भी सूचक हो गया, यद्यपि 'गृहपति' के पुराने अर्थ की भाँति 'गोत्र' का भी पुराना अर्थ पूरी तरह समाप्त कभी नहीं हुआ। उन अनवरत युद्धों से व्यापारी और किसान दोनों को क्षति होती थी जो वैदिक यज्ञ से पहले नियमित रूप से हुआ करते थे। व्यापारी को अपने कबीले और राज्य के क्षेत्र से बाहर के लोगों से अच्छे सम्बन्ध तो रखने ही पड़ते थे, साथ ही उसे लुटेरों से मुक्त सुरक्षित व्यापार-मार्गों की भी आवश्यकता थी। इस मांग का एक अंग तो केवल 'सार्वभौम राजतंत्र',

अर्थात ऐसे ऐकक राज्य द्वारा पूरा हो सकता था जो छोटे-मोटे लड़ाई-झगड़ों को खत्म करके सारे देहात को शासन में रख सके। पर व्यापार तो सदा राजनैतिक सीमाओं के बाहर भी फैल जाता था।

स्वतंत्र पट्टेदार या भूस्वामी किसानों (कस्सक, कर्षक) का होना, जो गहपति और श्रेष्ठि के अस्तित्व में ही निहित है, ग्रंथों से स्पष्ट है। जैसा कहा जा चुका है, दास मज़दूर बड़ी संख्या में नहीं मिलते थे। आहार-संग्रहक भी बहुत कम थे और वे खेत पर आवश्यक कठोर नियमित परिश्रम करने के लिए कम ही तैयार होते थे। आहार-उत्पादन की ओर वे तभी मुड़ते थे जब उनके क्षेत्र को कोई साफ़ करने लगता था; सामंती और आधुनिक युग में अकाल पड़ने से ऐसा होता है। (अकाल के कारण आदिवासियों में से हाड़ी-जैसी दास जातियों का भी निर्माण होने लगा, जो केवल नियमित भरपेट खाने के बदले अपनी आज़ादी को बंधक रख देते हैं; पिछली पीढ़ी तक वे मौजूद थे और उनका काम कुशलताहीन और अनुत्पादक होता था)। वास्तविक किसान वर्ग मुख्यत: अधिक उन्नत 'आर्यों' में से ही बना जो छोटे-छोटे समूहों में, अधिकांश कबीले से सदा संपर्क के बिना ही, अपने-आप भूमि की सफ़ाई करने लगे थे। अतिरिक्त उत्पादन की एकमात्र प्रेरणा उस अतिरिक्त उपज से हो सकनेवाले व्यापार की ही थी। और यह तभी संभव था जब अतिरिक्त आहार को कुल के अन्य लोगों के साथ साझेदारी करने की कोई बाध्यता न हो, यदि मवेशियों पर साझा अधिकार न हो, और यदि भूमि कबीला परिषदों द्वारा फिर से बँटवारे के अधीन न हो—संक्षेप में, यदि खेती के पशु, भूमि और उनकी उपज व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में हों। पंजाब इस मामले में दक़ियानूसी रहा; कबीलों का जीवन बहुत-कुछ पहले की भाँति ही चलता रहा, और प्राय: उसी प्रकार के सामंत-राजा का चलन बना रहा जैसा ब्राह्मणों में उल्लेख है। यजुर्वेदिक राजत्व अलग परिवारों द्वारा निर्बंध कृषि-उत्पादन में बड़ी भारी रुकावट था और किसान वर्ग के लिए असहनीय बोझ। शांति और हलके कर आवश्यक थे। यज्ञों के लिए मवेशी तथा अन्य पशु बिना मूल्य अधिकाधिक संख्या में ले लिये जाते थे। यह पाली में राजयज्ञों की कहानियों से प्रकट है। नियमित कृषि पर बोझ असहनीय था। केवल कुछ ब्राह्मण पुरोहित ही (उस तरह के जिन्हें छठी शताब्दी के पसेनदि और बिम्बसार जैसे सम्राट पूरे गाँव दान में देते थे) स्थायी लाभ उठा रहे थे। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि सब नये संप्रदायों ने हर प्रकार के कर्मकांड की, विशेषकर वैदिक कर्मकांड की, तर्कसंगति को दो-टूक अस्वीकार किया। इसमें कुछ ब्राह्मण शिक्षक भी शामिल थे, जैसे पूरण कस्सप, और बेलट्ठि का पुत्र संजय।

यजुर्वेद में नरमेधों की सूची के बावजूद, नियमित नरमेध यज्ञ का चलन

शतपथ ब्राह्मण के समय तक ब्राह्मणों में नहीं रहा था। इक्का-दुक्का नरबलि अवश्य ही होती रहती थी, जो गढ़ या नगर-द्वार जैसे सुरक्षा-स्थलों को अभेद्य बनाने के लिए, और बाँधों को बाढ़ में बहने से बचाने के लिए, आवश्यक समझी जाती थी। ऐसी स्थितियों में बलि-पुरुष को नींव में दफ़नाया जाता था। पर ये असाधारण बलियाँ बहुत ही विरल थीं, लोगों की त्योरी चढ़ने का कारण बनती थीं, और कभी भी वैदिक पद्धतियों से नहीं की जाती थीं। अश्वमेध भी काफी विरल था। वास्तव में, गंगा घाटी में तो दूसरी शताब्दी में, अत्यन्त अल्पकालिक और निरर्थक पुनःप्रवर्तन के पहले, किसी अश्वमेध का निश्चित उल्लेख नहीं मिलता। मुख्य वैदिक बलि मवेशियों की ही होती थी जो प्रधानतः पशुचारी समाज के लिए स्वाभाविक ही है। छठी शताब्दी के सुधारों ने इसका चलन भी कितनी पूरी तरह बंद कर दिया, यह हिन्दुओं द्वारा गोधन की हत्या और गोमांस खाने के चरम निषेधों में देखा जा सकता है। ये निषेध आज भी प्रचलित हैं, यद्यपि चरागाहों की कमीवाले देश में गोधन के प्रति निष्ठुरतापूर्ण, निरर्थक और अलाभकर है। आधुनिक रूढ़िवादी हिन्दू गोमांस-भक्षण नरमांस-भक्षण के स्तर पर ही रखेगा, यद्यपि वैदिक ब्राह्मण यज्ञ में बलि से प्राप्त गोमांस खाकर ही मुटाते थे। शतपथ ब्राह्मण के एक सुविदित अवतरण में इसके कर्मकांडीय कारण दिये गये हैं कि गाय और गाड़ी के बैल का मांस (अनड्वह्; वृषभ के बारे में कुछ नहीं कहा गया है) क्यों नहीं खाना चाहिए। किन्तु यह अवतरण याज्ञवल्क्य अनुयायी प्रमुख ब्राह्मण दल के इस बेलाग वक्तव्य से समाप्त होता है जो आज बड़ी परेशानी पैदा करता है—'वह सब ठीक है; पर जब तक (उससे मेरे) शरीर पर मांस (चढ़ता) है, तब तक मैं उसे खाता रहूंगा।' जब विभिन्न ब्राह्मणों के सम्पूरण के लिए उपनिषदों की रचना हुई तो किसी परिवर्तन को प्रत्यक्ष नहीं स्वीकार किया गया; पर ब्राह्मण ग्रंथों की अन्तर्वस्तु सर्वथा भिन्न हो गयी। यज्ञ का उल्लेख अब मुख्यतः किसी रहस्यवादी दर्शन के लिए, आमतौर पर विलक्षण व्याख्या के साथ होने लगा, उसके मूल रक्तपाती अनुष्ठान के लिए नहीं। औपनिषद ब्राह्मण सिन्धु नदी के पास या पश्चिम में अपना अध्ययन समाप्त करने के बाद अब यज्ञ का 'अंतरंग महत्त्व' समझने के लिए अश्वपति कैकेय और प्रवहण जैवलि जैसे पूर्वीय क्षत्रियों के पास भी जाने लगे थे। 'ब्रह्म' नामक एक नयी अवधारणा का भी उदय हुआ जो एक प्रकार का अपरिभाषित दिव्य सार-तत्त्व था जिसकी उपलब्धि अन्य प्रत्येक मानवीय उद्योग से श्रेष्ठतर बतायी गयी। बाकी तो उपनिषदों में विवेचित समस्याएं ठीक वही हैं जिन पर छठी शताब्दी के गांगेय प्रदेश के दार्शनिकों ने विचार किया था : आत्मा यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होना है? मनुष्य का चरम कल्याण किसमें है? इन ग्रंथों में बौद्ध अथवा अन्य किसी ब्राह्मण-विरोधी

धार्मिक सम्प्रदाय का कोई उल्लेख नहीं है। इससे बहुतों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सारे प्राचीनतम उपनिषद बौद्ध धर्म के पूर्ववर्ती हैं। शतपथ ब्राह्मण से संलग्न उपनिषद में 'काशी के अजातशत्रु' नामक प्राचीन राजा के उल्लेख से प्रकट है कि यह बात सदा सही नहीं हो सकती, क्योंकि वह राजा तो बुद्ध का कनिष्ठ समकालीन था। ये नवीन सिद्धान्त तो छठी शताब्दी के वातावरण में ही थे।

गोमांस खाने पर निषेध के आर्थिक आधार को सिद्ध करने के लिए दो उद्धरण पर्याप्त हैं। कुछ प्राचीन श्लोकों में, जो बुद्ध के बताये जाते हैं, कहा गया है: 'गाय-बैल हमारे बन्धु हैं, माता-पिता तथा अन्य संबंधियों की भाँति, क्योंकि उन्हीं पर खेती निर्भर है। वे हमें भोजन, बल, मुख की कांति और सुख प्रदान करते हैं। यही जानकर प्राचीन काल के ब्राह्मण गोधन की हत्या नहीं करते थे।' (सुत्त-निपत, २९५-६)। निषेध के आरंभ के दिनों में गोमांस खाने को पाप समझने का तो कोई प्रश्न ही न था। हुनान में किसान-विद्रोह के संबंध में माओत्से-तुंग की मार्च १९२७ की रिपोर्ट में कहा गया है: "बैल तो किसान की निधि हैं। यह तो प्रायः एक धार्मिक सिद्धान्त है कि 'जो लोग इस जन्म में मवेशियों की हत्या करेंगे वे अगले जन्म में स्वयं मवेशी होंगे,' इसलिए बैलों की कभी हत्या नहीं करनी चाहिये। किसानों के पास सत्ता प्राप्त करने के पहले गोधन की हत्या रोकने के लिए धार्मिक निषेध के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय न था। किसान-सभाओं के उदय के बाद से उन्होंने गोधन को भी अपने अधिकार-क्षेत्र में लेकर शहरों में उनकी हत्या का निषेध कर दिया है। हियांगतान नगर में गोमांस की छह दूकानों में से पाँच अब बंद हो चुकी हैं, और बाकी एक केवल अपाहिज और बीमार मवेशियों का मांस बेचती है। हेंगशान काउंटी भर में गोधन की हत्या बन्द है। किसी किसान की गाय अब गिरकर अपना पैर तोड़ ले तो उसे भी मारने के पहले किसान को किसान-सभा की सलाह लेनी पड़ती है···।" चीनी किसान गाय का दूध, मक्खन, पनीर या दही काम में नहीं लेता, संभव है इस कारण उसकी और भारतीय किसान की स्थिति में अंतर पाया जाता है।

सार्वभौम राजतंत्र के विकास का ठीक समतुल्य तो केवल एक अकेला धर्म और उसका कठोर ऐकक कर्मकांड होता। पर यह यहाँ के समाज में अत्यधिक बल-प्रयोग के बिना असंभव था। सीमाहीन गांगेय वनों में उनको शरण मिल सकती थी जिनके लिए पृथक् सामान्य कर्मकांड एक अपरिहार्य सामान्य बंधन था, जैसी कि आनुष्ठानिक प्रथाएँ आज भी भारत में बनी हुई हैं। पूर्व के नये शिक्षकों ने समस्त कर्मकांड से ऊपर उठकर सबसे प्रबल निषेध को तोड़ दिया और नीची-से-नीची अन्य जाति के हाथ का बना भोजन, अथवा दूषित भोजन में से बचा-खुचा तक, खाने लगे। इस बात का ठीक अर्थ उस व्यक्ति को बताना कठिन है जो यह नहीं जानता कि

अधिकांश भारतवासी दूषित, अथवा किसी नीची जाति के हाथ का बना, भोजन खाने की अपेक्षा भूखे रहना अथवा भूखों मरना बेहतर समझते हैं। विभिन्न नये संप्रदायों के प्रवर्तक और उनके साधु अनुयायी (साधारण मतावलंबी नहीं) अपना पेट भिक्षा द्वारा ही भरते थे। यह मूलतः आहार-संग्रह की ओर लौटना था। बहुत-से जंगल में एकांत जीवन ही अधिक श्रेयस्कर मानते थे। वे किसी की हत्या न करते और वनस्पति से जो भी भोजन मिल जाता उसी से काम चलाते। इन चरम तपस्वियों को मनुष्य के हाथ से केवल नमक ही स्वीकार था। ब्रह्मचर्य और सम्पत्ति के त्याग के फलस्वरूप ये नये शिक्षक संग्रहशील समाज में लोभी याज्ञिक ब्राह्मणों की अपेक्षा कहीं अधिक मितव्ययी थे। यजुर्वेदिक और परवर्ती ब्राह्मण असीम मात्रा में मूल्यवान उपहारों की आशा करते थे और प्राचीन आख्यान-प्रसिद्ध राजाओं से प्राप्त होने की बात भी कहते थे : असंख्य हाथी, गोधन, रथ, सुंदरी दासियाँ, और बहुत से स्वर्ण-खण्ड। नई तापस वृत्ति का स्वयं ब्राह्मण आचरण पर भी जो तीव्र प्रभाव पड़ा वह अमिट था; निर्धनता और तप उसके बाद सदा उच्च आदर्श माने गये। उपनिषदों में भी एक भूखों मरते ब्राह्मण द्वारा एक नीच जाति के महावत से दूषित भोजन ग्रहण करने का उल्लेख आता है। ऐसे ही एक ब्राह्मण ने श्वान टोटेमवाले आदिवासियों के भोजन के लिए गीत-नृत्य पर ताक लगाई थी। पूर्ववासियों के लिए यज्ञ तो बस केवल सिद्धांत रूप में रह गया। भविष्य का ब्राह्मण तो लगातार वेदों की दुहाई देते-देते अंततः सब जातियों के लिए पुरोहित का काम करने लगा और अपनी आजीविका के लिए नयी पूजाओं को पुराने रूपों में ढालने लगा।

मध्य मार्ग

भारत में परवर्ती मुख्य दर्शन-पद्धतियों की जड़ें ई० पू० छठी शताब्दी में ही स्पष्ट देखी जा सकती हैं। अजित केसकंबली एक सर्वथा भौतिकवादी सिद्धांत का उपदेश देता था : सत्कर्म और दान से अंत में मनुष्य को कुछ प्राप्त नहीं होता। उसने चाहे जो किया हो या न किया हो, मरने पर उसका शरीर मूल तत्त्वों में ही मिल जाता है। कुछ भी शेष नहीं रहता। पाप और पुण्य, दान और करुणा, मनुष्य की चरम परिणति के लिए सब अप्रासंगिक हैं। लोकायत संप्रदाय ने, जिसने मगध की शासन विधा के निष्ठुर व्यावहारिक सिद्धांत विकसित हुए, इस अजित से बहुत-कुछ लिया जान पड़ता है, यद्यपि भारतीय भौतिकवाद में विशिष्ट नाम चार्वाक का है, जिसके मूल सिद्धांत प्राप्त नहीं हैं। पकुध कात्यायन ने मूलभूत नित्य तत्त्वों की सूची में (जिसमें साधारणतः पृथ्वी, जल, वायु और प्रकाश माने जाते थे) तीन और दतांए : सुख, दुःख और जीवन। ये भी न रचे जा सकते हैं न नष्ट किये जा सकते हैं। जीवन

का अंत करता जान पड़नेवाला तलवार का आघात मांस-मज्जा के बीच धातु का अवतरण मात्र है, उसका मनुष्य के ऊपर कोई अधिकार नहीं। यह परवर्ती वैशेषिक दर्शन का उद्गम हो सकता है। कस्सप ब्राह्मण गोत्र के पूरण ने आत्मा को शरीर से भिन्न और शरीर की हर परिणति से अप्रभावित मानकर संभवतः सांख्य दर्शन की नींव डाली। उसके तात्कालिक अनुयायी वाद में मक्खलि गोसाल के अनुयायी हो गये जो यह मानता था कि आत्मा को जन्म-मरण के एक पूर्व-निर्धारित विराट अटल चक्र में से गुज़रना पड़ता है, प्रत्येक जन्म में जिस विशेष शरीर से वह संबद्ध होता है उसके कर्म चाहे जो हों।

जैन महावीर ने उन चार नियमों का पालन किया जो उनके पूर्ववर्ती पार्श्व द्वारा प्रचलित माने जाते हैं: अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और सत्य। इनमें पाँचवाँ ब्रह्मचर्य उन्होंने और जोड़ दिया। उच्च लिच्छवि क्षत्रिय कुल में जन्म लेने पर भी महावीर ने कठोरतम तपस्या और निरंतर ध्यान द्वारा ज्ञान की चरमावस्था प्राप्त की। उन्होंने पार्श्व द्वारा साधु के लिए विहित तीन चादरों के चोगे को भी त्याग दिया और दिगम्बर हो गये। उनके अनुयायी पानी भी छाने बिना नहीं पीते थे कि कहीं किसी प्राणी की हिंसा न हो जाये। प्रमादपूर्वक चलने से किसी कीड़े की हत्या होने का भय है। श्वास भी एक कपड़े में से छनकर भीतर जानी चाहिए, स्वास्थ्यकरता की दृष्टि से नहीं, हवा में मौजूद किसी जीव की रक्षा के लिए। कड़ी धूप और वर्षा में तपस्या द्वारा शरीर को दंड देने की प्रथा केवल जैनों में ही नहीं, उस समय के बहुत-से अन्य शिक्षकों और संप्रदायों में थी। गोसाल भी नग्न रहता था, पर वह मद्यपान और उच्छृंखल यौनाचार के अनुष्ठान करता था जो निस्संदेह उस समय प्रचलित आदिम-युगीन प्रजनन-संबंधी संप्रदायों से निकले थे। परवर्ती तांत्रिक अनुष्ठानों का उद्गम भी यही था, किंतु उन पर सदा आचरण नहीं होता था और प्रायः रहस्यात्मक व्याख्या और अहानिकर प्रतीकात्मकता द्वारा उनका उदात्तीकरण हो जाता था। यह बात न भूलना चाहिए कि जनसमुदाय का एक छोटा-सा अंश सदा ऐसा रहता था जिसे जादू-टोना, प्रजनन-संबंधी अनुष्ठान, और गुप्त आदिवासी उपासना-विधियाँ आवश्यक लगती थीं। आधिकारिक 'सभ्य' धर्म से असंतुष्ट रहनेवाले लोग सारे मुस्लिम काल में, और बाद तक, इस विश्वास से इन गुप्त अनुष्ठानों को सीखते और करते रहे कि उससे उन्हें कोई विशेष शक्ति प्राप्त होगी या परिपूर्णता का कोई सीधा रास्ता उन्हें मिल जायगा। गोसाल के आचरण को उसके युग में अश्लील आत्मासक्ति ही समझा जाता था, यद्यपि यह सूचना विरोधी सूत्रों की है। तपस्वियों के जीवन पर आदिवासी चिकित्सक के कर्मकांड का अन्य प्रभाव दंडमूलक प्रथाओं में था: अत्यंत दीर्घकाल तक खाने-पीने का त्याग, प्राणायाम, अत्यधिक विकृत मुद्राओं में शरीर को साधे रखना—

ये सब तथा अन्य अनेक निरर्थक क्रियाएँ असाधारण शक्तियाँ प्रदान करने वाली समझी जाती थीं। यह माना जाता था कि सच्चे साधकों को अदृश्य होने या इच्छानुसार हवा में उड़ने की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। परवर्ती योग-क्रियाएँ और शारीरिक आसन इसी से विकसित हुए। सीमा के अंदर रहने पर योग गर्म जलवायु में रहनेवाले ऐसे लोगों के लिए अच्छी व्यायाम-पद्धति है जिन्हें हिलने-डुलने और कठोर शारीरिक श्रम का काम नहीं करना पड़ता। उसके द्वारा मनुष्य को अधिक-से-अधिक शरीर की साधारणतः अनैच्छिक क्रियाओं के ऊपर थोड़ा-बहुत नियंत्रण और सुस्वास्थ्य प्राप्त हो सकता है, पर कोई अलौकिक शक्तियाँ नहीं।

बौद्ध धर्म इन दोनों छोरों के बीच का रास्ता था : अनियंत्रित व्यक्तिवादी आत्मासक्ति और उतना ही व्यक्तिवादी किंतु अनर्थक शरीर का तपमूलक पीड़न। इसीलिए बौद्धधर्म की लगातार प्रगति हुई और उसका नाम 'मज्झिम निकाय' पड़ा।

बौद्धधर्म का सार है आर्य अष्ट मार्ग (अष्ट मग्ग)। आठ में से पहला है सम्यक् दर्शन : यह जगत मानवजाति के स्वार्थ और अनियंत्रित इच्छा, लोभ, लिप्सा से उत्पन्न दुःख से भरपूर है। इस इच्छा का शमन ही सबकी शांति का मार्ग है। अष्टांगमार्ग इस लक्ष्य की प्राप्ति का उपाय है। दूसरा मार्ग है सम्यक् उद्देश्य : दूसरों से छीनकर अपनी सम्पत्ति और शक्ति न बढ़ाना, इंद्रिय-तृप्ति और भोग-विलास में न डूब जाना; दूसरों से यथाशक्ति प्रेम करना और दूसरों के सुख में वृद्धि करना—यही उचित उद्देश्य है। तीसरा मार्ग है सम्यक् वाणी : झूठ, निंदा, अपशब्द, व्यर्थ बकवास, और वाणी के ऐसे ही दुरुपयोग से समाज का संगठन नष्ट होता है; ऐसी कलह उत्पन्न होती है जो हिंसा और हत्या का रूप ले सकती है। इसलिए उचित वाणी वही है जो सत्य हो, परस्पर मैत्री की प्रेरक हो, प्रीतिकर हो, संतुलित हो। चौथा मार्ग, सम्यक् कर्म : हत्या, चोरी, व्यभिचार तथा शरीर की ऐसी अन्य क्रियाएँ समाज में बड़ी विपत्ति लायेंगी। इसलिए हिंसा, चोरी, व्यभिचार से बचना, और ऐसे रचनात्मक कार्य करना आवश्यक है जिससे दूसरों का हित हो। पाँचवाँ मार्ग, सम्यक् आजीविका : किसी को ऐसे उपायों से अपनी जीविका अर्जित नहीं करनी चाहिए जिनसे समाज का अहित हो, जैसे शराब की बिक्री के द्वारा, वध के लिए पशुओं की बिक्री द्वारा इत्यादि। केवल शुद्ध और सच्चे उपायों से ही जीविका कमानी चाहिए। छठा मार्ग, सम्यक् मानसिक अभ्यास : मन में बुरे विचारों को प्रवेश न करने देना, पहले से मौजूद बुरे विचारों को दूर करना, मन में अच्छे विचार सक्रिय रूप से जाग्रत करना, और मन में जो अच्छे विचार मौजूद हैं उन्हें पूरा करना। इस प्रकार का सक्रिय मानसिक आत्मानुशासन आठ में से छठा चरण है। सातवाँ मार्ग, सम्यक् चेतना : सदा सजग रहना कि शरीर मलिन पदार्थों से बना है, शरीर में सदा सुख और दुःख के इन्द्रियबोध की

जाँच करते रहना, स्वयं अपने मन का परीक्षण करना, शरीर के बंधनों और मन के मोह से उत्पन्न विकारों पर चिंतन करना, और इन विकारों को दूर करने के उपायों का ध्यान करना। आठवाँ मार्ग : सम्यक् ध्यान : यह ध्यान के केन्द्रीकरण का सावधानी से किया हुआ मानसिक प्रशिक्षण है। संक्षेप में, बौद्धधर्म में उसका वही स्थान है जो यूनानी शरीर के लिए 'व्यायाम' था।

स्पष्ट ही यह धर्म सबसे अधिक सामाजिक था; इसके विभिन्न चरणों के उपयोग बड़ी सावधानी से दीर्घ प्रवचन-शृंखला में विकसित और प्रतिपादित हुए हैं, जो बुद्ध द्वारा किये गये बताये जाते हैं। कुछ ऐसे नियम थे, जैसे ब्रह्मचर्य, जो केवल भिक्षुओं के लिए अनिवार्य थे, साधारण अनुयायी के लिए नहीं। बौद्ध संघ संगठित था और उसकी सभाएँ ठीक कबीलों की सभा के अनुरूप ही हुआ करती थीं। बौद्ध संघ में भिक्षुओं की संख्या बुद्ध के जीवनकाल में ५०० से अधिक नहीं हुई होगी, और न इसका कोई विश्वसनीय प्रमाण है कि उनकी मृत्यु के पहले वे सब कभी किसी समय एक स्थान पर एकत्र हुए हों। बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के विशेष विनय खंड में संकलित संघ के नियमों को प्रामाणिकता देने के लिए, उन्हें स्वयं बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट बताया जाता है। पर स्पष्ट ही वे अधिकांशतः बाद में बने हैं, यद्यपि बुद्ध की मृत्यु के बहुत बाद नहीं। उनके जीवनकाल में, और बाद में भी बहुत दिनों तक, यह नियम था कि कोई भी छह भिक्षु चाहें तो मिलकर अपने विशेष नियम बना सकते हैं और बाकी संघ से किसी हस्तक्षेप बिना अपने अलग अनुशासन का पालन कर सकते हैं, बशर्ते वे मुख्य सिद्धांत को मानते रहें। भिक्षु को भिक्षापात्र, कमंडलु, पहनने के लिए अधिक-से-अधिक तीन सादे, सजावटरहित कपड़े (जो चिथड़ों को जोड़कर बनाये गये हों तो और भी उत्तम), तेल का बरतन, उस्तरा, सुई-धागा और यष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई सम्पत्ति रखने की आज्ञा न थी। अधिक सुकुमार लोगों को सादे चप्पलों की भी अनुमति थी। भिक्षा वह गाँव में माँगे या नगर में, पर बचे-खुचे टुकड़ों का (स्वाद के सुख को कम करने के लिए सबको मिलाकर) वह एकमात्र दैनिक आहार दोपहर के पहले खा लेना आवश्यक था। भिक्षु को किसी गृहस्थ के घर एक रात भी रहने की अनुमति न थी (बाद में इसे बदलकर अधिक-से-अधिक तीन रात कर दिया गया)। उसका निवास बस्ती के बाहर किसी उपवन में, गुफा में (मूलतः प्राकृतिक गुफ़ा में), पेड़ के नीचे, या ऐसे बाड़े के पास हो सकता था जहाँ शव पशु-पक्षियों द्वारा खाए जाने के लिए फेंक दिये जाते हों, या कभी-कभी जलाये जाते हों। ये ठीक वही स्थान थे जहाँ जादुई सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए नर-मांस-भक्षण तथा अन्य अत्यन्त वीभत्स आदिम अनुष्ठान, किये जाते थे। भिक्षु को आदेश था कि वह इन भयावह दृश्यों से विचलित न हो, बल्कि अपनी दृढ़ता द्वारा ऐसे सब संकटों पर विजय प्राप्त

करे। वर्षा ऋतु के तीन-चार महीनों के लिए निवास किसी एक ही स्थान पर रहता था। वैसे उसे लोगों को उपदेश देने के लिए पैदल चलकर भ्रमण करते रहने का (रथ, हाथी, घोड़े, गाड़ी या अन्य पशुओं पर चढ़कर नहीं) आदेश था। प्रारंभिक भिक्षु स्वयं बुद्ध की भाँति ही, कुशल आहार-संग्रहक थे, जैसा कि अन्य मनुष्यों से दूषित भोजन की भिक्षा माँगने के संबंध में उनके लेखबद्ध तर्क-वितर्क से प्रकट है। वे उजाड़ प्रदेशों में लंबी यात्राओं से नहीं घबराते थे। आमतौर पर, वे किसी सार्थ के साथ चलते, पर रात उसके शिविर के बाहर ही बिताते। बौद्ध भिक्षु के लिए लाभ अथवा कृषि के लिए श्रम करना वर्जित था, भरणपोषण के लिए भिक्षा अथवा जंगल से किसी की हत्या किये बिना आहार-संग्रह का विधान था। तभी वह अपने सामाजिक कर्तव्यों पर, जनसाधारण को सही मार्ग दिखाने के दायित्व पर, ध्यान एकाग्र करने को स्वतंत्र हो सकता था। उसका अपना कल्याण जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति, अर्थात् निर्वाण, में था। यह एक प्रकार का रहस्यमय आदर्श है जिसकी कभी पूरी तरह व्याख्या नहीं की गयी।

बुद्ध आत्मा के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के बारे में प्रश्नों का उत्तर देना अस्वीकार करते थे। किंतु पुनर्जन्म और जन्मांतर (व्यक्तित्व का जो भी अंश फिर से जन्म लेता हो) का सिद्धांत उस समय के समाज को स्वाभाविक जान पड़ता था। वेदों और उपनिषदों में यह नहीं था। यद्यपि यह मृत व्यक्ति के पशुटोटेम में प्रत्यावर्तन की आदिम धारणा से केवल एक ही चरण आगे है, फिर भी यह चरण चरम महत्त्व का था। एक निर्दिष्ट टोटेम में आदिम प्रत्यावर्तन अनिवार्य और व्यक्ति के संकल्प से स्वतंत्र होता था। बौद्ध पुनर्जन्म कर्म पर, जीवन-भर में मनुष्य के कार्यों पर, निर्भर था। पुण्यफल के रूप में कर्म न केवल उपार्जित धन अथवा उगायी हुई फसल के अनुरूप है, बल्कि वह ठीक उसी तरह यथा-समय फलित होता है जैसे बीज फल देता है या ऋण प्राप्य बनता है। प्रत्येक प्राणी ऐसे कर्म करता है जो उसकी मृत्यु के बाद उपयुक्त शरीर धारण करने में सहायक होते हैं—कर्म अच्छे हों तो उत्तम शरीर, और यदि कर्म बुरे हों तो तुच्छ और नीच शरीर, जैसे किसी कीड़े या पशु का। देवता भी कर्म के अधीन हैं। स्वयं इंद्र अपने पूर्वजन्म के कर्म का चक्र पूरा हो चुकने पर अपने विशेष स्वर्ग से नीचे आने को बाध्य है। साधारण व्यक्ति भी देवताओं के लोक में, स्वयं इंद्र के रूप में, जन्म लेकर स्वर्ग के सुखों का भोग कर सकता है, पर यह कुछ ही कल्प तक, चिरकाल तक नहीं। बुद्ध तथा सच्चे प्रबुद्ध भिक्षु इस जन्म, मरण और पुनर्जन्म के अनादि अनंत चक्र से मुक्त हो गये हैं। अष्टांगमार्ग और मध्यम मार्ग से—अर्थात् परिग्रह तथा सांसारिक मोह से मुक्त, आवेगहीन और करुणापूर्ण, परस्परविरोधी वैयक्तिक इच्छाओं की भूलभुलैया में से निकलकर सही मार्ग पर पहुँचने में मानव-जाति की सहायता के लिए समर्पित, शुद्ध

जीवन से ही श्रेष्ठ भिक्षु को चरम मुक्ति प्राप्त होगी।

बुद्ध और उनका समाज

बुद्ध के जीवन की संक्षिप्त-सी रूपरेखा उपयोगी होगी, न केवल परवर्ती किंवदंतियों के ढेर के नीचे दबे मूल सार तक पहुँचने के लिए, बल्कि उनके युग के सामाजिक चित्र को समझने के लिए भी।

उनका जन्म साक्यों (सक्क) के संयुक्त क्षत्रिय कबीले में हुआ। उस समय उनका नाम था गौतम, बाद में भक्तों ने उन्हें सिद्धार्थ भी कहा। साक्य एक आर्य भाषा बोलते थे और अपने को आर्य कहते थे। सक्क नाम, छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में हाखमनि सम्राट डेरियस प्रथम के शिलालेखों के एलमी पाठान्तर में, एक विजित कबीले के लिए मिलता है। हो सकता है इन दोनों में कोई सीधा संबंध न हो, पर साक्यों का आर्य मूल विश्वसनीय हो जाता है। इस कबीले में कोई ब्राह्मण या जातीय वर्ग न थे, और न साक्यों में उच्च वैदिक प्रथाओं के पालन के कोई उल्लेख मिले हैं। आवश्यकता पड़ने पर शस्त्रधारण करनेवाले क्षत्रिय होने के बावजूद, साक्य कृषि करते थे। बुद्ध के पिता सहित सभी साक्य हल अवश्य चलाते थे। इसके अतिरिक्त अपने क्षेत्र के बाहर उनके कुछ व्यापारिक उपनिवेश (निगम) भी थे। साक्य प्रधान बारी-बारी से चुने जाते थे, इसी कारण बाद में यह कहानी बन गयी कि बुद्ध राजकुमार थे और बड़े-बड़े महलों में भोग-विलास का जीवन बिताते थे। वास्तव में 'राजन्य' उपाधि प्रधान पद के योग्य किसी भी क्षत्रिय की सूचक थी। साक्य लोग साधारणतः अपनी सब व्यवस्था अपने-आप करते थे, पर जीवन और मरण का अधिकार उन्हें न था। यह अधिकार उनके अधिपति कोसलन सम्राट् (उस समय पसेनदि : संस्कृत प्रसेनजित) को था, जिसका अधिराजत्व साक्य स्वीकार करते थे। इस बात में वे मल्ल और लिच्छिवि जैसे अधिक शक्तिशाली और पूर्ण स्वतंत्र आर्य कबीलों से भिन्न थे। इन परस्पर झगड़नेवाले कबीलों में, तत्कालीन यूनानी गणतंत्रों की भाँति ही, स्वल्पतंत्री व्यवस्था थी; किसी बाह्य राजा का उन पर कोई शासन न था और वे अपने पदाधिकारी बारी-बारी से चुनते थे। बुद्ध की जन्म-तिथि की जानकारी बड़ी मूल्यवान होती और हमारे कालक्रम में संदर्भ-बिन्दु बन सकती थी। उनकी मृत्यु अस्सी वर्ष की अवस्था में हुई। एक भारतीय अनुश्रुति के अनुसार उनकी मृत्यु-तिथि ई० पू० ५४३ है; किन्तु लेखों में साठ वर्ष का ऐसा अंतर मिलता है जिसका कोई कारण समझ में नहीं आता, यद्यपि वह भारतीय तथा कुछ अन्य एशियाई लोगों में प्रचलित वर्ष-गणना के साठ वर्ष के चक्र के अनुरूप जान पड़ता है। ई० पू० ४८३ परवर्ती घटनाओं के साथ अधिक संगत जान पड़ता है, और उसकी पुष्टि एक भारतीय तालपत्री

पाण्डुलिपि से भी होती है, जिस पर बुद्ध की मृत्यु के बाद प्रत्येक वर्ष के लिए एक चिह्न बनाया गया था और जिसे एक ज्ञात चीनी वर्ष में कैन्टन ले जाया गया।

छोटा-सा, आदिम तथा अत्यल्प विकसित साक्य प्रदेश वस्ती और गोरखपुर ज़िलों में आज की भारतीय-नेपाली सीमा के दोनों ओर था। साक्यों के कोली पड़ोसियों ने भी बुद्ध के उपदेश सुने थे और उनके दाह-संस्कार के बाद उनकी अस्थियों का एक भाग पाने का दावा भी किया था। फिर भी उनमें से अधिकांश उस समय क़बीले के जीवन की और भी आदिम अवस्था में थे और कोल वृक्ष उनके कबीले का टोटेम था; कुछ लोग अलग से वृषभ के टोटेम को मानते थे। इसलिए कोली कुल मिलाकर अक्सर आदिवासियों में गिने जाते थे जिनका जातिवाचक नाम नाग था। उनके साथ रोहिणी नदी के जल को लेकर लड़ाई होने के कारण साक्यों ने बेझिझक आर्यों में युद्ध के सभी स्वीकृत नियमों के विरुद्ध, उस जल को विषाक्त कर दिया था। स्वयं बुद्ध मातृदेवी लुम्बिनी के पवित्र साल वृक्षों के एक उपवन में, उनकी माता द्वारा पास ही साक्यों के पवित्र पुष्कर में स्नान करने के तुरंत बाद, हुआ था। साल साक्यों का टोटेम वृक्ष भी है; इस भाँति बुद्ध की माता माया ने (जिनकी गौतम के जन्म के एक सप्ताह के भीतर ही मृत्यु हो गयी) उस समय प्रचलित सभी प्रथाओं का उसी प्रकार पालन किया था, जैसे हर वर्ग और ऐतिहासिक युग की अधिकांश भारतीय स्त्रियाँ करती हैं। उस मातृदेवी की बहुत-कुछ उसी नाम से (रुम्मिनी देई) ठीक उसी जगह आज भी ऐसे लोगों द्वारा पूजा की जाती है जो बुद्ध को एकदम भूल चुके हैं।

बालक गौतम को शस्त्र-विद्या, अश्व तथा रथ-संचालन, और कबीले के रीतिरिवाजों की सामान्य साक्य क्षत्रिय शिक्षा मिली। उच्च कुल की साक्य कन्या कच्चाना से उसका विवाह हुआ जिससे राहुल नामक पुत्र हुआ। पर नये दर्शनों के प्रभाव के कारण उसके मन में जीवन की समस्याओं को सुलझाने, मानव जाति के दुख का कारण जानने और दूर करने की प्रेरणा हुई। उन्तीस वर्ष की आयु में, राहुल के जन्म के शीघ्र बाद, गौतम अपने घर और कबीले का त्याग करके निकल पड़े; उन्होंने अपने बाल कटा दिये, और तपस्वी का वेश धारण करके मानव जाति के कल्याण की खोज शुरू कर दी। आरंभ में छह वर्ष विभिन्न गुरुओं से, और फिर सीधे स्वानुभव से, निर्देश खोजने में बीते, पर उनसे संतोष नहीं हुआ। तब उन्होंने सामान्य भिक्षु का जीवन छोड़कर उग्र शारीरिक तप का मार्ग अपनाया और कभी-कभी तो समस्त मानवता से पूरी तरह अलग होकर अत्यन्त सघन जंगलों के एकांत में तप करते रहे। चरम ज्ञान या सम्बोधि की प्राप्ति गया के निकट नेरंजरा नदी के किनारे

एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठे हुई। यह वृक्ष संभवत: पहले कोई मामूली-सा उपासना-स्थल था जो बाद में बड़ा भारी तीर्थस्थान बन गया और उसकी डालियाँ लंका और शायद चीन जैसे सुदूर स्थानों में भी रोपी गयीं। पहला उपदेश बनारस के समीप सारनाथ (इसिपतन) नामक स्थान में 'उन भूतपूर्व शिष्यों को दिया गया जो उनसे उस समय निराश होकर चले गये थे जब उन्होंने कठोर तप छोड़ दिया था। उनके जीवन के बाकी पेंतालीस वर्ष, अपने नये बोध का उपदेश देने के लिए, वर्षाऋतु के अनिवार्य एकांतवास को छोड़कर, पैदल भटकने में ही बीते। बीच-बीच में किसी महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्या का समाधान खोजने के लिए वे एकदम एकांतवास के लिए चले जाते। बाद के जीवन में, एक युवा शिष्य आनंद हर समय उनके साथ रहने लगा था और सीधे सरल दैनिक कार्यक्रम में जहाँ तक संभव होता, उनकी देखभाल करता था। कहा जाता है कि आनंद ने ही बुद्ध के बहुत-से प्रवचनों को याद रखकर दोहराया, बुद्ध के जीवन काल में कोई लिखा नहीं गया था। अन्य स्थानों की अपेक्षा कोसल राजधानी सावत्थी में कहीं अधिक प्रवचन हुए। बुद्ध की यात्राएँ कोसाम्बी से बहुत दूर, संभवत: यमुना तट पर मथुरा तक, नहीं हो सकी होंगी, यद्यपि कुरु-देश वह एक से अधिक बार गये थे। विपरीत दिशा में वे गया और राजगिर होकर नियमित रूप से जाते थे और गंगा के दक्षिण में मिर्जापुर के समीप नये बसे प्रदेश दक्खिन गिरि भी गये थे। उनके रूप-रंग के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है। उनका कोई समकालीन चित्र नहीं मिलता, और वास्तव में उनकी मृत्यु के सैकड़ों वर्ष बाद तक मूर्तियों में, जैसे कि भारहुत में, बुद्ध के प्रतीक वृक्ष, चरण अथवा धर्मचक्र आदि होते रहे। भ्रमणशील जीवन और सादे अल्प आहार के फलस्वरूप अपने दीर्घजीवन में वे नीरोग रहे और उनकी अस्वस्थता का बहुत कम उल्लेख मिलता है। यद्यपि वे अपने वृद्ध शरीर को हँसी में 'पुरानी टूटी हुई गाड़ी की भाँति किसी प्रकार जुड़ा हुआ' बताते हैं; पर लगता है कि उनहत्तर वर्ष की अवस्था में उन्होंने पटना के पास गंगा को तैर कर पार किया, जबकि उनके कम साहसी शिष्य पार पहुँचने के लिए नावों और बेड़ों की तलाश करते रहे। राजगिर से सावत्थी जाते समय मल्लों की नगरी कुसीनारा में उनकी मृत्यु हुई।

उनका जीवन जोखिमों और संकटों से रहित न था। दक्खिनगिरि में और मथुरा के पास ऐसे क्रूर यक्ष पूजक थे जो अजनबी लोगों को पकड़कर उनसे पहेलियाँ पूछते और उत्तर संतोषजनक न होने पर उनकी बलि चढ़ा देते। बुद्ध ने इन यक्षों में से कुछ को (संभवत: उनके मानव प्रतिनिधियों को) रक्तहीन यज्ञों के लिए राजी कर लिया था। राजा बिम्बिसार ने, यह जानकर कि विशिष्ट रूपरंग और प्रभावशाली शरीर वाला युवक भिक्षु सुशिक्षित क्षत्रिय है, तरुण और तब तक अज्ञात बुद्ध को

मगध सेनाओं के संचालन का भार सौंपना चाहा था। बुद्ध के अस्वीकार कर देने के बाद भी उनकी और राजा की मैत्री बनी रही। मागंडीय नामक ब्राह्मण ने जाति और ब्रह्मचर्य व्रत की उपेक्षा करके अपनी सुन्दरी कन्या का विवाह बुद्ध से करना चाहा। मना कर देने पर अस्वीकृत सुन्दरी ने जीवन-भर के लिए शत्रुता बांध ली, और बाद में एक राजकुमार से विवाह करके बदला लेने का प्रयास किया। प्रतिद्वन्द्वी शिक्षकों द्वारा उन पर झूठे आरोप लगाये गये, और ऐसे लोगों ने तिरस्कार का भाव भी दिखाया जो सोचते थे कि गौतम-जैसे स्वस्थ व्यक्ति को खेती या कोई ऐसा ही अन्य उपयोगी कार्य करना चाहिए। भयंकर डाकू अंगुलिमाल, जो हाथ आने वाले प्रत्येक पथिक की हत्या कर डालने के कारण अपराधी घोषित था, बुद्ध को डराने-धमकाने में असफल होने के बाद स्वयं बदल गया और उसने भिक्षु होकर संघ में शांतिपूर्ण जीवन बिताया। अपने युग के सबसे धनी और दानी व्यापारी सुदत्त ने (जो अनाथपिंडिक, 'असहायों को भोजन देने वाला' कहलाता था) बुद्ध और उनके अनुयाइयों के लिए वर्षा काल में विश्राम का स्थान सुलभ करने के उद्देश्य से, सावत्थी के बाहर राजकुमार जेट के उपवन को प्राप्त करके उसकी भूमि को चांदी के टुकड़ों से ढँक दिया। व्यापारी और सुसम्पन्न 'गहपति' वर्ग के और भी बहुत-से स्त्री-पुरुष थे जो विशेष ध्यान से उन कर्तव्यों का उपदेश सुनते थे जो बुद्ध ने कर्म और पुनर्जन्म की शक्ति के भीतर संतुष्ट रहने वाले साधारण नागरिक के लिए निर्धारित किये थे। एक सुन्दर-सी कहानी उनके एक दम्पति को उपदेश की है जो वर्षों से सुखी वैवाहिक जीवन बिता रहे थे और जो चाहे जिस स्थिति में हों, फिर से पति-पत्नी के रूप में ही जन्म लेना चाहते थे। उन्हें बताया गया कि यह वे धर्मपरायण पारिवारिक जीवन के सरल कर्त्तव्यों का पालन करके प्राप्त कर सकते हैं। ब्राह्मण सारिपुत्त और मोग्गलान ने, जो स्वयं बुद्ध के जीवनकाल में उनके प्रमुख शिष्यों में से थे, जब संजय का अनुसरण छोड़कर संघ में प्रवेश किया तो वे उस समय स्वयं बुद्ध से अधिक विख्यात थे; बौद्ध संघ अपनी वृद्धि, प्रारंभिक दर्शन और संगठन के लिए उनका ही ऋणी है। पर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लोग बुद्ध के शिष्य थे। संघ के प्रमुखों के पारंपरिक क्रम में प्रथम था उपालि जो दीक्षा के पहले नाई था (पर लगभग निश्चय ही शाक्य भी था)। बुद्ध के शाक्य चचेरे भाई देवदत्त का मत था कि भिक्षुओं का सामाजिक सम्पर्क कम और उनका अनुशासन और अधिक कठोर होना चाहिए। कहा जाता है कि जब बुद्ध ने ऐसा असामाजिक नियम बनाना अस्वीकार किया तो देवदत्त ने उनकी हत्या का प्रयास किया। नीची-से-नीची जातियों के लोग, जैसे एक मेहतर और एक श्वान-भक्षक, संघ के अत्यन्त सम्मानित भिक्षु थे जिन्हें स्वयं बुद्ध ने दीक्षा दी थी। बौद्ध भिक्षुणियों का संघ अलग था जिसका अपना पृथक् संगठन था। उस समय के दो

महानतम राजाओं ने, जो निरे कबीलों के मुखिया नहीं, बल्कि एकछत्र सम्राट् थे, उन्हें सम्मानपूर्ण संरक्षण प्रदान किया था। चुंद लुहार ने वृद्ध बुद्ध को छत्रकों का ऐसा आहार दिया जिससे बाद में उनकी रक्तातिसार की पुरानी व्याधि का फिर से प्रकोप हुआ जो बुद्ध की अंतिम अस्वस्थता सिद्ध हुई; पर उसे भी उन्होंने उतने ही मनोयोग से नैतिकता के विषय में एक विशेष प्रवचन दिया जितना धनी-से-धनी व्यापारी या बड़े-से-बड़े राजा को मिलता।

प्राचीन बौद्ध धर्म-ग्रंथ सुत्तनिपात की एक कथा विस्तार से लिखना उपयोगी होगा क्योंकि उसमें बौद्ध धर्म के प्रसार और समकालीन भारत दोनों के बारे में बड़ी महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। कोसल का ब्राह्मण बावरी राजधानी (सावत्थी) से दक्षिणापथ चला गया। वह कुछ युवक शिष्यों के साथ मुला और गोदावरी नदियों के संगम पर अस्सकों के ('अश्वक', वह कबीला जिससे बाद में सात वाहनों का उदय हुआ) क्षेत्र में जा बसा। वहाँ वह आहार-संग्रह द्वारा, पेड़-पौधों से जंगली अनाज और मिंगियाँ तथा धरती से कंद-मूल लेकर, अपना निर्वाह करता था। कुछ समय बाद उसके पड़ौस में एक ग्राम बस गया। बावरी ने इस गाँव की अतिरिक्त उपज में से जो कुछ प्राप्त हो सका उसे लेकर वैदिक रीति के एक विराट यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ के उपहारों का वितरण हो जाने के बाद वहाँ एक ब्राह्मण आया और जब उसे कुछ न मिला तो उसने बावरी को शाप दिया जिससे पूरे अनुष्ठान में विघ्न पड़ गया। तब बावरी ने अपने सोलह शिष्यों को उत्तर में बुद्ध के पास शंका दूर करने के लिए भेजा। उस समय बुद्ध की ख्याति दक्षिणपथ में दूर-दूर तक फैल चुकी थी और वही ऐसे व्यक्ति जान पड़ते थे जो शाप से रक्षा कर सकें। ये शिष्य पहले तो दक्षिणापथ के व्यापार-मार्ग के (जो बावरी के आश्रम के दक्षिणपूर्व में पड़ता था) अंतिम छोर पैथन गये; फिर संभवत: किसी व्यापारी सार्थ के साथ औरंगाबाद होते हुए नर्मदा नदी के किनारे महेश्वर पहुँचे; फिर उज्जैन, गोनद्ध (अज्ञात किन्तु गोंड प्रदेश में), भिलसा, कोसाम्बी, साकेत (फ़ैज़ाबाद), सावत्थी। वहाँ वे उत्तरापथ के व्यापार-मार्ग के पूर्वी भाग में सम्मिलित होकर सेतव्या, कपिलवस्तु (साक्य राजधानी), कुशीनारा, पावा (दोनों मल्लों के नगर), भोगनगर, वैसाली (आधुनिक बसाढ़ जो उस समय लिच्छिवियों का प्रमुख नगर था), राजगिर पहुँचे। वहाँ बुद्ध नगर के बाहर पाषाण चैत्य में थे। उनके कुछ प्रश्न इस प्रकार थे—इस जगत को कौन ढँके हुए है, इसे आलोक से कौन रोकता है ? मनुष्य को जीवन के भँवर में से कौन निकाल सकता है ? इस संसार में पूरी तरह सन्तुष्ट मनुष्य कौन है ? ऋषियों, क्षत्रियों, ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों को देवताओं के लिए यज्ञ करने से कौन रोकता है ? संसार में दुखों का कारण क्या है ? सच्चा ज्ञानी कौन है, ? दर्शन का पंडित या (वैदिक)

कर्मकांड का ज्ञाता ? उस मुक्ति का स्वरूप क्या है जो इच्छाओं और शंकाओं से अपने को मुक्त करने वाले को प्राप्त होती है ? ऐसे प्रश्न आरंभिक उपनिषदों में विशेष रूप से मिलते हैं ।

ये प्रश्न उस युग की प्रवृत्ति को सूचित करते हैं । इस कहानी में पैथन से सावत्थी तक का दक्षिणी व्यापार-मार्ग विस्तार से दिया हुआ है । उस समय मगध की बजाय कोसल अधिक महत्त्वपूर्ण था और कोसाम्बी से बनारस तथा आगे पूर्व के लिए सीधा मार्ग, जल या थल से, बहुत लोकप्रिय नहीं था । यह स्पष्ट है कि छठी शताब्दी के मध्य तक गोदावरी के किनारे खेती नहीं होती थी; उसके बाद गाँव धड़ाधड़ बसने का कारण शायद यह रहा हो कि लोहे और उसके उपयोग की, तथा उत्तर के भारी हल की, जानकारी उस क्षेत्र में तभी पहुँची । इस भाँति दक्षिणापथ के प्रागैतिहासिक युग में से निकलने की तिथि बुद्ध के जीवन के संदर्भ से बहुत-कुछ निश्चित रूप से ज्ञात हो जाती है । यह बात नर्मदा के किनारे महेश्वर, और गोदावरी के संगम के समीप नेवासा से लगाकर प्रवरा-मुला तक के क्षेत्र में होने वाली खुदाई से भी मेल खाती है । नेवासा से लगाकर प्रवरा संगम तक का क्षेत्र दक्षिण के ब्राह्मणों के लिए लेखबद्ध इतिहास में निरंतर पवित्र स्थान रहा । यहीं तेरहवीं शताब्दी के अंत में महाराष्ट्रीय संत ज्ञानेश्वर ने अलदी के अपने ब्राह्मण साथियों के उत्पीड़न से भागकर भगवद्गीता के छंदबद्ध अनुवाद और भाष्य की रचना की थी । इस कृति ने मराठी भाषा को रूप प्रदान किया और हर जाति के उत्तरवर्तियों की लंबी पंक्ति को प्रेरणा दी । पर नयी भाषा और कृषिमूलक बस्ती दोनों के लिए प्रेरणा, जिसके बिना गीत और उसका अनुवाद इस क्षेत्र के लिए अनावश्यक होता, उत्तर से ई० पू० छठी शताब्दी में प्रभावी ढंग से आयी थी ।

बौद्ध ग्रंथों में गृहपति और कृषक के कर्तव्यों को, जाति, धन, व्यवसाय आदि से स्वतंत्र, और कर्मकांड पर तनिक भी ध्यान दिये बिना निर्धारित किया गया है । उनमें ब्राह्मणों के आडम्बर और विशेष कर्मकांड के विरुद्ध तर्क बड़ी कुशलता के साथ अत्यन्त सरल शब्दों में प्रस्तुत किये गये हैं । सामाजिक भेद के रूप में जाति का अस्तित्व संभव है; पर उसमें कोई चिरन्तनता नहीं, कोई आन्तरिक औचित्य नहीं । और न कर्मकांड में है जो सदाचारपूर्ण जीवन के लिए अनावश्यक और अप्रासंगिक है । बौद्ध धर्मग्रंथ, जो सभी बुद्ध के उपदेशों और चर्चाओं से बने माने जाते हैं, दैनन्दिन भाषा और सादी शैली में है तथा रहस्यात्मकता या दीर्घसूत्री ऊहापोह से रहित है । यह एक नये प्रकार का धार्मिक साहित्य था जो समस्त समकालीन समाज को सम्बोधित था, कुछ दीक्षाप्राप्त पंडितों और विशेषज्ञों के लिए सुरक्षित नहीं । सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि बुद्ध या उनके किसी अज्ञात आरंभिक शिष्य ने निरंकुश शासन के

महानतम राजाओं ने, जो निरे कबीलों के मुखिया नहीं, बल्कि एकछत्र सम्राट् थे, उन्हें सम्मानपूर्ण संरक्षण प्रदान किया था। चुंद लुहार ने वृद्ध बुद्ध को छत्रकों का ऐसा आहार दिया जिससे बाद में उनकी रक्तातिसार की पुरानी व्याधि का फिर से प्रकोप हुआ जो बुद्ध की अंतिम अस्वस्थता सिद्ध हुई; पर उसे भी उन्होंने उतने ही मनोयोग से नैतिकता के विषय में एक विशेष प्रवचन दिया जितना धनी-से-धनी व्यापारी या बड़े-से-बड़े राजा को मिलता।

प्राचीन बौद्ध धर्म-ग्रंथ सुत्तनिपात की एक कथा विस्तार से लिखना उपयोगी होगा क्योंकि उसमें बौद्ध धर्म के प्रसार और समकालीन भारत दोनों के बारे में बड़ी महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। कोसल का ब्राह्मण बावरी राजधानी (सावत्थी) से दक्षिणापथ चला गया। वह कुछ युवक शिष्यों के साथ मुला और गोदावरी नदियों के संगम पर अस्सकों के ('अश्वक', वह कबीला जिससे बाद में सात वाहनों का उदय हुआ) क्षेत्र में जा बसा। वहाँ वह आहार-संग्रह द्वारा, पेड़-पौधों से जंगली अनाज और मिंगियाँ तथा धरती से कंद-मूल लेकर, अपना निर्वाह करता था। कुछ समय बाद उसके पड़ौस में एक ग्राम बस गया। बावरी ने इस गाँव की अतिरिक्त उपज में से जो कुछ प्राप्त हो सका उसे लेकर वैदिक रीति के एक विराट यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ के उपहारों का वितरण हो जाने के बाद वहाँ एक ब्राह्मण आया और जब उसे कुछ न मिला तो उसने बावरी को शाप दिया जिससे पूरे अनुष्ठान में विघ्न पड़ गया। तब बावरी ने अपने सोलह शिष्यों को उत्तर में बुद्ध के पास शंका दूर करने के लिए भेजा। उस समय बुद्ध की ख्याति दक्षिणपथ में दूर-दूर तक फैल चुकी थी और वही ऐसे व्यक्ति जान पड़ते थे जो शाप से रक्षा कर सकें। ये शिष्य पहले तो दक्षिणापथ के व्यापार-मार्ग के (जो बावरी के आश्रम के दक्षिणपूर्व में पड़ता था) अंतिम छोर पैथन गये; फिर संभवतः किसी व्यापारी सार्थ के साथ औरंगाबाद होते हुए नर्मदा नदी के किनारे महेश्वर पहुँचे; फिर उज्जैन, गोनद्ध (अज्ञात किन्तु गोंड प्रदेश में), भिलसा, कोसाम्बी, साकेत (फ़ैज़ाबाद), सावत्थी। वहाँ वे उत्तरापथ के व्यापार-मार्ग के पूर्वी भाग में सम्मिलित होकर सेतव्या, कपिलवस्तु (साक्य राजधानी), कुशीनारा, पावा (दोनों मल्लों के नगर), भोगनगर, वैसाली (आधुनिक बसाढ़ जो उस समय लिच्छिवियों का प्रमुख नगर था), राजगिर पहुँचे। वहाँ बुद्ध नगर के बाहर पाषाण चैत्य में थे। उनके कुछ प्रश्न इस प्रकार थे—इस जगत को कौन ढँके हुए है, इसे आलोक से कौन रोकता है? मनुष्य को जीवन के भँवर में से कौन निकाल सकता है? इस संसार में पूरी तरह सन्तुष्ट मनुष्य कौन है? ऋषियों, क्षत्रियों, ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों को देवताओं के लिए यज्ञ करने से कौन रोकता है? संसार में दुखों का कारण क्या है? सच्चा ज्ञानी कौन है,? दर्शन का पंडित या (वैदिक)

कर्मकांड का ज्ञाता ? उस मुक्ति का स्वरूप क्या है जो इच्छाओं और शंकाओं से अपने को मुक्त करने वाले को प्राप्त होती है ? ऐसे प्रश्न आरंभिक उपनिषदों में विशेष रूप से मिलते हैं।

ये प्रश्न उस युग की प्रवृत्ति को सूचित करते हैं। इस कहानी में पैथन से सावत्थी तक का दक्षिणी व्यापार-मार्ग विस्तार से दिया हुआ है। उस समय मगध की बजाय कोसल अधिक महत्त्वपूर्ण था और कोसाम्बी से बनारस तथा आगे पूर्व के लिए सीधा मार्ग, जल या थल से, बहुत लोकप्रिय नहीं था। यह स्पष्ट है कि छठी शताब्दी के मध्य तक गोदावरी के किनारे खेती नहीं होती थी; उसके बाद गाँव धड़ाधड़ बसने का कारण शायद यह रहा हो कि लोहे और उसके उपयोग की, तथा उत्तर के भारी हल की, जानकारी उस क्षेत्र में तभी पहुँची। इस भाँति दक्षिणापथ के प्रागैतिहासिक युग में से निकलने की तिथि बुद्ध के जीवन के संदर्भ से बहुत-कुछ निश्चित रूप से ज्ञात हो जाती है। यह बात नर्मदा के किनारे महेश्वर, और गोदावरी के संगम के समीप नेवासा से लगाकर प्रवरा-मुला तक के क्षेत्र में होने वाली खुदाई से भी मेल खाती है। नेवासा से लगाकर प्रवरा संगम तक का क्षेत्र दक्षिण के ब्राह्मणों के लिए लेखबद्ध इतिहास में निरंतर पवित्र स्थान रहा। यहीं तेरहवीं शताब्दी के अंत में महाराष्ट्रीय संत ज्ञानेश्वर ने अलंदी के अपने ब्राह्मण साथियों के उत्पीड़न से भागकर भगवद्गीता के छंदबद्ध अनुवाद और भाष्य की रचना की थी। इस कृति ने मराठी भाषा को रूप प्रदान किया और हर जाति के उत्तरवर्तियों की लंबी पंक्ति को प्रेरणा दी। पर नयी भाषा और कृषिमूलक बस्ती दोनों के लिए प्रेरणा, जिसके बिना गीत और उसका अनुवाद इस क्षेत्र के लिए अनावश्यक होता, उत्तर से ई० पू० छठी शताब्दी से प्रभावी ढंग से आयी थी।

बौद्ध ग्रंथों में गृहपति और कृषक के कर्तव्यों को, जाति, धन, व्यवसाय आदि से स्वतंत्र, और कर्मकांड पर तनिक भी ध्यान दिये बिना निर्धारित किया गया है। उनमें ब्राह्मणों के आडम्बर और विशेष कर्मकांड के विरुद्ध तर्क बड़ी कुशलता के साथ अत्यन्त सरल शब्दों में प्रस्तुत किये गये हैं। सामाजिक भेद के रूप में जाति का अस्तित्व संभव है; पर उसमें कोई चिरन्तनता नहीं, कोई आन्तरिक औचित्य नहीं। और न कर्मकांड में है जो सदाचारपूर्ण जीवन के लिए अनावश्यक और अप्रासंगिक है। बौद्ध धर्मग्रंथ, जो सभी बुद्ध के उपदेशों और चर्चाओं से बने माने जाते हैं, दैनन्दिन भाषा और सादी शैली में हैं तथा रहस्यात्मकता या दीर्घसूत्री ऊहापोह से रहित हैं। यह एक नये प्रकार का धार्मिक साहित्य था जो समस्त समकालीन समाज को संबोधित था, कुछ दीक्षाप्राप्त पंडितों और विशेषज्ञों के लिए सुरक्षित नहीं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि बुद्ध या उनके किसी अज्ञात आरंभिक शिष्य ने निरंकुश शासक के

लिए भी नये कर्त्तव्य निर्धारित करने का साहस किया : लुटेरों और समाज-विरोधी लोगों से पीड़ित देश से केवल कर वसूल करने वाला राजा अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करता। लूटमार और कलह को कभी वल और कठोर दंड द्वारा नहीं दवाया जा सकता। सामाजिक बुराइयों की जड़ ग़रीवी और वेकारी है। इसको दान और अनुदान की घूस से भी नहीं मिटाया जा सकता, उनसे तो बुरे कार्यों को पुरस्कार और प्रेरणा ही मिलेगी। उचित उपाय यह है कि जो खेती और पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह करते हैं, उन्हें बीज और भोजन सुलभ किया जाय। व्यापार से जीविका पाने वालों को आवश्यक पूंजी सुलभ होनी चाहिए। राजकर्मचारियों को उचित और नियमित वेतन मिलना चाहिए जिससे वे जनपदों से धन ऐंठने के अन्य उपाय न खोजें। इस भाँति नयी सम्पत्ति का उत्पादन होगा और जनपदों को लुटेरों और प्रवंचकों से छुटकारा मिलेगा। ऐसे उत्पादक और संतोषपूर्ण वातावरण में नागरिक सुख और सुविधा के साथ, अभाव और भय से मुक्त होकर, अपने वच्चों का भरण-पोषण कर सकेगा। अतिरिक्त संचय को चाहे वह राजकोष में हो चाहे ऐच्छिक, निजी अनुदानों से, सार्वजनिक कार्यों में, जैसे कुएँ और तालाव खुदवाने और व्यापार मार्गों पर छायादार वृक्ष लगवाने में, खर्च करना ही सर्वोत्तम है।

अर्थ-व्यवस्था के प्रति यह दृष्टिकोण इतना आधुनिक है कि आश्चर्य होता है। उसका प्रतिपादन वैदिक यज्ञों के युग में, एक ऐसे समाज के सामने करना जिसने अभी-अभी आदिम जंगलों को वश में करना शुरू किया हो, उच्चतम कोटि की वौद्धिक उपलब्धि का सूचक है। इस नये दर्शन ने मनुष्य को अपने ऊपर तो नियंत्रण प्रदान किया, पर उससे प्रकृति के ऊपर ऐसा असीमित वैज्ञानिक और प्राविधिक नियंत्रण नहीं प्राप्त हो सकता था कि उससे उपलब्ध सुविधाओं में व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार पूरी मानव जाति साझेदार हो सके।

जिस समय एक अज्ञात गाँव में केवल एक शिष्य की देख-रेख में बुद्ध का देहावसान हुआ, उस समय तक उनके अपने साक्य कवीले की सामूहिक हत्या हो चुकी थी और उनके दोनों संरक्षक राजा वड़ी दुखद परिस्थितियों में मर चुके थे। बुद्ध के प्रतिभाशाली शिष्य सारिपुत्त और मोग्गलान पहले ही निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। फिर भी उनकी विचारधारा का निरन्तर प्रसार होता रहा क्योंकि वह एक तेज़ी से विकसित होते हुए समाज की आवश्यकताओं के लिए अत्यन्त उपयुक्त थी।

यदुओं का श्याम नायक

पर जो पंथ भारत के करोड़ों लोगों के लिए 'सच्चे धर्म' के रूप में वीसवीं शताब्दी तक जीवित रहने वाला था वह वौद्ध धर्म नहीं, वल्कि एक वैयक्तिक देवता

कृष्ण की पँचमेल पूजा का था, जिससे कष्ट में पड़ने पर कोई भी सहायता के लिए प्रार्थना कर सकता था, जो मानवीय शिक्षक बुद्ध से करना संभव न था। दोनों में हर बात में विसदृशता है, यद्यपि बाद में कृष्ण के नाम से चलाये गये बहुत-से सिद्धांत चोरी-चोरी बौद्धधर्म से उड़ाये गये थे; और सिद्धांत ही नहीं, कुछ गुणसूचक विशेषण भी जैसे भगवत, नरोत्तम, पुरुषोत्तम आदि। जहाँ बुद्ध एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, वहाँ बहुसंख्यक कृष्णों में से किसी के बारे में, जिनकी पुराणकथाओं और अनुश्रुतियों को संयुक्त करके एक श्याम सर्वेश्वर की रचना हुई, कोई भी ऐतिहासिक तथ्य पाना मुश्किल है। परवर्ती बौद्धधर्म मिथकों की तहें बढ़ने और बुद्ध को अधिकाधिक दिव्य पद प्रदान करने के कारण नष्ट हुआ; कृष्ण-पूजा तो देवत्व के संचित मिथकों पर ही पूर्णत: आधारित थी और उनसे पुष्ट होती थी। सरलतम शब्दों और सीधी-सादी तर्कपद्धति द्वारा स्वच्छ और सुस्पष्ट विवेचन, जो प्रारंभिक बौद्ध-प्रवचनों की विशेषता है, कृष्ण के नाम पर आरोपित शिक्षाओं में नहीं मिलता। प्रभावशाली संस्कृत भाषा और अपूर्व असंगतियों का ग्रंथ **गीता** ऐसी रचना है जो पाठक को परिणाम की ओर से आँख मूँदकर प्राय: किसी भी कार्य को न्यायसंगत मान लेने की छूट देती है। बहुमुखी देवता कृष्ण भी इसी प्रकार संगतिहीन है, यद्यपि वह सभी पुरुषों के लिए सभी कुछ और अधिकांश स्त्रियों के लिए सर्वस्व है : दिव्य और प्यार करने योग्य शिशु, नटखट गोपबालक; गोपसमाज में समस्त ग्वालिनों का प्रेमी, असंख्य देवियों का पति, स्वच्छंद-संभोगी तथा पौरुषवान; फिर भी रहस्यमय संयोग में केवल राधा से अनुरक्त, और तिस पर भी तापसिक संन्यास का प्रवक्ता; शाश्वत शांति का परम अवतार, किंतु अपने मामा कंस के वध में, किसी अन्य के यज्ञ में सम्मानित अतिथि शिशुपाल के शिरच्छेद में, उग्र उपद्रवी; समस्त नैतिकता का मूलस्रोत, किंतु उस महान् युद्ध के संकटपूर्ण क्षणों में (जिसमें उसने एक साथ ही दैवी निर्णायक और तुच्छ सारथी दोनों की भूमिका निभायी) जिसका परामर्श सदा मर्यादा, न्याय-व्यवहार और क्षात्र धर्म के प्रत्येक नियम के विरुद्ध रहा। समस्त कृष्ण आख्यान सच्चे आस्तिक द्वारा आँख मूँदकर चाहे जिस बात पर विश्वास करने की अनंत क्षमता का शानदार उदाहरण, और **गीता** के सत्याभासी तर्कों के लिए अवसरवाद का बेजोड़ चौखटा है। वह एक अपेक्षाकृत आदिम उत्पादन-स्तर वाले अत्यधिक मिश्रित समाज और उसके धर्म के बीच संबंध को प्रकट करता है।

इस आख्यान का पूरा इतिवृत्त कम-से-कम ईसा की बारहवीं शताब्दी और महान आचार्य रामानुज के वैष्णव सुधारों तक जाता है। हम फिलहाल कहानी को केवल ई० पू० चौथी शताब्दी तक ही लेंगे। कृष्ण के बारे में एकमात्र पुरातात्त्विक तथ्य उनके पारंपरिक अस्त्र-चक्र से प्राप्त हुआ जो फेंककर मारा जा सकता था और इतना

तीक्ष्ण होता था कि शत्रु का सिर काट दे। यह शस्त्र वैदिक नहीं है और बुद्ध के वहुत पहले ही इसका चलन वंद हो चुका था; पर मिर्ज़ापुर जिले (वास्तव में वौद्ध दक्खिन-गिरि) के एक गुफाचित्र में एक रथारोही को ऐसे चक्र से आदिवासियों पर (जिन्होंने वह चित्र बनाया है) आक्रमण करते दिखाया गया है। इसलिए इसका काल ई० पू० ८०० के आस-पास होगा, जो मोटे तौर पर वही है जव वनारस में पहली वस्ती की
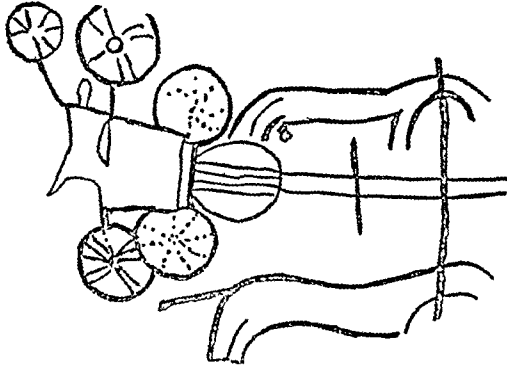
चित्र ८. मिर्ज़ापुर की एक गुफ़ा में चक्का फेंकता हुआ सारथी, लगभग ८०० ई० पू०

नींव पड़ी। रथारोही आर्य लोग होंगे जो नदी के पार लोहे की खनिज मिट्टी के लिए इस क्षेत्र का अन्वेषण कर रहे होंगे—उस गाढ़े हेमाटाइट के लिए जिससे ये गुफाचित्र अंकित हैं। दूसरी ओर ऋग्वेद में कृष्ण इंद्र का शत्रु एक दानव है और उसका नाम काले रंगवाले विद्वेषी आर्य-पूर्व लोगों का जातिवाचक पद है। कृष्ण अनुश्रुति का आधार यह है कि वह प्राचीनतम वेद में पाँच प्रमुख आर्य कवीलों या जनों (पंचजनाः) में से एक यदुजन का योद्धा और वाद में अर्ध-देवता था। पर ऋचाकारों ने इन यदुओं को, पंजाव के कवीलों में निरंतर चलनेवाली कलह की तात्कालिक गुटवंदियों के अनुसार, कभी धिक्कारा है तो कभी आशीर्वाद दिया है। कृष्ण सात्वत, अंधक-वृष्णि भी है, जिसे उसके मामा कंस से वचाने के लिए गोकुल में पाला गया था। साथ ही इस स्थानांतरण ने उसे आभीरों से सम्बद्ध कर दिया, जो ईसाई युग के आरंभ के ऐतिहासिक पशुचारी लोग और आधुनिक अहीर जाति के पूर्वज हैं। यह भविष्यवाणी हुई थी कि कंस अपनी वहन (और कुछ पाठान्तरों में पुत्री) देवकी के एक पुत्र द्वारा मारा जायगा, इसलिए उसने देवकी और उसके पति वसुदेव को कारागार में डाल दिया था। वालक कृष्ण-वासुदेव (वसुदेव का पुत्र) गोकुल में वड़ा हुआ, जहाँ उसने इंद्र से गोधन

की रक्षा की और अनेक मुखवाले विषधर नाग कालिय का, जिसने मथुरा के पास यमुना नदी के एक सुविधाजनक सरोवर का रास्ता रोक रखा था, दमन करके निकाल दिया, मारा नहीं। फिर कृष्ण और उसके और भी बलशाली भाई बलराम ने भविष्य-वाणी को पूरा करने के पहले अखाड़े में कंस के मल्लों को भी परास्त किया। यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि कुछ आदिम समाजों में मुखिया की बहन का पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी होता है; और यह भी कि उत्तराधिकारी को प्रायः मुखिया की बलि चढ़ानी पड़ती है। कंस की मृत्यु का आदिम प्रथाओं में पर्याप्त समर्थन मिलता है और उससे प्रकट है कि पत्नीस्थानिक समाज में ईडिपस आख्यान का क्या रूप हो गया होता।

कृष्ण ने अपने कबीले के बाहर अगला चरण मातृदेवियों को लेकर उठाया। बचपन में वह एक को मार चुका था, जिसका नाम था पूतना (बाद में शायद चेचक की देवी), और जिसने अपना विषाक्त दूध पिलाकर उसकी हत्या करनी चाही थी। पर वह बच गई होगी, जैसे इंद्र के साथ झड़प के बाद उषस बच गयी थी, क्योंकि मथुरा क्षेत्र का एक अंश पूतना का नाम धारण किये रहा। जिस गोकुल में (कंस से बचाने के लिए) कृष्ण का पालन हुआ था, वह मथुरा से नदी के किनारे वृंदावन नामक एक उपवन में स्थायी रूप से आ गया था। इस नाम का अर्थ है 'सामूहिक देवी का वन'। आज भी वर्ष में एक निश्चित दिन पवित्र तुलसी के रूप में इस देवी से कृष्ण का विवाह होता है; अनुष्ठान की प्रति वर्ष पुनरावृत्ति से सूचित होता है कि प्रारंभ में देवी के मानवीय प्रतिनिधि के पति की बलि देने की प्रथा थी जिसे कृष्ण ने तोड़ दिया। मातृदेवियों से विवाह और अप्सराओं से क्रीड़ा का शौक इस उत्साही नायक में अनियंत्रित रूप में बढ़ा; (वृंदा और राधा के अतिरिक्त) कृष्ण की रानियों की संख्या १६१०८ बतायी जाती है। उनमें से कुछ प्राचीनतर और विदेशी कबीलों का प्रतिनिधित्व करती थीं, जैसे 'रीछ' कुल के मुखिया की पुत्री जाम्बवती। रुक्मिणी ('स्वर्णिम') भोजों से सम्बद्ध थी, जो उस समय तक वहशी ही थे। ये हज़ारों नामहीन 'पत्नियाँ' केवल जलपरियाँ मात्र थीं। फलस्वरूप कृष्णपूजा स्थानीय उपासना-विधियों पर शांतिपूर्वक आरोपित हो सकी। उसका प्रसार तथाकथित महाभारत युद्ध के छत्तीस वर्ष बाद, यदुओं के परस्पर प्रत्येक को मार डालने के बहुत बाद तक, होता रहा। यह ज्ञात है कि ई० पू० छठी शताब्दी तक मथुरा पर शूरसेनों का अधिकार हो चुका था; मध्ययुग के यादव अथवा जाधव लोग जबर्दस्ती यदुवंशी बन बैठे थे जिन्हें दक्षिणा लेकर ब्राह्मणों ने झूठी वंशा-वलियाँ कृष्ण के यदुओं से जोड़ने के लिए दे दी थीं। किंतु शूरसेनों ने, यदुओं से सम्बद्ध न होने पर भी, कृष्ण की पूजा प्रचलित रखी जिसका केन्द्र मथुरा बना रहा। पितृतंत्री आर्यों को कुछ मातृतंत्री आर्य-पूर्व लोगों में आत्मसात करने में साँवले देवता के विवाहों

का महत्त्वपूर्ण योग था। यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि न केवल आहार-संग्रहक ऊपर उठकर आहार-उत्पादक बनते हैं, बल्कि आर्य भी परिवेश के कारण भ्रष्ट होकर आहार-संग्रहक बन सकते थे। दोनों अवस्थाओं में दोनों कोटि के लोगों का एकीकरण संभव होता था जो उपासना-विधियों की पारस्परिक स्वीकृति से और भी सहज हो जाता था। दैवी विवाह मानवीय संयोग को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। फलस्वरूप जो सामाजिक मिश्रण उत्पन्न हुआ वह अधिक उत्पादनशील था और परिवेश पर उसका अधिक प्रभावी नियंत्रण था।

प्रारंभिक दिनों में कृष्ण का एक और करतब ऐसा था जिसने उसके उत्कर्ष को द्रुत किया : उसने इन्द्र से गोकुल के गोधन की रक्षा की। ऐसा जान पड़ता है यह संघर्ष तिकोना था, क्योंकि इंद्र ने उन अधिकांश नागों की रक्षा की जिन्हें कृष्ण और कुरुओं की कनिष्ठ पांडव शाखा के लोग हर जगह कुचलने का प्रयास करते थे। वास्तव में **महाभारत** में कृष्ण बाहर के व्यक्ति हैं, महाकाव्य में उनका प्रवेश बाद में हुआ है। अनुश्रुति के अनुसार तो उन्होंने ख़ांडव वन को भूमि साफ करने के लिए पांडुओं के साथ मिलकर जलाया था। यह संभव है कि ऋग्वेद में यदुओं की संदिग्ध स्थिति और कृष्ण का श्याम वर्ण, परस्पर-विरोधी नाग-कथाओं की भाँति ही आर्यों और आदिवासियों के पुनः संयोग की ओर एक स्पष्ट क़दम है। एक ही महाकाव्य में दोनों प्रकार की कहानियाँ तब तक नहीं स्थान पा सकती थीं जब तक उनके श्रोता-वर्ग में दोनों प्रकार के लोग मौजूद न होते हों। इन्द्र के साथ संघर्ष का बड़ा विलक्षण प्रभाव पड़ा। चौथी शताब्दी के अंत में यूनानी आक्रमणकारियों ने पाया कि पंजाब के मैदानों में मुख्यतया उनके अपने हेराक्लीज़ से मिलते-जुलते एक भारतीय देवता की पूजा होती है, और 'डायोनिसस' पहाड़ों में पूजा जाता है। यह हेराक्लीज़ निश्चित रूप से भारतीय कृष्ण था। यह यूनानी योद्धा परंपरा से एक अद्वितीय व्यायामी व्यक्ति माना जाता है जिसे सूर्य ने जलाकर काला कर दिया था; उसने हिड्रा (कालिय-जैसे बहुत-से फनवाले सर्प) का वध किया था और बहुत-सी अप्सराओं से विवाह या रमण किया था। साथ ही, कृष्ण की मृत्यु का ढंग भारतीय की अपेक्षा यूनानी पुराणकथा के अधिक अनुकूल था। यदु अवतार की मृत्यु जरस नामक एक जंगली व्याध द्वारा, जो वास्तव में उसका सौतेला भाई था, एड़ी में बाण मारने से हुई। भारतीय आज भी नहीं समझ पाते कि ऐसा आघात मारक कैसे हो सकता है। ऐचिलीज़ और पौराणिक युग के अन्य अनेक यूनानियों की कथाओं से प्रकट है कि यह विचित्र मृत्यु ऐसे विषबुझे अस्त्र द्वारा किसी आनुष्ठानिक हत्या के कारण हुई होगी जो प्रायः बधित वीर का भाई (या उत्तराधिकारी) चलाता था। जिस अन्य देवता को यूनानियों ने विजेता डायोनिसस समझा वह केवल वैदिक इंद्र ही हो सकता है, जिसका प्रचंड

सुरापायी और युद्धप्रेमी चरित्र ऋग्वेद में भरा पड़ा है। इस यूनानी सूचना के भारी महत्त्व पर ध्यान नहीं दिया गया है। इससे प्रकट है कि यद्यपि यदु लोग विलुप्त हो चुके थे, पर पंजाब के सर्वोत्तम खेतीवाले अंश में इंद्र की पूजा का स्थान कृष्ण की पूजा ने ले लिया था। साथ ही यह इस बात के बावजूद हुआ कि इन्द्र-डायोनिसस ही (यूनानी लेखों में) अपनी 'विजय' के बाद भारत में पहली बार लोहे और धातुओं का ज्ञान, खेती के लिए बैलों का प्रयोग और भवन-निर्माण की कला, लाया था।

कृष्ण द्वारा इन्द्र को अपदस्थ किये जाने के ऐतिहासिक चरण, कालक्रम और निश्चित ब्यौरेवार तथ्य दुर्भाग्यवश लुप्त हो चुके हैं; पर परिवर्तन का कारण स्पष्ट है। पशुचारी जीवन का स्थान कृषि-जीवन ले रहा था। वैदिक यज्ञ और अनवरत युद्ध पशुचारी जीवन के भले ही उपयुक्त रहे हों, पर कृषि जीवन के लिए वे मँहगे, असहनीय उपद्रव ही होते। कृष्ण गोधन के रक्षक थे और ऐसे यज्ञों में, जिनमें पशुबलि होती हो उनका उस प्रकार आह्वान नहीं किया जाता जैसे इन्द्र, वरुण तथा अन्य वैदिक देवताओं का निरंतर होता था। यदुओं ने अपने पूर्वज संस्थापक देवता के लिए चाहे जो यज्ञ किए हों, अन्य कबीलों द्वारा उन यज्ञों को करते रहने का कोई कारण न था। दूसरी ओर, जो पशुचारी कबीले कृषि अपनाते जा रहे थे, वे निश्चित रूप से इन्द्र की अपेक्षा कृष्ण को ही पसंद करते; यही बात आर्य-पूर्व लोगों के बारे में थी जो पशुपालकों से सीखने और उनके साथ विवाह-संबंध तो करने लगे थे, पर जो असंख्य स्थानीय देवियों में से किसी-न-किसी की पूजा करते थे जो सुविधापूर्वक कृष्ण की पत्नियाँ बना दी गयी थीं। विशुद्ध कृषकों को—जो पंजाब में कुछ धीमे विकसित हो रहे थे—कृष्ण के असाधारण भाई बलराम ने संतुष्ट कर लिया था; बलराम को संकर्षण या हलधर भी कहते हैं, क्योंकि हल उसका विशेष गुणसूचक अस्त्र था, जिस प्रकार तीक्ष्ण चक्र कृष्ण का था। यह भाई न केवल किसानों का स्वाभाविक देवता था, बल्कि उसके माध्यम से नाग लोगों को भी आत्मसात किया जा सका। बलराम को प्रायः विराट आदिम सर्प शेषनाग का अवतार माना गया है जो अथाह जल-विस्तार के ऊपर इस पृथ्वी को अपने मस्तक पर रखे हुए है। (बौद्ध अनुश्रुतियाँ भी मानवीय, दैवी या सर्प नागों से मुक्त नहीं हैं। बुद्ध ने आदिवासी नागों का धर्मपरिवर्तन किया, विषधर सर्पों को वश में किया, मुचिलिंद जैसे दैवी नाग ने प्रकृति के प्रकोप से उनकी रक्षा की, और वह स्वयं किसी पूर्वजन्म में उभयभावी 'भले नाग' रहे थे। नालंदा और संकस्य जैसे प्रमुख बौद्ध मठ उन स्थानों पर थे जो मूलतः नागपूजा-स्थल थे; कभी-कभी विशेष अवसरों पर मूल नाग भिक्षुओं से भोजन लेने के लिए दयालु सर्प के रूप में प्रकट हुआ करता था।) एक प्रश्न बाकी रहता है। अजनबी कबीले ऐसे देवताओं की पूजा क्यों करने लगे जो उनके नहीं थे ? इसका उत्तर यही जान पड़ता

है कि यदुओं और अन्य कबीलों के बीच कोई संबंध रहा होगा; इसके साथ ही शायद पूर्व में मगध की ओर से होनेवाले आक्रमण से बचने के लिए मथुरा से कबीलों के लोग पश्चिम की ओर फैलने लगे होंगे।

अपने-आपको आर्य समझनेवाले लोगों के बीच मूलभूत भेदाभेद दिखाई पड़ने लगे थे। गांगेय प्रदेश के ब्राह्मण और क्षत्रिय उत्तरापथ व्यापार मार्ग के उत्तर-पश्चिमी सिरे तक (तक्षशिला और उससे आगे) उच्च शिक्षा—यज्ञ, ब्राह्मण मंत्रपाठ, उचित आर्य आचार-व्यवहार, चिकित्साशास्त्र, और शुद्ध संस्कृत के ज्ञान—के लिए जाते थे। क्योंकि, पूर्ववासी अपने व्यापार मार्गों पर एक अधिक सरल सामान्य भाषा का व्यवहार करने लगे थे जिसका आधार आर्य होने पर भी जिसमें संस्कृत व्याकरण और वैदिक स्वराघात की विकट जटिलताएँ नहीं थीं। उनका तुतलाहटभरा उच्चारण, दुर्बल वाक्य-विन्यास, ग्राम्य स्वराघात, और प्रायः एकदम बर्बर शब्दावली—सभी कुछ पश्चिम में अत्यंत हास्यास्पद खिचड़ी भाषा जान पड़ती होगी। फिर भी ये प्रांतीय लोग तक्षशिला तथा अन्य पड़ौस के देशों में जाति और वंशावली की सूक्ष्म छानबीन के बिना ही अच्छे शिष्यों के रूप में स्वीकार कर लिये जाते थे, जैसा कि औपनिषद और बौद्ध दोनों प्रकार के ग्रंथों से प्रमाणित होता है। सीमावर्ती उच्चवर्ग के लोग गोरे रंग के थे। वे मानते थे कि 'काले बीजों के ढेर की भाँति बाजार में बैठा दिखाई पड़नेवाला' काला आदमी भूल से भी ब्राह्मण नहीं समझा जा सकता। साथ ही बृहदारण्यक उपनिषद में एक विचित्र अनुष्ठान का वर्णन है जिसके द्वारा पूर्व के ब्राह्मण श्याम वर्ण का किन्तु बुद्धिमान पुत्र प्राप्त कर सकते थे। जाति-संबंधी बाधाएँ दूर होने पर वर्ण-भेद कोई नहीं था। प्रत्येक रंग के शरीरवाली (जैसे यूरोप में किसी भी रंग के बालवाली) स्त्री की सुन्दरता की सराहना होती थी। दूसरी ओर सीमावर्ती प्रदेशों में जाति-सम्बन्धी नियमों का पालन इतना शिथिल था कि पूर्ववासी मद्र, गंधार और कम्बोज के लोगों को उच्छृंखल और बर्बर समझते थे। सुदूर उत्तर-पश्चिम में केवल दो वास्तविक जातियाँ थीं : आर्य जो 'स्वतंत्र' का सूचक था, और दास जिसका अर्थ था 'गुलाम'। दोनों के सदस्य किसी भी परेशानी के बिना एक-दूसरी में शामिल हो सकते थे। इसका अर्थ है कि इन सुदूर शीत-प्रधान प्रदेशों में जहाँ आहार-संग्रह बहुत कठिन था और वस्तु-उत्पादन अनिवार्य, ऐसी दास प्रथा विकसित हो गयी थी जो कुछ बातों में प्राचीन यूनानी-रोमन दासप्रथा से मिलती-जुलती थी। पूर्व में उस समय कोई दासप्रथा न थी पर विभिन्न धन्धों के लिए अधिकाधिक कठोर होते जानेवाले जाति-भेद प्रचलित थे। कुरुदेश के ब्राह्मण किसी हद तक नागों के साथ अंतर्विवाह स्वीकार कर लेते या कम-से-कम उसकी अनदेखी कर देते; पर जब वे देखते कि पेशावर या बलख में एक भाई ब्राह्मण

का कार्य करता है और दूसरा खेती, और परिवार में एक अन्य योद्धा या नाई का (जातिगत धंधों में बहुत नीचा) काम करता है, तो वे बहुत विक्षुब्ध होते थे। परिवार के ये सदस्य, किसी प्रकार की लज्जा की भावना के बिना, इच्छानुसार आपस में धन्धे की अदला-बदली भी कर लेते थे। सीमा प्रान्त की स्त्रियों का व्यवहार यथेष्ट उन्मुक्त था; वे न आगन्तुकों के सामने शर्माती थीं, न परिवार के वयोवृद्ध पुरुषों के आगे कोई शील-संकोच का अनुभव करती थीं जिसकी सम्भ्रांत परिवार के भारतीय आज भी अपने स्त्री समुदाय से अपेक्षा करते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों मांस खाते थे और कड़ी शराब पीते थे; निर्वसन होकर एक साथ सार्वजनिक नृत्य भी होता था। यह जीवनचर्या पूर्व के ब्राह्मणों की दृष्टि में निश्चित रूप से अश्लील थी। उत्तर-पश्चिम में दहेज प्रथा की बजाय उसकी उलटी पत्नी-मूल्य की प्रथा का चलन था जो पूर्ववालों को अपमानजनक लगती थी। पत्नी लूटकर लाने की प्रथा भी ऐसी ही समझी जाती थी, जो महाभारत काल में कृष्ण के कबीले के लोगों में प्रचलित थी और ऐतिहासिक आभीरों में भी जिसका चलन रहा। अंततः दोनों प्रकार के विवाह ब्राह्मण धर्मग्रंथों में अनार्य मानकर वर्जित किये गए। फिर भी मद्र और बाह्लीक स्त्रियों की सुन्दरता, स्नेहशीलता और परम निष्ठा सदा लोक-प्रसिद्ध रही। उन प्रदेशों में योद्धा की पत्नी अपने पति के शव के साथ अपने-आप को बलिदान तक कर देती थी। यह भयंकर सती प्रथा उस समय पूर्व में एकदम अज्ञात थी और सामंती युग के प्रारंभ, अर्थात् छठी शताब्दी तक अज्ञात ही रही। इन दंभी एकांतिक और फिर भी कुछ-कुछ देहाती पूर्ववासियों के बारे में पश्चिम के लोग ठीक क्या क्या सोचते थे इसका कोई उल्लेख कहीं नहीं मिलता; पर यह ज्ञात है कि पूर्व के निचली जातियों के अधिक उद्यमी युवक पश्चिम की यात्रा करके ब्राह्मण की सब तिकड़में सीख लेते थे और फिर (ऐसी जगह जहाँ उनके जन्म के बारे में कुछ ज्ञात न हो) अपने को ब्राह्मण घोषित कर देते थे। सीमा प्रांत के विद्वान शिक्षकों द्वारा धंधों—वास्तव में एक प्रकार के आदिम वर्ग-भेद—के ऊपर जातिमूलक बंधनों की परवाह न करने के कारण यह बहुत आसान हो जाता था।

उत्तरापथ पर यातायात विपरीत दिशा में भी उतना ही प्रबल था। बुद्ध द्वारा बोध-प्राप्ति के ठीक आठ सप्ताह बाद जो दो व्यक्ति उनके प्रथम गृहस्थ अनुयायी बने, वे पेउकेलओटिस या बलख के एक सार्थ के लोग थे जो उड़ीसा से राजगिरि जाते हुए बोधगया से गुज़र रहा था। इन दोनों भाइयों के नाम थे तपुस्स और भल्लुक, जिनसे धातु के--क्रमशः सीसे या राँगे और ताँबे के--व्यापार से संबंध सूचित होता है। पूर्व के सर्वप्रथम बौद्ध भिक्षुओं में कश्मीर का एक पतली ऊँची नाकवाला क्षत्रिय कपिफन था। उसके नाम से प्राप्त पाली श्लोकों में तपस्या के सिद्धांत की बजाय यूनानी

मूर्तिपूजा की अधिक छाप है। तक्षशिला के एक 'राजा' पुक्कुस की, जिसने इतने दूर से राजा विम्बिसार से उपहारों का विनिमय किया था, वृद्धावस्था में मगध की पहली और अंतिम यात्रा में मृत्यु हुई। यह बुद्ध से मिलने आया था। कहा जाता है कि इस भेंट के एक सप्ताह बाद उसे एक गाय ने सींगों से छेदकर मार डाला।

जिस बंधन ने ऐसे पँचमेल समाज को एक साथ बाँध रखा था, जिसने उसे विभिन्न कबीलों के समूह की बजाय एक समाज का रूप दिया था, वह सामान्य कर्म-कांड या सामान्य भाषा का इतना नहीं, जितना उन सामान्य आवश्यकताओं के समुच्चय का था जो पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा पूरी होती थीं। पूर्वीय दर्शन ठीक उस पारस्परिक सम्पर्क के द्वारा ही प्रचारित हुए जो उत्तरापथ और दक्षिणापथ के व्यापार मार्गों पर निरंतर होता रहता था। जिस समय परिवेश की भिन्नताओं के कारण वैदिक भाषा और कर्मकांड पृथक् होते जा रहे थे, और नये देवता तथा धर्म के नये सिद्धांत लोगों के मन को परिचालित करने लगे थे, उस समय पण्य-उत्पादन ने ही दूर-दूर बिखरे आर्यों और उनकी मिश्रित शाखाओं को कसकर बाँध रखा था।

कोसल और मगध

ईसा-पूर्व छठी शताब्दी के कबीले से परे के सिद्धांत का प्रतिपादन और उपदेश करनेवाले नये नैतिक दर्शनों का एक राजनैतिक प्रतिरूप भी था। समस्त समाज के सार्वभौम शासन की स्थापना के लिए भी समांतर प्रयास होने लगा था। धार्मिक और लौकिक दोनों आन्दोलनों का आधार एक ही था : 'गहपति', व्यापारी और कृषक की नयी आवश्यकताएँ। जहाँ महान मठवादी संघों के संस्थापकों ने, विशेषकर जैनों और बौद्धों ने, संगठन की कबीलाई पद्धतियों को अपने संघों के लिए यथेष्ट उपयुक्त और सर्वथा स्वाभाविक समझा था, वहाँ राज्यनीति के सिद्धांतकार कबीलों की एकान्तिकता को तोड़ने का केवल एक ही उपाय सोच सके---तानाशाही निरंकुश राजतंत्र। प्राचीन यूनानी पहचान जाते कि यह होमरीय कुलपति के शासन ('बेसिलियस') से पेइ-सित्रातिदीय निरकुंश शासन ('टाइरैनौस') में संक्रमण है। निरकुंश सत्ता के लिए दीर्घकालीन संघर्ष के पीछे एक भावहीन, अटल, निष्ठुर रूप में स्वार्थी, तर्कसम्मत ढंग से प्रतिपादित तथा सुचिंतित राजनैतिक सिद्धांत था। उसमें नैतिकता का तनिक भी ढोंग अथवा दूसरों की भलाई का झूठा बहाना कभी भी नहीं रहा। इस नये राज्यतंत्र के सिद्धांतकार अपने ढंग से उतने ही महत्त्वपूर्ण और योग्य विचारक थे जितने समकालीन धार्मिक नेता। उनके नाम केवल एक पुस्तक कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलते हैं, जो इन चिंतकों की शृंखला में अंतिम और महानतम व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत सार-संग्रह के ढंग का ग्रंथ है। इस पर अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

विचारकों की यह सूची बहुत प्रभावशाली है : भरद्वाज, कात्यायन, पराशर, उशनस और बृहस्पति आदि, उत्तम ब्राह्मण नाम हैं; उनमें से कुछ तो, उस समय प्राचीन धार्मिक संप्रदायों की भाँति, एक-एक सम्पूर्ण पारम्परिक विचारधारा के प्रतिनिधि हैं। 'बाहुदंती का पुत्र', किंजल्क, कौनपदन्त, पिशुन, विशालाक्ष, वातव्याधि, दीर्घचारायण संभवतः क्षत्रिय थे; क्षत्रिय परंपरा में मुख्य विचारधारा के साथ आम्भी का नाम संबद्ध है। यह सूची पूरी नहीं है। किसी भी विचारक के सारे विचार नहीं मिलते, यद्यपि अर्थशास्त्र में प्रसंगानुसार प्रत्येक के विचारों को उद्धृत करके ठीक उसी प्रकार विश्लेषणात्मक पद्धति में विवेचन किया गया है जैसे कोई विधिवेत्ता क़ानून के सिद्धांतों के पूर्ववर्ती निरूपणों की समीक्षा में करता है। ऐतिहासिक संदर्भ कहीं नहीं दिया गया है और 'दीर्घ' चारायन के अतिरिक्त, किसी भी व्यक्ति के संबंध में वह अन्य किसी सूत्र से भी ज्ञात नहीं है। यह दुरूहता स्वाभाविक है। जहाँ धर्म के शिक्षक खुले और व्यापक रूप से प्रचारित उपदेशों द्वारा बड़े जनसमुदाय को समझाकर जीवन के हर क्षेत्र के लोगों को अपने साथ लाना चाहते थे, वहाँ राज्यनीति संबंधी परामर्श तभी प्रभावी हो सकता था जब उसे गुप्त और चुने हुए कुछ ही लोगों के लिए आरक्षित रखा जाय। छठी शताब्दी के महान भिक्षु आचार्य भारत के परवर्ती असंख्य परोप-जीवी भिखारियों और मोटी बुद्धिवाले सांप्रदायिक नेताओं से कहीं ऊँचे थे क्योंकि वे एक सर्वथा नये प्रकार के समाज की रचना में उत्साहपूर्वक भाग ले रहे थे। ठीक यही अंतर छठी शताब्दी की युद्ध, षड्यन्त्र, हत्या और टूटी हुई आस्था की कथा में और उन परवर्ती निरंकुश अत्याचारी राजतंत्रों के वैसे ही कार्यों में है जब राजा पर कोई संवैधानिक नियंत्रण नहीं था। छठी शताब्दी के राजतंत्र प्रवर्तक और सर्वथा नये सामाजिक चरण के निर्माण के उपयुक्त नव-विधान के सूचक थे; मध्य युग के 'प्राच्य स्वेच्छाचारी शासन' केवल ऊपर के परिवर्तन थे जिनका उस सामाजिक आधार पर कोई असर न था जो बहुत पहले से निश्चित रूप ले चुका था।

परंपरा से ई० पू० सातवीं शताब्दी में, शायद एक शताब्दी और पहले से भी, सोलह प्रमुख जनपद थे। छठी शताब्दी के अंत और पाँचवीं के आरम्भ में सत्ता के लिए जो चरम संघर्ष हुआ उसमें इन सोलह में से केवल चार का ही कोई महत्त्व बच रहा। इनमें से दो शक्तिशाली कबीलाई अल्पतन्त्र थे जो किसी निरंकुश शासक को स्वीकार न करते थे। इनके नाम हैं लिच्छवि अथवा वज्जि ('पशुचारी यायावर' जिससे प्रकट होता है कि ये लोग कुछ बाद में व्यवस्थित रूप में बसे) और मल्ल। ये दो कबीले अपना काम-काज कबीलाई सभा द्वारा चलाते थे और निरन्तर सैनिक अभ्यास करते रहते थे। उनके कबीलाई संविधान थे जो न्याय और निष्पक्षता के लिए प्रसिद्ध थे; पर दोनों में अधीन कृषकों के ऊपर (जो सभी कबीले के सदस्य नहीं होते थे) एक

कुलीन वर्ग विकसित हो रहा था और स्वयं अल्प शासक समुदाय व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण अंदर से विभाजित होता जाता था। लिच्छवियों का मुख्य नगर और सभा-स्थल वेसाली (आधुनिक बसाढ़) था। मल्लों की कई शाखाएँ थीं जिनमें से दो पावा और कुसीनारा के छोटे मुख्य नगरों में थीं। प्रत्येक कबीला आवश्यकता पड़ने पर दुर्जेय सेनाएँ युद्ध-क्षेत्र में भेज सकता था। वे पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ के ऐसे विकट आक्रामक राज्यसंघ थे जो या तो अन्य क्षेत्रों पर अधिकार करते रहते या अपनी स्वाधीनता गँवा बैठते। किन्तु उनकी उपेक्षा संभव नहीं थी, क्योंकि इन दोनों समूहों ने उत्तरापथ व्यापार मार्ग के उस भाग को अवरुद्ध कर रखा था जो नेपाल की सीमा से दक्षिण की ओर चंपारन जिले में होकर गंगा तक जाता था, और फिर नदी के पार उन धातुओं तक जो सबके लिए लोहा और ताँबा पैदा करते थे। उनके उत्तर-पश्चिम में कोसल था, दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में मगध, जो दोनों ही निरंकुश राजतंत्र थे। कोसल और मगध भी (सोलह जनपदों में से बाकी की भाँति ही) पहले कबीले ही थे, जैसा इन प्रदेशों के लिए निरन्तर 'कोसलों' और 'मगधों' जैसे बहुवचन प्रयोग से प्रकट होता है। किंतु किसी भी बौद्ध अथवा जैन अभिलेख में कोसल अथवा मगध कबीले के बारे में, अथवा उनकी कबीलाई परिषदों और उनकी बैठकों के बारे में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। 'मगध' शब्द का अर्थ पहले 'चारण' और बाद में 'व्यापारी' हुआ जिससे प्रकट होता है कि मूल कबीले से ये दो विशेष शिल्पीसंघ विकसित हुए थे, अन्यथा ब्राह्मण ग्रंथों में मगध का उल्लेख एक मिश्रित जाति के रूप में हुआ है। 'जनपद' शब्द, जिसका शब्दार्थ है 'जन (कबीले) के पाँव रखने का स्थान', बाद में 'देश', 'राज्य' अथवा 'ज़िले' के लिए भी होने लगा, जिससे स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है कि गंगा की घाटी में विकास का पथ क्या रहा।

ये आर्य और आर्यीकृत कबीले, केवल एक महत्त्वपूर्ण अन्तर के साथ, ईसा-पूर्व छठी शताब्दी के ही यूनानी कबीलाई राज्यों से तुलनीय हैं। ऐसा जान पड़ता है कि आर्जीव, बिओटिअन, लेसिडेमोनियन इत्यादि ने तब तक अपने सीमित और कम उपजाऊ प्रदेशों में भूमि की व्यक्तिगत जोतों का विकास कर लिया था। भारतीय कबीलों की भूमियाँ, जो सदा विस्तृत होती थीं और जिनके कृषक आमतौर पर बदलते रहते थे, सम्पत्ति से अधिक क्षेत्र मात्र थीं। कबीले की सभा को यह अधिकार था कि वह चाहे तो किसी भी जोत को किसी और को दे दे, भले ही एक ही परिवार उस पर लंबे समय से खेती करता रहा हो। इसके विपरीत, निरंकुश राजतंत्रों का अस्तित्व ही इस बात पर निर्भर था कि स्थायी व्यक्तिगत जोतों पर निरंतर कृषि के फलस्वरूप नियमित कर वसूल होते रहें।

इन दो बड़े राजतंत्रों में से कोसल अधिक पुराना था और, छठी शताब्दी के

प्रारम्भ में, निश्चित रूप से अधिक शक्तिशाली भी। इस शताब्दी में कोसल की राजधानी सावत्थी थी, यद्यपि प्राचीन मुख्य नगर उसके दक्षिण में साकेत था। यह पारंपरिक अयोध्या ('अभेद्य') नगर ही है जहाँ से पौराणिक महाकाव्य के नायक राम ऐच्छिक वनवास के लिए निकलकर उस क्षेत्र में होकर गये थे जो तब तक एकदम बीहड़ अरण्य था। वनवास का यह कल्पित मार्ग बाद में दक्षिणी व्यापार मार्ग अथवा दक्षिणापथ के रूप में विकसित हुआ जिससे आधुनिक 'डैकन' (दक्षिण) नाम पड़ा। बावरी इतिवृत्त से प्रकट है कि सावत्थी छठी शताब्दी के दो प्रमुख व्यापार मार्गों के संगम पर था। इसके अतिरिक्त कोसल का गंगा पर भी नियंत्रण था क्योंकि उसने दीर्घकालीन युद्धों के बाद कासी को अपने राज्य में मिला लिया था। यह विजय सातवीं शताब्दी में हुई होगी, क्योंकि कासी कबीले के बारे में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। केवल 'कासी के राजा ब्रह्मदत्त' की कुछ अनुश्रुतियों से पता चलता है कि इस स्थान का, जिसकी प्रारम्भिक प्रथम सहस्राब्दी की तिथि अब पुरातत्त्व द्वारा संपुष्ट हो चुकी है, कुछ पारंपरिक महत्त्व था। नदी पत्तन के रूप में बनारस इतना महत्त्वपूर्ण था कि बाद में राज्य का नाम ही कासी-कोसला हो गया। बनारस में बना सूती तथा रेशमी (टसर का) कपड़ा तथा अन्य वस्तुएँ पहले ही प्रसिद्ध थीं; उसका विख्यात नारंगी-भूरा काषाय रंग बौद्ध वस्त्रों का प्रथम रंग हुआ और आज भी बहुत-कुछ उसी नाम से 'बनारसी कत्थई' के रूप में लोकप्रिय है। उस समय भी अत्यधिक साहसिक नाविक कासी से समुद्र पहुँचने लगे थे और कभी-कभी व्यापार के लिए नदीमुख से आगे तक चले जाते थे। निस्संदेह उनके लाभपूर्ण व्यापार का सबसे प्रारंभिक और स्थायी पदार्थ नमक रहा होगा।

मगध नदी के पार और उस रास्ते के छोर पर था जहाँ मार्ग पथहीन वनराशि में विलीन हो जाता था। इस दृष्टि से व्यापार मार्ग पर मगध की स्थिति अच्छी न थी। पर यह राज्य, जो बाद में भारत का प्रथम 'सार्वभौम राजतंत्र' और साम्राज्य बना, सार्थ के मार्ग से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण, धातु के संभरण का नियंत्रण करता था। उसकी राजधानी राजगिर (राजगृह : 'राजा का घर') नदी के दक्षिण मे एकमात्र प्राचीन आर्य बस्ती थी, और इसका कारण था। राजगिर के समीप की पहाड़ियों पर ऐसी भूगर्भीय रचना है जिसमें लोहा बड़ी आसानी से मिल जाता है। उसमें लोह आक्साइड की पत्तरें बड़ी यथेष्ट पपड़ियों में मिलती हैं, जिन्हें प्रायः तनिक भी खुदाई के बिना चट्टानों से खुरचा जा सकता है, लकड़ी के कोयले मे शुद्ध करके और फिर श्वेत-ताप में पीटकर उसके औजार या बरतन बनाये जा सकते हैं। राजगिर में एक अतिरिक्त सुविधा यह भी है कि उसके चारों ओर ऐसी पहाड़ियाँ हैं जिनकी आसानी से रक्षा हो सकती है; बहुत आरम्भ में ही एक पच्चीस मील लम्बी विशाल बाहरी

दीवार से उसकी किलेबन्दी कर ली गयी थी; उसके भीतर एक और दीवार थी जिसके अन्दर नगर था। मुख्य राजगिर यही था जिसका क्षेत्रफल कोई एक वर्ग मील था और जो एक तीसरे मध्यवर्ती परकोटे से घिरा हुआ था। घिरे हुए क्षेत्र में गर्म और ठंडे झरनों से जलसंभरण की उत्तम व्यवस्था है, और पहाड़ियों के बीच उत्तम चरागाहों के फलस्वरूप नगर किसी भी विरोधी अभियान के विरुद्ध दीर्घ काल तक डटा रह सकता है। इसके दक्षिण में गया है जो प्राचीन मगध उपनिवेश है। गया से आगे आदिमयुगीन जंगल है जिसमें होकर साहसिक अन्वेषक दक्षिण-पूर्व की पहाड़ियों में ताँबे और लोहे के धातुक खोजने जाते थे। यहीं भारत के सबसे समृद्ध खनिज भंडारों का स्थल है। वहीं से खनिज मिट्टी को खोदकर और शोधकर धातु को केन्द्रीय गांगेय घाटी में व्यापार के लिए लाया जाता था। इसका कारण यह है कि धातुकयुक्त पहाड़ी भूमि खेती के लिए इतनी लाभप्रद नहीं है जितनी नदी-घाटी की कछारी मिट्टी। मगध की शक्ति का बड़ा स्रोत यही था, क्योंकि उस राज्य ने धातु का सुव्यवस्थित ढंग से प्रयोग करके भूमि को साफ किया और उसे खेती में लगाया।

किन्तु विचारणीय जनपद और जन केवल सोलह ही नहीं थे। देश का अधिकांश भाग अभी अछूते जंगलों से ही ढका था जिनमें आहार-संग्रहक वन्य लोगों की हलकी-सी आबादी फैली हुई थी। ये लोग अभी तक पत्थर के कुठार (पाषाण-मुगदर) का व्यवहार करते थे और वक्त बीतने के साथ-साथ व्यापारियों के सार्थों के लिए अधिकाधिक खतरनाक होते जाते थे। दोनों मुख्य व्यापार मार्गों पर भी ये आदिम-युगीन जंगल दूर-दूर तक जनपदों को परस्पर पृथक करते थे जिनमें से सार्थों को बड़ी सावधानी से और आम तौर पर बड़े-बड़े अनुरक्षक दल लेकर ही निकलना पड़ता था। साक्य-जैसे गौण कबीले को हम इसीलिए जानते हैं कि उसमें एक महापुरुष पैदा हुआ। 'अल्लकप्प के बूलि' जैसे अन्य कबीले उस समय इतने महत्त्वपूर्ण तो थे ही कि बुद्ध की अस्थियों के अंश का दावा कर सकें और पा सकें, पर इस एकमात्र उल्लेख के अतिरिक्त उनके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। मिथिला एक नगर और जनपद का नाम था, पर वह कबीला विलुप्त हो चुका था; उसका अंतिम राजा इक्ष्वाकु वंश का सुमित्र बुद्ध के जन्म के आसपास मर चुका था। चाहे मिथिला ने कोसल द्वारा विजित होने के पहले विदेह को अपने राज्य में मिलाया हो, और चाहे कोसल द्वारा दोनों की विजय के बाद विदेह को मिथिला में मिलाया गया हो, छठी शताब्दी के मध्य में दोनों में से किसी का भी कोई स्वतंत्र अस्तित्व न था। मगध ने अंग देश को भी आत्मसात कर लिया था जो नदी के दोनों किनारों पर पूर्व की ओर बसा था। उसकी राजधानी चम्पा (भागलपुर) को, जो अब एक नगण्य गाँव मात्र रह गया है, मगध के राजा बिम्बिसार ने एक ब्राह्मण याज्ञिक पुरोहित को दान में दिया था।

कबीले के साधारण सदस्यों से व्यापारी अधिक महत्त्वपूर्ण थे जो 'सथवाह' (सार्थवाह) या वैदेहिक कहलाते थे। दूसरे नाम का अर्थ है 'विदेह कबीले के लोग'। यद्यपि सब व्यापारी किसी एक ही कबीले या जनपद के नहीं होते थे, और विदेह कबीला विलुप्त हो चुका था, फिर भी इस नामकरण से इस धंधे का उद्‌गम एक विशेष कबीलाई शिल्पी संघ से होना प्रकट होता है। व्यापारी-सार्थवाहों के समूह एक लम्बी शृंखला में तक्षशिला से लगाकर मगध के अंतिम छोर तक फैले हुए थे। उनमें अधिक साहसी लोग सभी ज्ञात जनपदों की सीमाओं से भी परे, विशेषकर दक्षिणापथ पर भी, चले जाते थे। व्यापार अब आदिम प्रकार का, केवल 'व्यापारिक बंधुओं' तक सीमित न था, यद्यपि शायद कुछ जंगलों में रहनेवालों के साथ, जिनमें अभी तक इस प्रथा का चलन बाकी था, ऐसा होता हो। उपलब्ध सिक्कों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि सातवीं शताब्दी के अंत के पहले ही नियमित सिक्कों का व्यवहार होने लगा था। चाँदी के सिक्कों के लिए भार का मानक पूर्वी क्षेत्रों में मगध में ३·५ ग्राम का कार्षापण था; कोसल का एकमात्र उपलब्ध संचय ३/४ कार्षापण मानक का है। भार का यह माप सिंधु घाटी सभ्यता से आया है, जिसमें ठीक-ठीक इसी मात्रा के कटे पत्थर के बाट बनाये जाते थे। तक्षशिला की मुद्रा ११ ग्राम से कुछ अधिक के एक विदेशी भार मानक से सम्बद्ध थी, जो ऐतिहासिक युग में भारतीय रुपये के आसपास था। कार्षापण ३२ इकाइयों के भार का था, जबकि मुड़ी हुई छड़ के आकार का सीमाप्रदेश का सिक्का १०० इकाइयों का था। प्रारम्भ में सिक्के कोरे चाँदी के टुकड़ों के रूप में स्वयं व्यापारी ही दिया करते थे, और उनके भार की जाँच उनके प्रचलन के दौरान व्यापारियों के संघ ही नियमित रूप से किया करते थे। जाँच के प्रमाणस्वरूप सिक्के के एक किनारे पर छोटा-सा आहत-चिह्न बनाया जाता था, जो शिल्पीसंघ की चिह्न-संकेतकी के सभी जानकारों के लिए सिक्कों की तौल और शुद्धता की प्रतिश्रुति का सूचक था। ये आहत-चिह्न उत्तरापथ से परे अफ़गानिस्तान और ईरान तक प्रचलित हो गये थे; कभी-कभी वे कुछ हखमनि डैरिकों पर भी मिलते हैं जो संभवतः गंधार में चलन में आये होंगे। कुछ आहत-चिह्न भी सिंधु-सभ्यता की वर्णमाला के अक्षरों से निकले हुए हैं, ये शायद उन पणियों के वंशधरों से प्राप्त हुए होंगे जिनका नामोल्लेख संक्षेप में किया जा चुका है। चाँदी के टुकड़े का दूसरा पहलू आरम्भ में सिक्कों के निकास के समय कोरा रहता था। छठी शताब्दी तक आते-आते राजाओं ने कोरे पहलू पर अपने निकास-चिह्न लगाना शुरू कर दिया। यह एक नियमित प्रणाली थी जिसमें चार चिह्न कोसल के लिए और पाँच मगध तथा दूसरों के लिए होते थे। इन चिह्नों के कारण हम विभिन्न राजवंशों के बीच अन्तर कर पाते हैं, और मोटे तौर पर यह बताना भी संभव है कि किस राजवंश में कितने राजा

हुए थे, पर प्रत्येक राजा का नाम बताना आसान नहीं है और उसमें साधारणतः अनुमान का ही सहारा लिया जाता है। राजवंशों के आकस्मिक परिवर्तन प्रतिचिह्नित सिक्कों द्वारा प्रकट होते हैं; नये राजा को अपने राजकोष में पदच्युत राजा के जो भी सिक्के मिलते उन पर वह फिर से वितरण में डालने के पहले, अपने चिह्न अंकित करवा देता था।

इन सिक्कों की तौल उतनी ही सुनिश्चित समायोजित है जितनी आधुनिक मशीनों से ढले सिक्कों की, और उनमें आकार का अंतर बहुत ही कम पाया जाता है। इस तरह के सिक्कों से, बल्कि इतनी सावधानी से तुले हुए नियमित सिक्कों के अस्तित्व से भी, अत्यंत विकसित पण्य-उत्पादन का चलन सूचित होता है। हमें ऐसे पूरे गाँवों के (विशेषकर बनारस के निकट) उल्लेख मिलते हैं जिनमें टोकरी बनाने-वाले, कुम्हार, धातु-कर्मकार, बुनकर इत्यादि बसे हुए थे। ये शिल्पकार, सगोत्रीय समूहों में होने पर भी, आमतौर पर श्रेणियाँ बना लेते थे जिनका संगठन स्वभावतः उनके अपने अतीत के कबीलों से मिलता-जुलता होता था। यह प्रक्रिया आसाम-जैसे अर्ध-कबीलाई क्षेत्रों में आज भी दृष्टिगोचर है। इन श्रेणियों के पास प्रायः बहुत धन होता था, जिस पर किसी एक सदस्य का अधिकार नहीं था, पर जिसे आवश्यकता पड़ने पर श्रेणी के मुखिया या परिषद् द्वारा श्रेणी के किसी एक सदस्य को अथवा किसी बाहरी व्यक्ति या संस्था को दिया जा सकता था। भारत की ग़रीब पेशेवर जातियों में वर्तमान प्रथा भी यही है, जिसका पूर्व-रूप इस युग में या इससे भी पहले खोजा जा सकता है। उत्तर-वैदिक काल का, संभवतः वैश्य जाति का, शिल्पकार साधारणतः यायावर ग्राम का सदस्य होता था। शिल्पकारों द्वारा बनाया गया सारा माल पास के क़स्बे में नहीं खप पाता था, क्योंकि सातवीं या छठी शताब्दी में नगर अभी बहुत छोटे ही थे। कपड़ा और धातु का सामान जैसा बहुत-सा माल बहुत दूर-दूर तक जाता था। प्राकृतिक पदार्थों में नमक बिहार में उतनी आसानी से नहीं खोदा जा सकता था, जैसे पंजाब की नमक की पहाड़ियों में; इसलिए उसके लिए (समुद्र तक भी) अन्वेषण और दूरव्यापी परिवहन आवश्यक था। बाँस जंगल की एक ऐसी विशेष उपज थी जो टोकरियों, निर्माण-कार्य तथा ऐसे ही कामों के लिए अनिवार्य वस्तु हो गयी थी। चंदन की लकड़ी को घिसकर बनाया गया लेप शीतलता और स्वच्छता के अनेक साधनों में से एक था और स्नान के लिए (जो गरम जलवायु में विलास नहीं आवश्यकता है) उसकी बड़ी माँग थी, विशेषकर इसलिए भी कि अभी साबुन का आविष्कार नहीं हुआ था। इस सब सामग्री और व्यापार के पदार्थों का परिवहन एक बार में ५०० या उससे भी अधिक बैलगाड़ियों के सार्थ में होता था। गाड़ियों में अरदार पहिये और कच्ची खाल के हाल होते थे जो उत्तरापथ की नरम धरती के लिए

पर्याप्त थे।

दक्षिणापथ का प्रदेश दुर्गम दर्रो और टूटी हुई पथरीली धरती का था और उत्तरी प्रदेश की तुलना में चौड़े, साफ रास्तों से रहित था। वहाँ भारवाही पशुओं के झुंड और कभी-कभी सिर पर बोझा लादनेवाले मज़दूरों की ज़रूरत पड़ती थी। वस्तुओं के साथ विनिमय के लिए अनाज, खालों इत्यादि की यथेष्ट अतिरिक्त उपज होना आवश्यक था, जिसका पक्का आश्वासन (भूमि, गोधन इत्यादि के रूप में) व्यक्तिगत सम्पत्ति द्वारा, और संगठित मज़दूरों के आमतौर पर शूद्रों के परिश्रम के उपयोग द्वारा ही हो सकता था, फिर वे चाहे भाड़े के मज़दूर हों अथवा अस्थायी दास। वन्य प्रदेश में व्यापार कबीले के मुखिया के माध्यम से करना पड़ता था जो व्यापारी के लिए अतिरिक्त उपज सबसे इकट्ठा कर सकता था। इस भाँति ऐसे मुखिया अथवा वे समूह, जो 'व्यापारी बंधु' की स्थिति से आगे बढ़ आये थे, संचित व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण अंततः बाकी कबीले से स्वतंत्र हो गये, जिससे बाद में अधिक संपर्क-सुलभ कबीलों का अधिकाधिक विघटन संभव हुआ। घोड़ा व्यापार के लिए मूल्यवान था क्योंकि उसका उपयोग अब सवारी के लिए भी होने लगा लगा था; दक्षिण में वह छठी शताब्दी के पहले ही पहुँच गया था। हाथी और भी मूल्यवान था, पर वह राजसिक और सैनिक उपयोग के लिए था, सामान्य व्यापार का माल नहीं। उन दिनों का समाज अभी जाति-पाँति के अधीन, असहाय, उदासीन, गाँव में सीमित जनसमूह की स्थिति से बहुत दूर था। पर अगली बारह शताब्दियों में उसका बदल कर यही रूप हो गया और उसी के अनुसार प्राकृतिक परिवेश भी घिसा-पिटा लगने लगा। फिर भी आक्रमण के लाभ उस समय भी ललचाने के लिए पर्याप्त थे। इसके अतिरिक्त एक ऐसी अजेय शक्तिशाली सत्ता अधिकाधिक आवश्यक होती जाती थी जिससे वस्तुओं के निर्बाध प्रवाह और विनिमय का भरोसा हो सके। इसके लिए स्वभावतः विभिन्न समूहों के बीच संपर्क का कानून द्वारा नियमन ज़रूरी था।

अब सैद्धांतिक स्थिति पर विचार करने के लिए तनिक विषयांतर करें। जो नया राज्य आवश्यक होता जा रहा था उसके लिए ज़रूरी साधन था एक शक्तिशाली सुशिक्षित, और भली-भांति संगठित पेशेवर स्थायी सेना, जिसकी भरती और कार्य पर किसी कबीलाई विशेषाधिकार, कबीलाई कानून, अथवा कबीलाई भक्ति का बंधन न हो, और जो कबीले से आगे बढ़कर समाज की सेवा कर सके जिसे एकान्तिक कबीलाई जीवन स्वीकार नहीं करता। ऐसी सेना मौसमी अभियान के लिए आवश्यकता पड़ने पर किसी सुविधा द्वारा की गयी कबीलाई भरती द्वारा नहीं बन सकती थी। ऐसी सेना के लिए तो आवश्यक था कि वह सावधानी से अनुशासित की जाय, निरंतर अभ्यास करे, नियमित रूप से वेतन पाये, राज्य के खर्चे पर भली

भाँति सुसज्जित हो और सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों पर छावनी बनाकर रखी जाये। यह सब नियमित करों के विना असंभव था जिसके लिए कबीलों का शासक कुलीनवर्ग साधारणतः तैयार न होता था। लिच्छवि और मल्ल दोनों में से कोई भी ऐसी स्वाधीन स्थायी सेना न बना सके जिसके सैनिक पूरी तरह अपने वेतन पर जीवित रहते हों। कोई निरंकुश शासक ही, जो कानून से बंधा हुआ न हो, उन विभिन्न संसक्त समूहों के बीच बाधाओं को तोड़ सकता था जो अपने-आप को केवल सम्पत्तिमूलक अधिकारों पर आधारित व्यापक समाज के सदस्य मानने को तैयार न होते थे। मैकियावेली ने एक भिन्न संदर्भ में यही रास्ता सुझाया था। उसकी पुस्तक **शासक (द प्रिंस)** में इटली के राजा के लिए यह परामर्श दिया हुआ है कि वह देश के परस्पर झगड़ते नगरों को कुचलकर उन्हें एक राष्ट्र के रूप में संगठित करे। पर मैकियावेली वहीं रुक गया। न वह और न उसके द्वारा समर्थित उम्मीदवार सीज़र बोर्जिया, और न कोई अन्य इटलीवासी, परवर्ती सामंती इटली के उत्पादन संबंधी आधार को बदलने की आवश्यकता को समझ सका—यद्यपि मुख्य नवजागरण काल बैरोक युग में पहले ही प्रवेश कर चुका था। मगध के सिद्धांतकारों ने ऐसे कठोर आचरण का सुझाव दिया जिससे कोई भी बोर्जिया हार मान जाता; पर उनका खुले तौर पर घोषित मुख्य लक्ष्य भूमि का रूप बदलना था। उनके राजा का मुख्य कार्य और राज्य के लिए लाभ का स्रोत था, उत्खनन और धातुओं के ऊपर राज्य के एकाधिकार की सहायता से घने जंगलों को साफ करना और समस्त परती ज़मीन को खेती में लगाना। इस प्रकार के राजत्व के लिए समस्त कबीलाई विशेषाधिकार सम्पत्ति की साझेदारी और अलगाव के सभी अवरोधों को तोड़ना ज़रूरी था। बाद के निरंकुश राजतंत्र ऐसे निष्क्रिय अधःस्तर शासन मात्र करते रहे जो पहले से ही कृषि की पूर्ण विकसित अवस्था में था। विवेचन को पूरा करने के लिए कुछ आधुनिक समानताएँ भी दिखायी जा सकती हैं। कुछ पूर्व यूरोपीय देशों में, चीन में, अफ्रीका के नव-स्वाधीन देशों और अरब जगत में, कुछ नेताओं का आग्रह है कि देश को नयी अवस्था में ले जाने के लिए चाहे वह समाजवादी हो चाहे पूंजीवादी, जनवादी, अधिनायकत्व आवश्यक है। लतीनी-अमरीकी गणतंत्रों में, हाल की क्यूबा की क्रांति तक, आमतौर पर दूसरे प्रकार का अधिनायकत्व था जो वर्गों की स्थिति को कभी नहीं बदलता था, अधिक-से-अधिक शासकवर्ग के लोभ का कुछ नियमन कर देता था—जैसा कि बेहतर रोमन सम्राट किया करते थे।

इस दृष्टि से छठी शताब्दी के मगध और कोसल के राजाओं में अधिकांश आवश्यक गुण मौजूद थे। दोनों अकुलीन थे और किसी कबीले या कबीलाई सभा का कोई बंधन उन पर न था। मगध के बिम्बिसार की वंशावली पाली अभिलेखों में नहीं

१. अम्बरनाथ में देहाती झोंपड़ी

२. सावन में पत्थर मिट्टी की दीवारों से बनी फूस की झोपड़ी और [illegible]
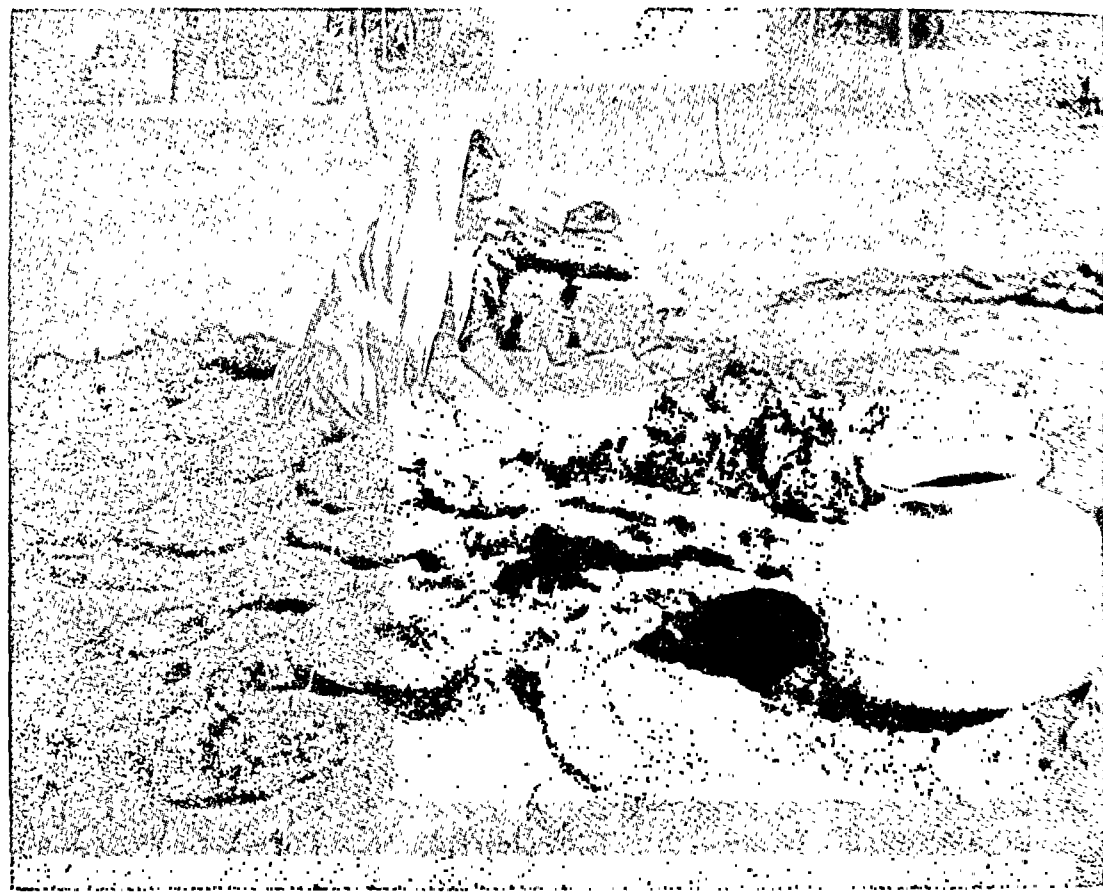
३. पूना में ईंधन के लिए सुखाये गये गोबर के उपले। जंगलों के कटने और जलाऊ लकड़ी की कमी के कारण भूमि से यह अत्यंत उपयोगी खाद हटता जाता है।
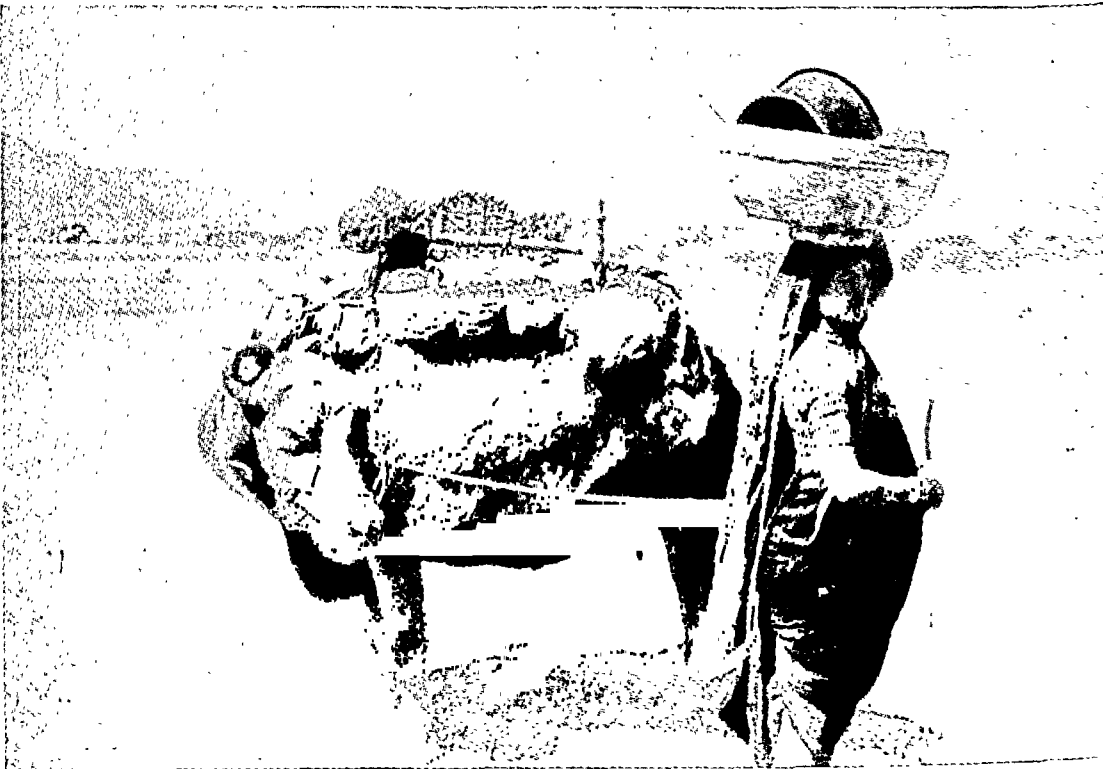
४. जुन्नार के कठिन नानाघाट दर्रे से आने के बाद ही काफिले का भैंसा। दो हजार वर्ष से यह इसी प्रकार का है।

५. कुम्हार का चाक जिसे केवल स्त्रियां चलाती है। बाये : उपयोग के लिए तैयार; दायें : खुले हुए दोनो पल्ले।

६. कुम्हार का तेज चाक, लकड़ी के हत्थे मे चलाया जाता हुआ। चाक सावधानी से सतुलित होता है और एक अन्दर फंसी हुई अक़ीक की कील पर घूमता है। चाक खदीरा लकड़ी की टेक पर रखा रहता है। हत्था लकड़ी लगे एक खांचे में फंसा होता है।

७. पूना का एक आधुनिक कुम्हार लकड़ी के चप्पू से बर्तनो को बढ़ाता हुआ, पत्थर की निहाई उसके बाएँ हाथ मे बर्तन के अंदर है। इस प्रक्रिया से सतह एक-सी होती है और मिट्टी सघन, पूना मे मिट्टी उत्तम कोटि की नही। चित्र मे दिखाये गये बर्तन पानी के घड़े हैं, सामने की ओर रखे प्रारंभिक बर्तनो को बढ़ा कर बहुत बड़ा कर लिया जाता है, जो स्थानीय मिट्टी से सीधे चाक पर सभव नही।

९ कुम्हार का धीमा चाक जिसे केवल स्त्रियां चलाती है। बड़े घड़ो का पेंदा बनाया जा रहा है, जो तीन चरणो मे बनता है। बर्तनो का अनगढ़ रूप स्पष्ट है। घड़ो को पुरुष पूरा करते है।

८. पूना मे तेज चाक पर बड़ी सख्या मे बर्तनो का उत्पादन। किसी सांचे या औजार के बिना भी सब बर्तनो का आकार एक-सा होता है। आकार देने का काम केवल कुम्हार की उंगलियां ही करती है, और चाक से बर्तन को एक [illegible] डोरी से अलग किया जाता है।

१०. पशु-देवता और महिषासुर अथवा म्हासोबा के मिट्टी के मंदिर; मध्यवर्ती मंदिर आधुनिक है, बाकी सब पुराने। ये सब एक ऐसी झोंपड़ी के नमूने पर बने हैं जो अब खंडाली प्रदेश में अज्ञात है।
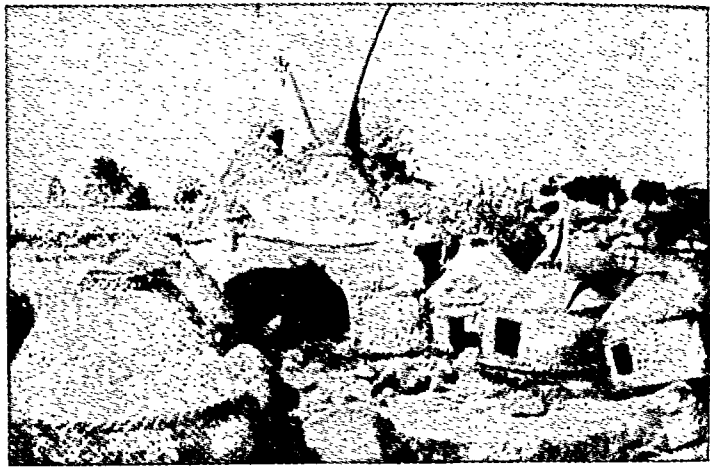
११. शिव को समर्पित पवित्र भारतीय ककुदमान सांड (बनारस १९३७) असोक की राजाज्ञा द्वारा सुरक्षित सांडक भी इसी प्रकार का होता था। ये सांड अब केवल सार्वजनिक उपद्रव ही फैलाते हैं और उन पर संख्या दाग़ी जाने लगी है।

१२ भारत का प्रमुख दूध देने वाला पशु, भैंस। यह पवित्र नहीं मानी जाती और इसे वैदिक युग के बाद ही पालतू बनाया गया। गंगा घाटी के दलदल और जंगल इस पशु के बिना नहीं खुल सके होते; भैंसे को भीगे कीचड़भरे (धान के) खेतों को जोतने के लिए व्यवहार करते हैं जहां साधारण पशु काम नहीं कर सकते।
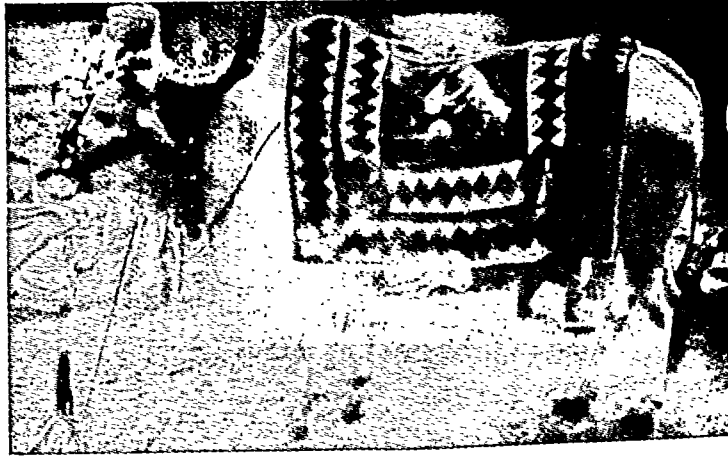
१३. पंढरपुर की वार्षिक यात्रा के समय पवित्र पालकी खींचने वाला बैल। यह सिंधु घाटी की मुहरों पर अंकित पशु से मिलता है। कढ़े हुए वस्त्र पर सिंह-संहारक गिलगमेश का आधुनिक रूप अंकित है।
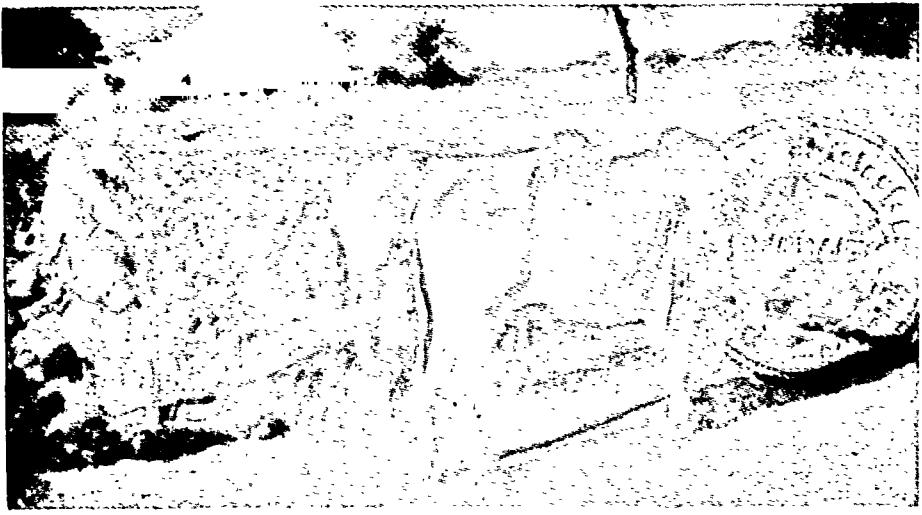
१४. जुन्नार में गणेश लेना बौद्ध गुफाओं के समीप व्यवहृत कुषाण प्रकार पर आधारित आधुनिक हल।

१५. सीधे हत्थे और झुके हुए जुए के डंडे वाला कुषाण हल (लगभग २०० ईस्वी)। गंधार उद्भूत 'बोधिसत्व का प्रथम ध्यान' का अंश। (लाहौर संग्रहालय)।
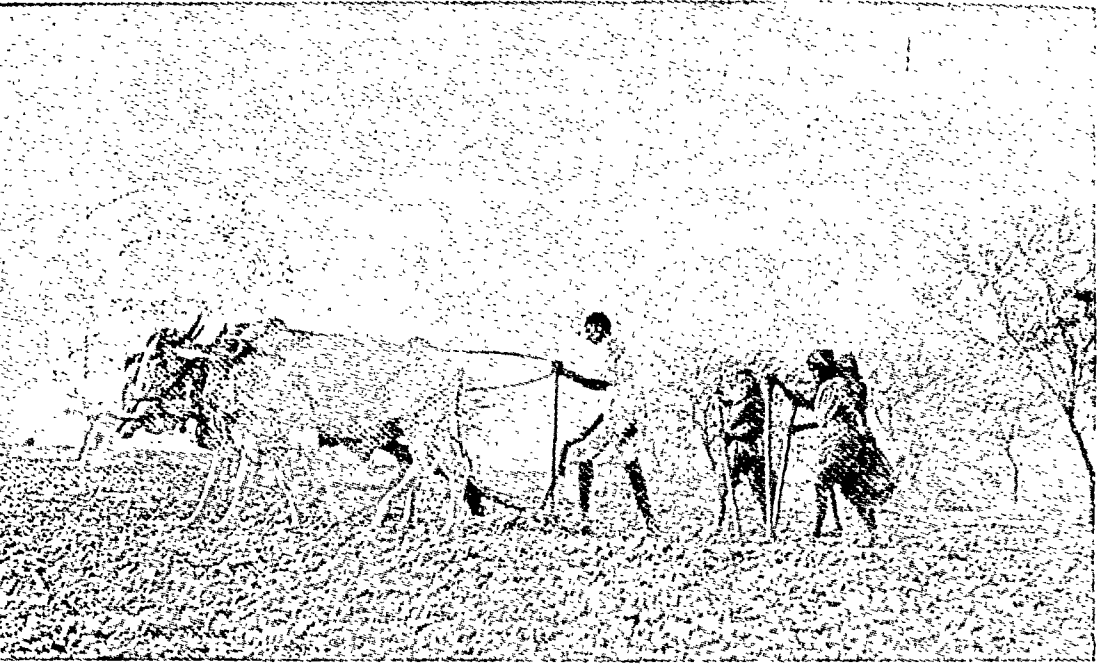
१६. खेतों की वुवाई, बीज की नली स्त्रियाँ सम्हालती हैं।

१७. दाँय करके (रौंद कर) ज्वार निकाली जा रही है (तालेगाँव)। बैलों पर मोहरी लगायी हुई है।

१८. चमड़ा कमाने वाले भैंस की खाल को चूने के गढ़े में डुबोते हैं। चमड़ा कमाने वाले नीची जाति के होते हैं और अन्य जातियों में उनका विवाह संबंध नही होता। साधारणत: उन्हें अछूत माना जाता है।

१९. प्रायः सातवाहन काल की भांति ही, नानाघाट दर्रे में उतरता हुआ गधों का काफ़िला। खुरजी में खूंटी लगी होती है और वह इस तरह नीचे की ओर मुड़ी होती है कि बोझ फिसले नहीं। चित्र में दीखने वाली सीढ़ियां बनावटी हैं और एक प्राचीन जल-मार्ग में टेढ़ी-मेढ़ी बनी हैं। खुरजियों में जुन्नार से प्याज और आलू लादे गये हैं; इनके बदले कोंकण से मोटा अनाज लेकर बिक्री के लिए दर्रे से ऊपर लाया जायगा।

२०. बोरोबुडुर, जावा का (लगभग ८०० ईस्वी का) एक उलडी जहाज जो हिंद महासागर में व्यापार में काम आता था।
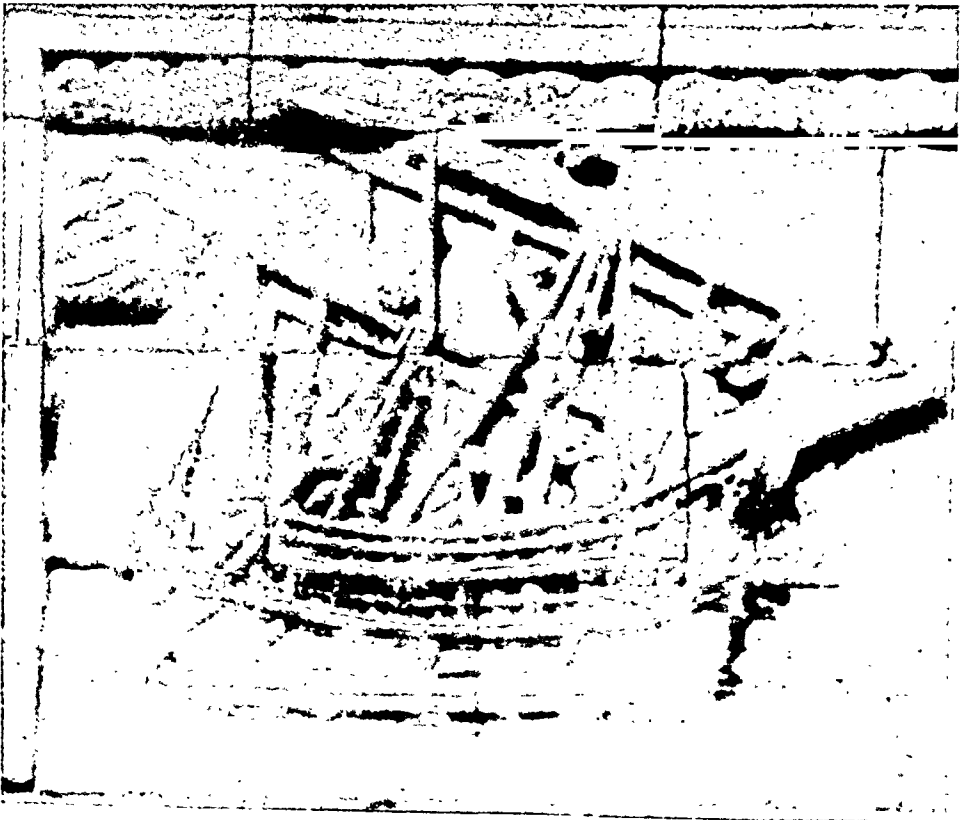
२१. १३०० ईस्वी की एक अज्ञात पांडुलिपि का एक चित्र जिसमें कश्मीर (?) में सामंती बेगार का अंकन है।

८८. उड़ीसा का अकाल १६८८ ।

२३. उराँवों का नाच ।

२४. लकड़ी को खोखला करके वनाया हुआ एक ढोल वजाते हुए मूरिया लड़के ।

२५. चायवागान के एक मेले में कवीलाई श्रमिक । वागान आसाम में है, पर मजदूर उड़ीसा, विहार और मध्य प्रदेश के हैं । मूल आदिवासी नर्तकों की सहजता और उन्मुक्तता की तुलना में इन नर्तकों की मुद्रा और भाव तनाव ध्यान देने योग्य है ।

२६. आसाम की एक नदी में मछली पकड़ती नचरी स्त्रियां।

२७. आसाम की एक नदी में एक [illegible] से मछलियाँ पकड़ने वाले।
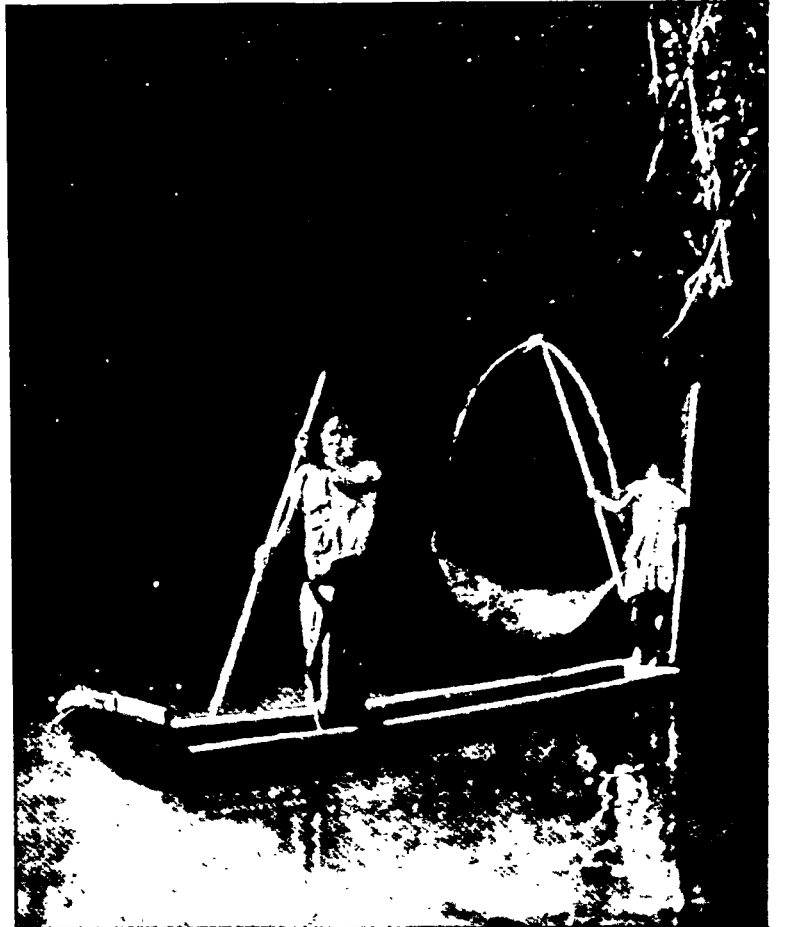
२८. गले मिलती राजस्थान की भील वहनें। ओढ़वी पहने वहन विवाहित है और दूसरी अविवाहित, जो प्रथानुसार कमर तक नग्न रहती है।

२९. आसाम में वड़े-वड़े वाँसों की गाँठों में पानी ले जाती हुई मीजू मिशोनी स्त्रियाँ।

३०. पत्तों के दोंने वनाती हुई जुआंग स्त्रियाँ।

३१. महाड के पास पाले में बौद्ध गुफ़ाओ के सामने कोई कबीलाई जाति का धनुर्धर । धनुष बाँस का है, डोरी बेत की, छोटे तीरो पर लम्बे फल लगे है, जो पास की मार में अत्यन्त घातक सिद्ध होते है । यह शिकारी दूसरे महायुद्ध मे भारतीय सेना मे था और रोम तथा अन्य देश देख चुका है । पर लौटने पर उसने अपना पहले का ही जीवन अपना लिया; सेना में काम का केवल एक ही विशेष प्रभाव उसकी अत्यधिक उजली धोती मे दिखाई पडता है ।

३२. हल ले जाता उरांव युवक । इस हल में धान का [illegible] केवल इस्पात की बनी फाल की नोंटी नोक भर है ।

३३. उड़ीसा मे नाट़ी सग्रह करते सावरा युवक ।

३४. उड़ीसा में उड़ाकर गेहूं का भूसा निकालते हुए भील; सामान्य कृषक पद्धति।

३५. राजस्थान में भीलों की झोंपड़ी की दीवार पर भित्तिचित्र ।

३९. महाराष्ट्र का वार्ली किसान एक पहाड़ी ढलान पर सूखी पत्तियां जलाता हुआ जलाकर भूमि की सफाई करके खेती के उद्देश्य से। धान के लिए बीज की क्यारियां तैयार करने के लिए ग्राम किसान भी बहुत कुछ यही पद्धति अपनाते हैं।

३७. भांड-पूर्व युग के लघु-पाषाण जो बड़े औज़ारों या महापाषाणों से सम्बद्ध नहीं हैं; ये पतली खालों का व्यवहार करने वाले लोगों के हैं। कुछ शल्यकार्य के, संभवतः बधिया करने के औज़ार हैं।
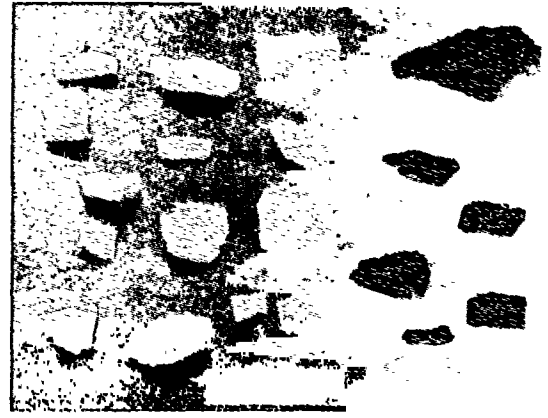
३८. उत्कीर्ण-शिलाओं से सम्बद्ध, प्रारंभिक टीलों पर पाये गये लघु-पाषाण। ये उत्कीर्ण शिलाएँ दक्षिणापथ के महापाषाणों की विशेषता हैं। दबाव द्वारा शल्क बनाने से किनारे नखाकार हो गये हैं। इनके बनाने की पद्धति अधिक उन्नत है, यद्यपि ये लघु-पाषाण अपेक्षाकृत अधिक मोटे और कम सूक्ष्म हैं।
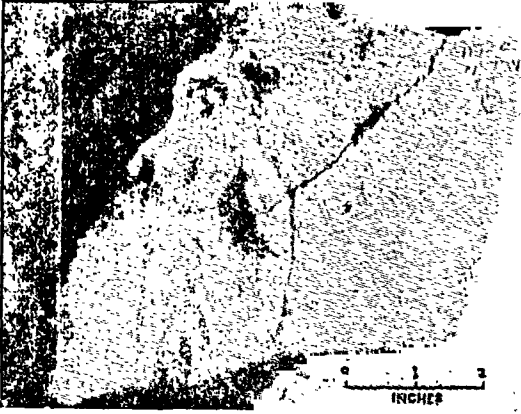
३९. (नावडा टोली खुदाई) में महेश्वर में प्राप्त एक नग्न स्त्री आकृति युक्त मर्तबान—ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दी का। यह आकृति निस्सदेह किसी मातृदेवी की है; बर्तन स्वयं उसका प्रतीक है, जो कोख का समजात है।
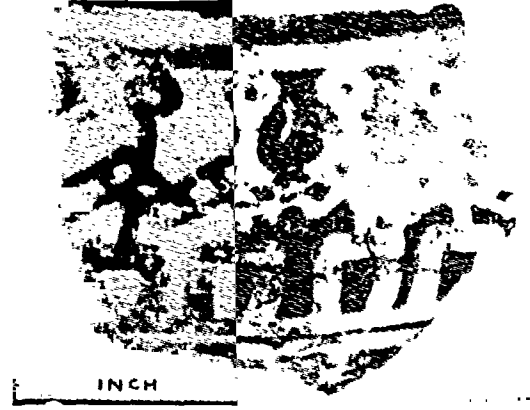
४०. नावडा टोली खुदाई में महेश्वर में प्राप्त ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दी का गुंथे हुए हाथ वाले नर्तकों के चित्रयुक्त ठीकरा। ऐसे वृत्ताकार नृत्य, प्रजननमूलक संस्कार के अवशेष स्वरूप, वर्षाऋतु के बाद आज भी लड़कियाँ करती हैं।

४१. मोहेंजोदाड़ो की सिल और बट्टा। सिल का निचला सिरा घुटनों के बीच दबाया जाता है; अनाज पीसने के लिए काम में आता था। सिंधु संस्कृति में चक्की ज्ञात न थी।

४७. प्राग्-ऐतिहासिक महापाषाण जिसकी मातृदेवी बोल्हाइ के स्थान के रूप में आज भी पूजा होती है। स्वयं देवी डाट के नीचे एक लाल रँगे हुए चिकने अंडाकार पत्थर के रूप में है। ऊपर का पत्थर कोई सात फीट लंबा है और किसी पत्थर से घिसने या टकराने से घंटी की तरह बजता है। यह कृत्य आज भी किया जाता है। यह किसी धातु के औजार के बिना ही बनाया गया है।

४८. नवार्जित शिवनेर गढ़, जुन्नर में एक बौद्ध पाषाण स्तूप। यह गुफाओं के केन्द्र है जहाँ बौद्ध प्रायः विश्राम किया करते थे और जिनका [illegible] कथा में उल्लेख है। यह गढ़ से भी बहुत पुराना है और सम्भवतः एक आर्य अवशेष है। इसके ठीक पीछे ही एक प्राग्-ऐतिहासिक गुफा भी है और यह प्रार्थियों के लिए और ढोल बजाने के लिए मीनार का काम देता होगा। सम्भवतः पूजा-[illegible] भी रहा हो।
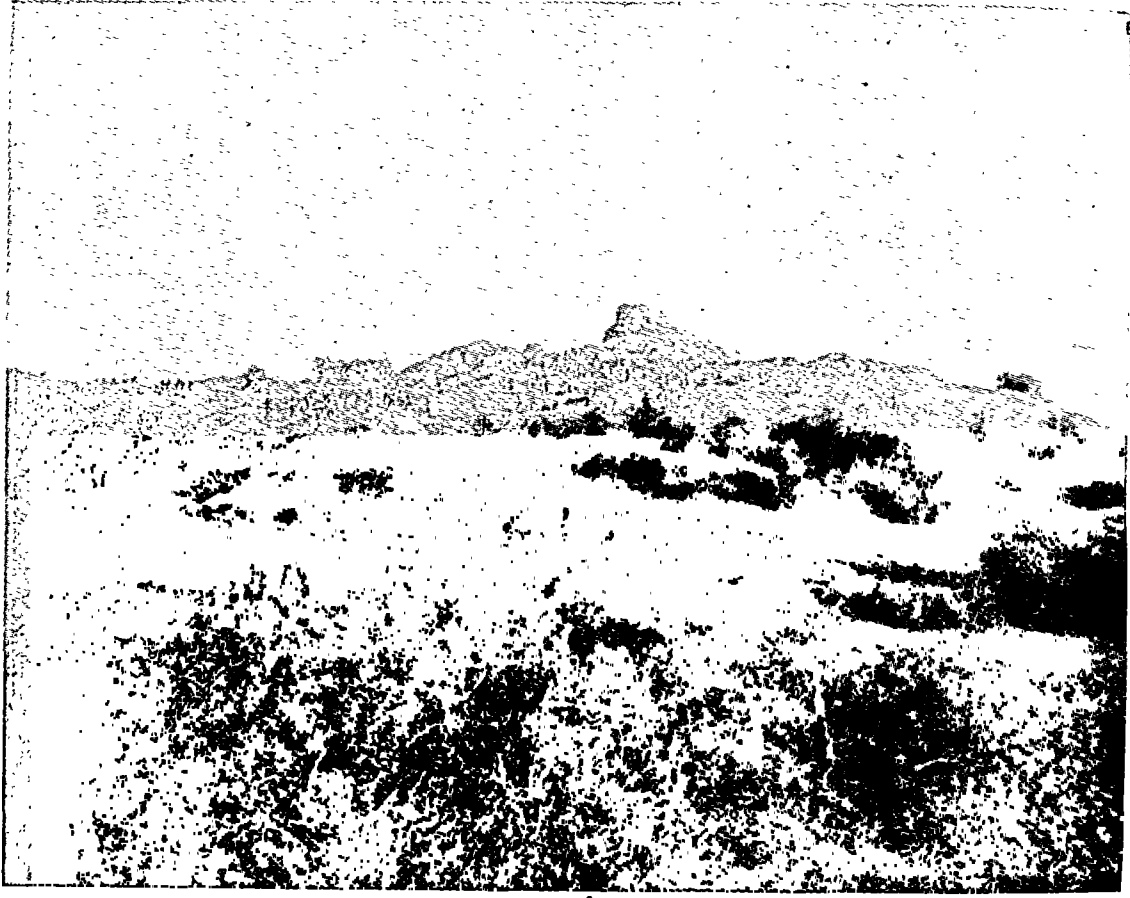
४४. मोहेंजो-दाड़ो की खुदाई का सामान्य दृश्य, १९२५-२६।

४५. मोहेंजो-दाड़ो के दुर्ग टीले पर विशाल स्नानागार; परवर्ती पुष्कर कमल-सरोवरों का आद्य रूप।

४६. सिंधु मोहर, पाल, चप्पू और पतवार सहित नाव युक्त। ४७. बलि अंकित सिंधु मोहर। नीचे चोगे पहने आकृतियों की संख्या सात है; संभवतः मूल ब्राह्मण कुलों के संस्थापक, यद्यपि उनके शिरोवस्त्र से वृक्ष-देवताओं का आभास होता है। एक पीपल वृक्ष में तीन सींग वाले देवता का आठवाँ पुजारी पूजा कर रहा है। पुजारी के पीछे का पशु काल्पनिक है जिसके बकरी के सींग, मछली का सिर, भेड़ का शरीर और शायद पंजोंवाले पैर हैं। नीची वेदी पर संभवतः आगे से छोटा किया हुआ मानव-मस्तक हो। ४८. सिंधु मोहर जिस पर सींगदार बाघ को मारता हुआ, सुमेरियन एनकिदु जैसा ही, एक वृषभ-पुरुष अंकित है।
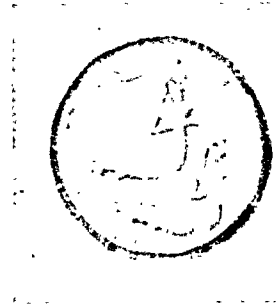
४९. दो बाघों का गला घोंटता हुआ एक दुर्बल-सा सिंधु योद्धा, ईराकी गिलगमेश की भाँति जो इस प्रकार सिंहों का संहार करता हुआ दिखाया जाता है। ५०. सिंधु मोहर पर पुरुष-व्याघ्र, विष्णु के नरसिंह अवतार का आद्य रूप। पहले दो भाव-चित्र हीरो-चिह्न हैं। ५१. मेसोपोटामिया की बटन मोहर जिस पर जलपुरुष और जलपरी अंकित है। यद्यपि यह सिंधु मोहरों में नहीं मिलता, पर इस अवधारणा का भारत में विष्णु के मत्स्य अवतार के रूप में विकास हुआ।

५२. बेलनाकार मोहर, एक सिंह और एक वृषभ से लड़ते हुए दो दाढ़ीवाले योद्धा। सुमेरी अक्काद युग, ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी का उत्तरार्द्ध। ५३. बेलनाकार मोहर, पत्तोंदार चंदोवे के नीचे एक कूदमान वृषभ पर सवार एक नग्न देवी, संभवतः इश्तार। दाएं की एक आकृति ने सिंधी शैली के वस्त्र धारण कर रखे हैं। ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दी के मध्य में, सीरिया नग्न देवी उषस से कुछ वैदिक वर्णनों के अनुरूप है।
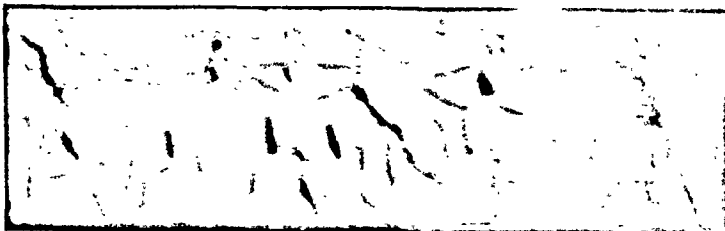
५४. बेलनाकार मोहर, लड़ते हुए योद्धा और सिंह। सुमेरी, प्रारम्भिक राजवंशीय युग ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्य में।

५५. बांयें, ईसापूर्व ३२६ में सिकंदर महान के पंजाब पर आक्रमण और पोरस की पराजय का स्मारक गोल पटल। बाबेरु से (?)

५६. दांयें, सिकंदर का समकालीन भारतीय राजा सोफाइटीस (सौभूति) । उसके सिक्कों की शैली विशुद्ध यूनानी है ।

५७. बांयें, निचली काबुल घाटी में प्यूकेलाओटिस (पुष्करावती) के चांदी के सिक्के। विरुद है: पखलावदी देवद अम्बी (पुष्करावती की देवी), कमलाधारिणी मातृ देवी ।

५८. दांयें, प्यूकेलाओटिस के अम्बी सिक्के का दूसरा पहलू, जिस पर नगर का चिह्न, संभवत: पवित्र, ककुदमान वृषभ अंकित है । विरुद खरोष्ठी 'उसभे', यूनानी 'तौरोस', वृषभ ।

५९. बांयें, एंटिओकस प्रथम। यूनानी-बैक्ट्रियन, लगभग ई० पू० २६१-२४७ अथवा २४६ ।

६०. दांयें, डेमेट्रिओस । यूनानी-—बैक्ट्रियन ।

६१. बांयें, यूक्रेटिडीस। यूनानी—बैक्ट्रियन, एक नये वंश का संस्थापक; डेमेट्रिओस का बड़ा प्रतिद्वन्द्वी, जिसे उसने लगभग १७५ ई० पू० में राज्य-च्युत किया।

६२. दांये, सियालकोट के राजा मेनेन्डर का सिक्का, लगभग १८०-१६० ई० पू० । १९४० में पूना की एक खुली हाट में आधे-रुपये के समतुल्य चलता हुआ प्राप्त ।

७१. बांयें, कुषाण सम्राट, कनिष्क प्रथम, लगभग १२० ईस्वी से लगभग १४४-५० ईस्वी।

७२. दांयें कुषाण सम्राट हुविष्क, लगभग १५०-१६२ ई०।

७३. बांयें, पूर्वी पंजाब के वृष्णि कवीले का एकमात्र ज्ञात सिक्का (चाँदी)। यह कवीला कृष्ण को अपना पूर्वज मानता था। सिक्के पर एक स्तंभ है जिसके शीर्ष में एक हाथी और एक सिंह है। पंजाब में होशियारपुर से, तीसरी शताब्दी।

७४. दांयें, चंद्रगुप्त प्रथम और उसकी रानी लिच्छवि राजकुमारी कुमार देवी का सोने का सिक्का। गुप्त, लगभग ३२०—लगभग ३३० ईस्वी।

७५. बांयें, वीणाधारी समुद्रगुप्त। गुप्त, लगभग ३३०—लगभग ३८० ईस्वी।

७६. दांयें, चंद्रगुप्त द्वितीय। धनुर्धारी अंकित सोने का सिक्का। गुप्त, लगभग ३८०—लगभग ४१५ ईस्वी।
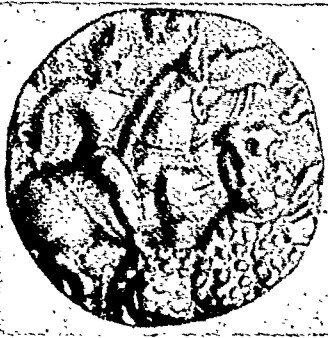
७७. बांयें, गैंडे का शिकार करता हुआ अश्वारोही कुमारगुप्त प्रथम; सोने का सिक्का, जो उसके इस विख्यात कौशल का स्मारक है कि उसने गैंडे को बिना मारे ही सींगों के सिरे काट डाले थे। गुप्त लगभग ४१५—लगभग ४४५ ईस्वी।

७८. दांयें, सामंतसेन का चाँदी का सिक्का, त्रिभुजाकार ध्वजधारी सामंत मोढ्ढा युक्त।

९८. एक अशोक स्तंभ का वृषभ शीर्ष, चिकने बलुआ पत्थर का, रामपुरवा से, ईसापूर्व तीसरी शताब्दी।
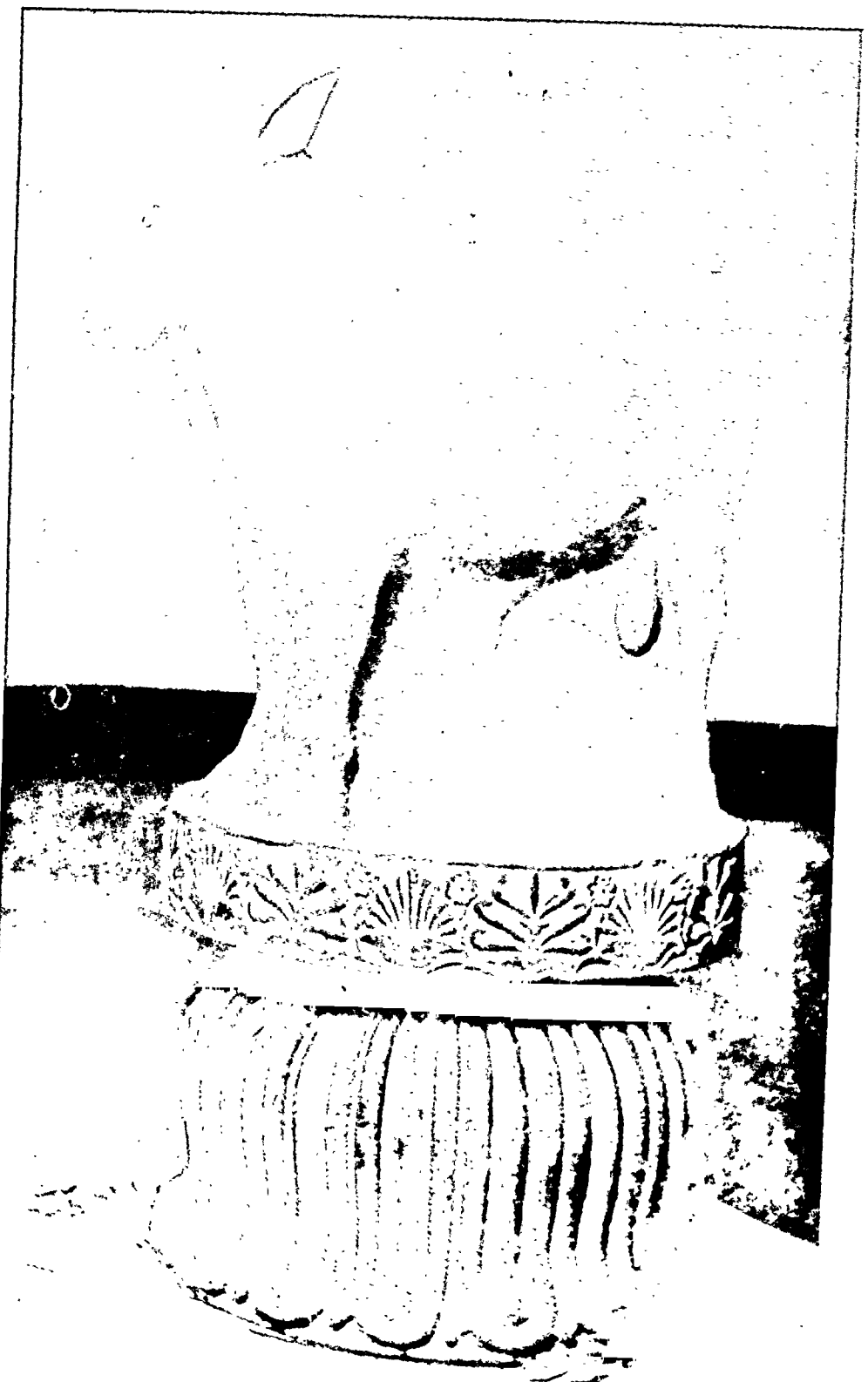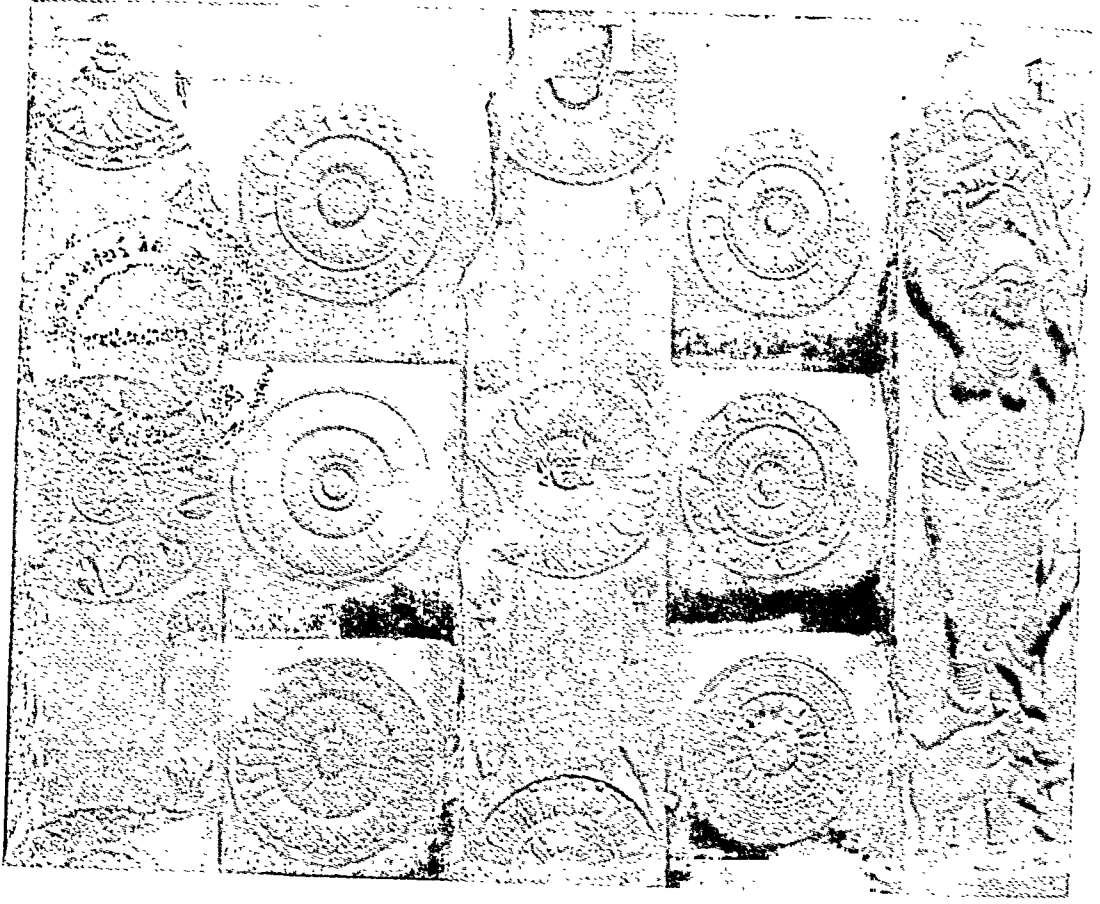
८०. लाल बलुआ पत्थर के स्तूप के जँगले का एक अंश । मध्य भारत में भारहुत से; सुंग, ईसापूर्व दूसरी शताब्दी ।
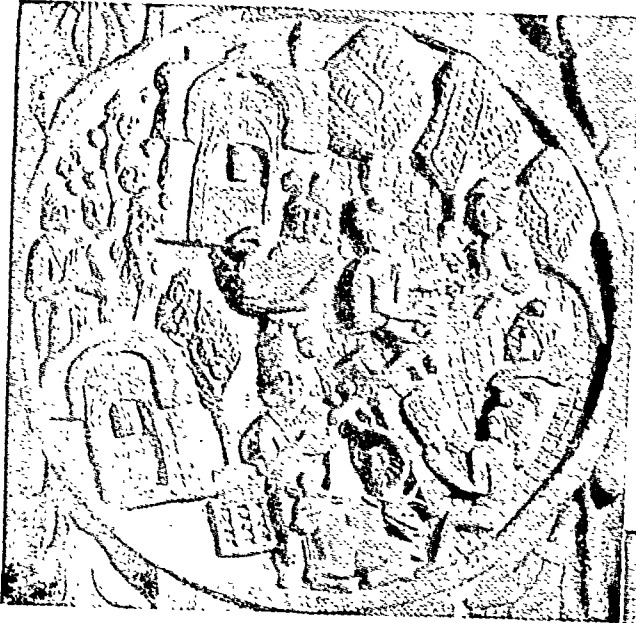
८१. सावत्थी का सबसे धनी श्रेष्ठिन अनाथ-पिंडिक बुद्ध के लिए टनगर के बाहर एक विश्राम-स्थल, राजकुमार जेक का उपवन खरीदता हुआ । अनाथपिंडिक के सेव ढँ सचमूच चाँदी की आहत-मुद्राओं से भमि को कते हैं : राजकुमार जेट उपवन को देने को तैयार न था इसलिए उसने हँसी में ऐसी शर्त रखी थी । बीचों-बीच राजकुमार जेट बुद्ध को भेंट-तर्पण करता हुआ; बुद्ध को जंगले के साथ वृक्ष द्वारा सूचित किया गया है । भारहुत का बलुए पत्थर का उद्‌भृत, ईसापूर्व दूसरी शताब्दी ।

८२. सिरीप वृक्ष के आगे, नाग-नागनियों सहित पूजा करता हुआ नाग राजा एरापत्र । कस्यप बुद्ध के समय एरापत्र को यह शाप था कि संसार में अगले बुद्ध के प्रकट होने तक वह मानव रूप धारण करने की शक्ति से वंचित रहेगा । जब उसने साक्य मुनि के बोध का समाचार सुना तो वह सर्प रूप में ही नये बुद्ध के पास आया । छह सिरीप वृक्षों के पास पहुँचते ही, जहाँ बुद्ध विराजमान थे, उसकी मानव रूप धारण करने की शक्ति लौट आयी । भारहुत, ईसापूर्व दूसरी शताब्दी ।
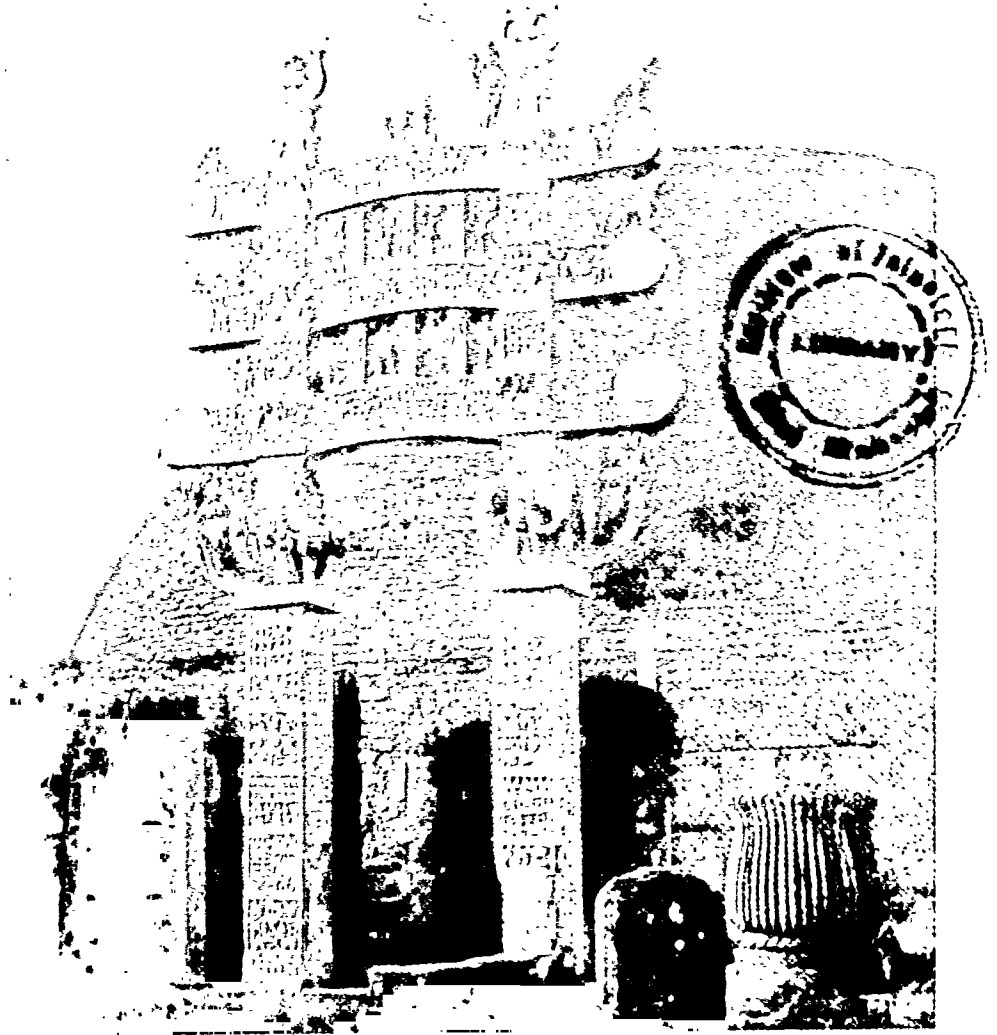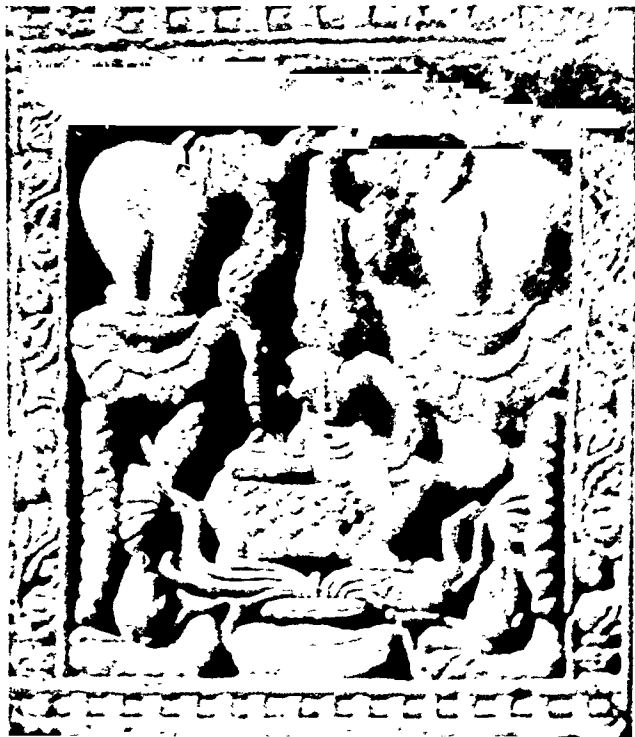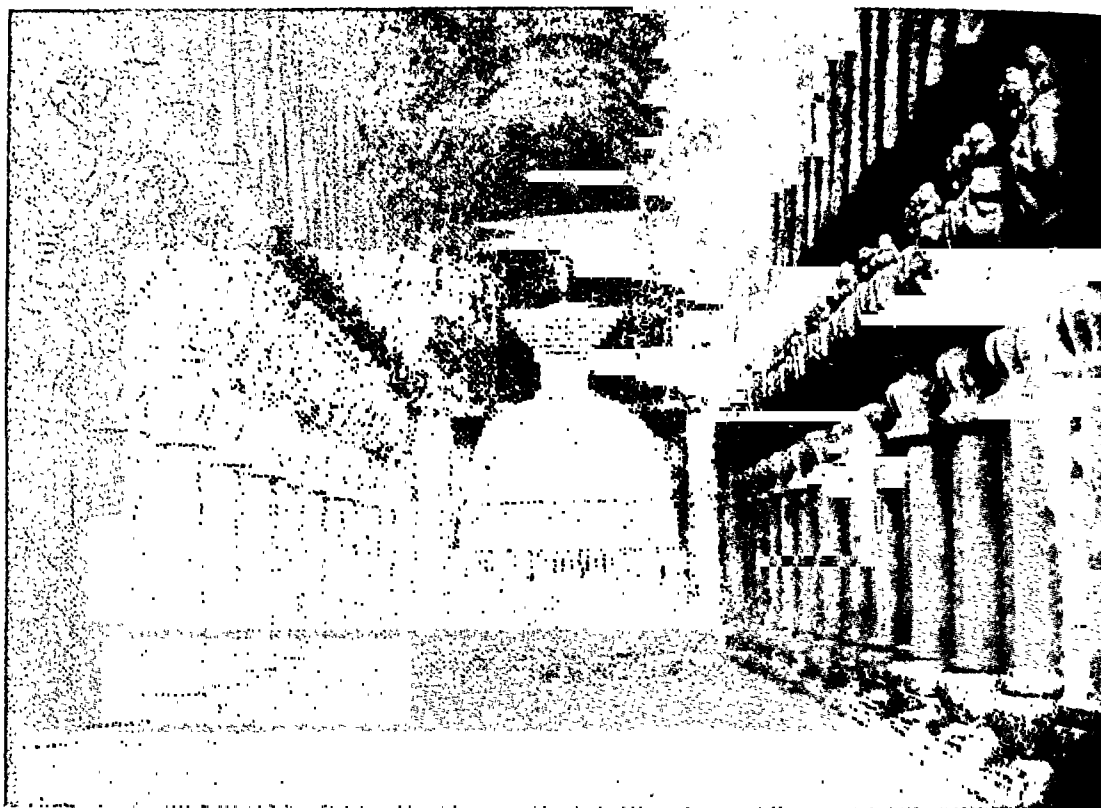
८६. कार्ले की चैत्य गुफ़ा का भीतरी भाग। गुम्बद की काठ की कड़ियाँ, जो पहले चित्रित थीं, केवल अलंकरण के लिए हैं। काठ की रेडियो-कार्बन पद्धति द्वारा निर्धारित तिथि ईसा पूर्व २८० ठहरती है। इसमें १५० वर्ष आगे-पीछे हो सकते हैं, फिर भी यह तिथि अनुमान से कहीं पुरानी सिद्ध होती है।

८७. कार्ले की चैत्य गुफ़ा का एक स्तंभ शीर्ष। इसके प्रणयरत युगल उन ब्रह्मचारी भिक्षुओं के सभाभवन में बड़े विचित्र लगते हैं जो संसार को छोड़कर जंगल में तप करने आये थे।

९०. मार की सेना के राक्षस। सबसे निचली पंक्ति के दो सैनिकों का कवच यूनानी-रूमी शैली का है; बायें, कवच के पल्ले उलटी ओर मुड़े हुए है, जिससे प्रकट होता है कि ऐसा कवच भारतीय सैनिकों में अधिक प्रचलित न था, और आम तौर पर शिल्पी भी उससे परिचित न थे। गंधार, दूसरी से चौथी शताब्दी।
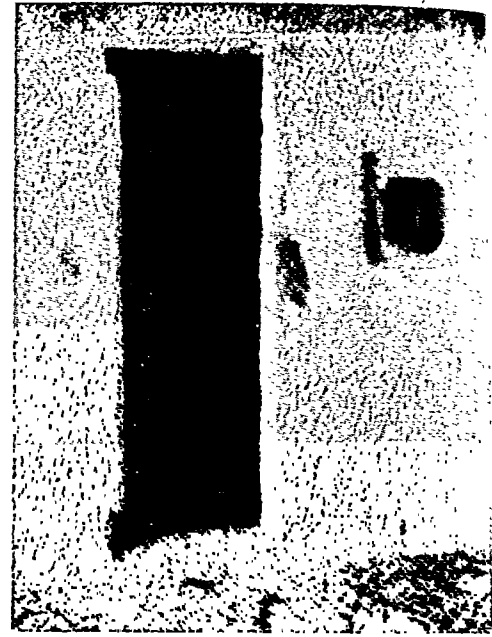
९२. शिरवल के बौद्ध गुफ़ा मठ में एक कोठरी, ईसा की पहली शताब्दी (?)। द्वार में ठोस काठ के किवाड़ों के खाँचे और ताले का छिद्र जिसमें जंजीर डाली जाती थी, दिखाई पड़ता है। जालीदार खिड़की की भी व्यवस्था है।

९१. भाज की इंद्रप्रस्थ गुफा में एक छोटे स्तंभ के शीर्ष पर किन्नर। संभवतः ईसा पूर्व पहली शताब्दी।

९४. भिक्षापात्र का उन्मेध; अमरावती के विशाल स्तूप का उद्भृत फलक, ईसा की दूसरी शताब्दी। स्तूप १९वीं शताब्दी में गिराया गया और उसका बहुत-सा संगमर्मर चूना बनाने के लिए जला डाला गया।

९५. पौराणिक पशुओं का शिकार; ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित अमरावती के एक उद्भृत का अंश।

९३. (बांयी ओर) कोंडने में चैत्य गुफा १ के गृहमुख पर चित्रवल्लरी। एक साथ दो स्त्रियों से प्रणय व्यापार में मग्न क्षत्रिय का छह फीट लंबा धनुष भी दीख पड़ता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी।

९६. महिषासुर का संहार करती दुर्गा, मामल्लपुरम, ईसा की सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध।
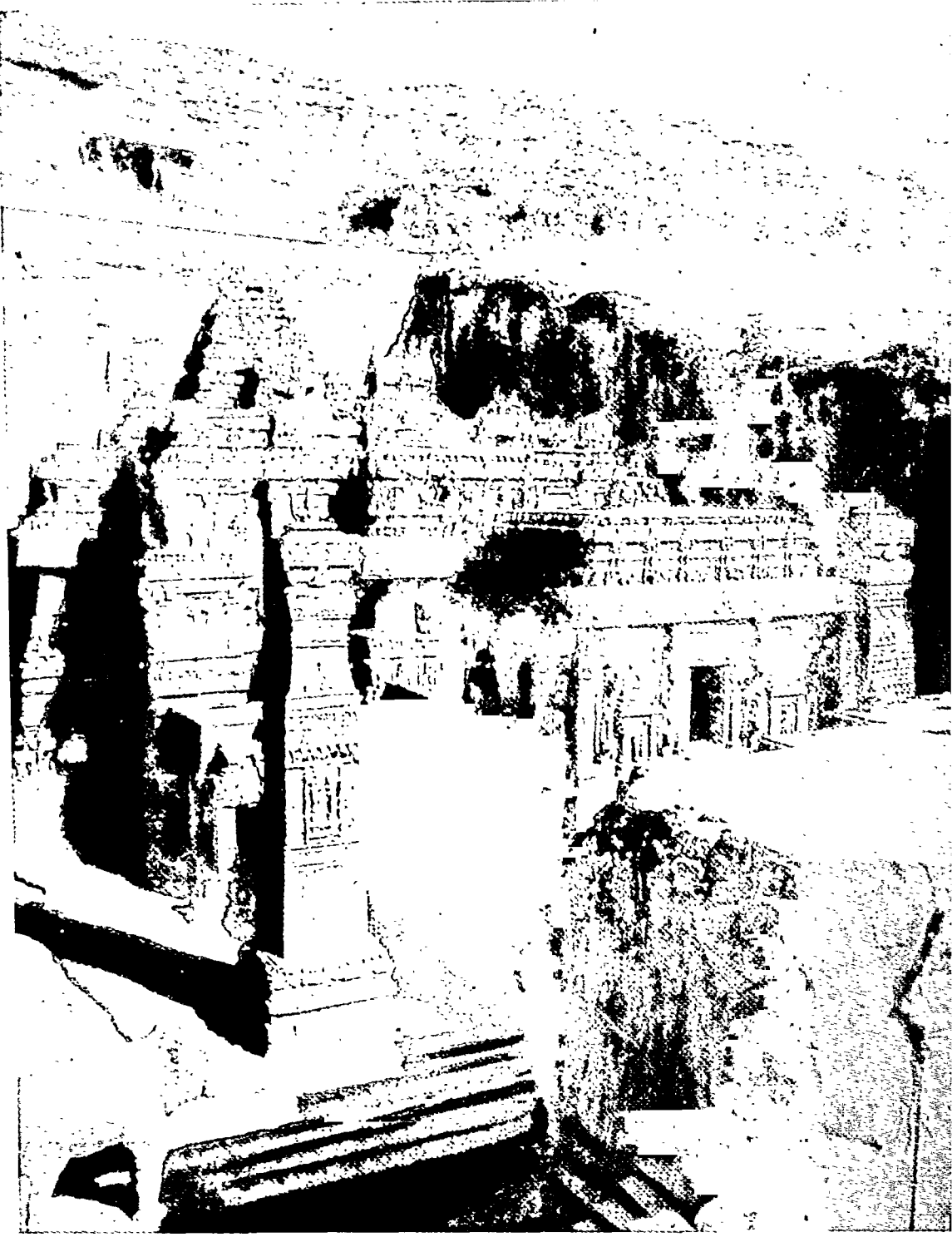
६७. एलोरा की कैलास गुफ़ा। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण प्रथम (अकाल वर्ष) द्वारा आठवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पहाड़ काटकर बनाया गया मंदिर। मरम्मत और बाहर के गच उद्भृत १७८० मे इंदौर की रानी अहल्याबाई होल्कर द्वारा। पहाड़ की चोटी पर एक उत्तर पाषाण युग की बस्ती का स्थल है, जो चित्र में नही दिखाई पड़ता।
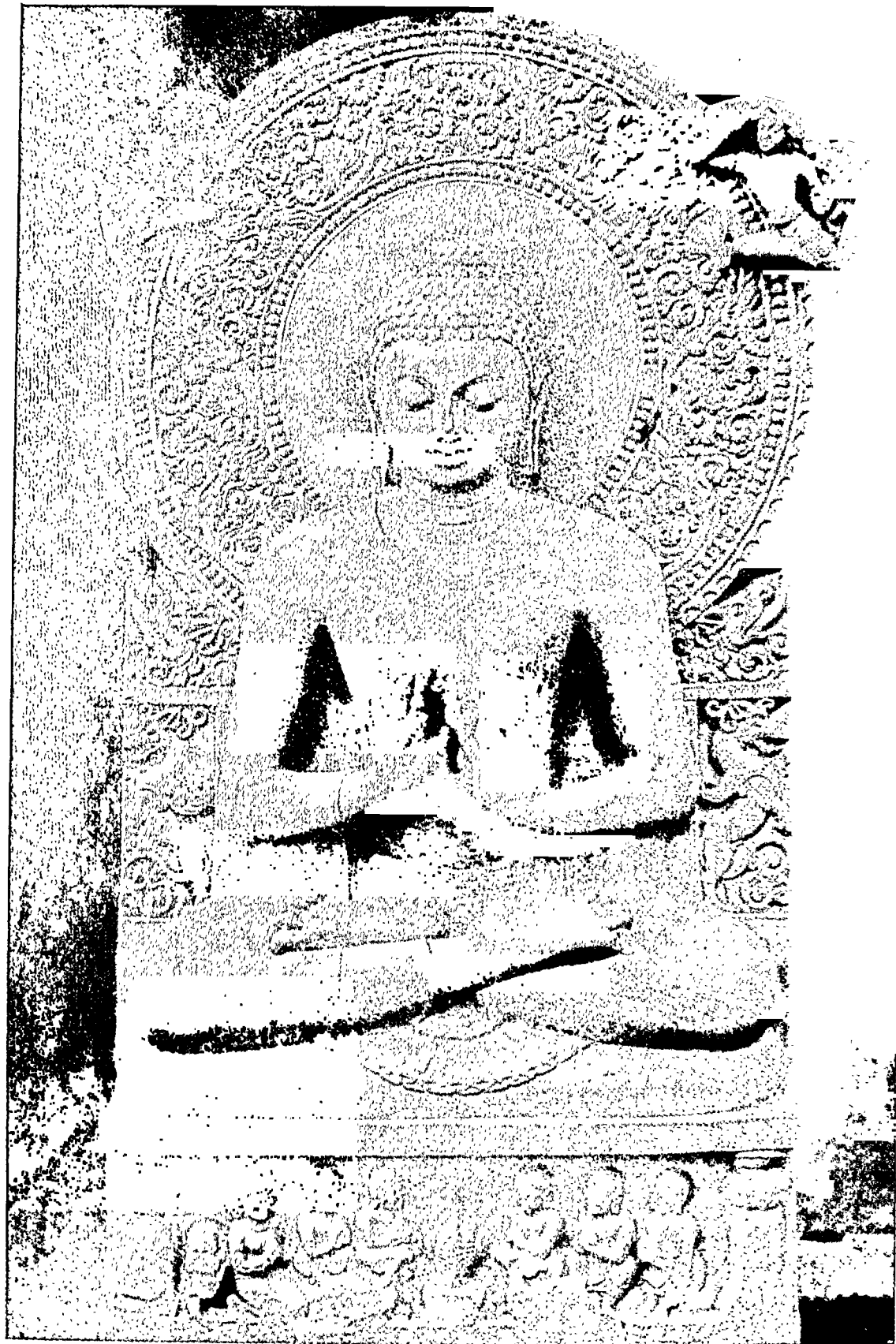
६८. आसीन बुद्ध । बलुआ पत्थर; सारनाथ, ईस्वी पाँचवीं शताब्दी ।

मिलती। पर संस्कृत पुराण उसे शिशुनाग वंश का वताते हैं। निश्चय ही दस पीढ़ियों वाद उस राजपरिवार और वंश का अंत शिशुनाग रूप में ही हुआ। नाम के अंत में 'नाग' पद वैदिक प्रचलन में असंभव था; यहाँ यह आदिवासी रक्त का, कम-से-कम आदिवासी उपासनाविधियों का सूचक तो है ही। ब्राह्मण अभिलेखों में इस राजवंश
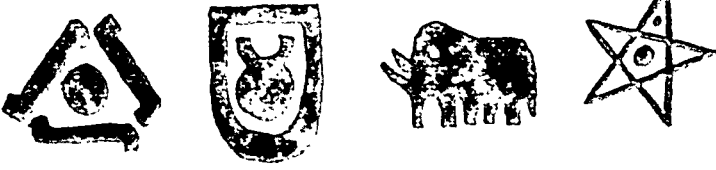
चित्र ९ बुद्ध के समकालीन, कोसल सम्राट पसेनदि के सिक्कों पर चाँदी के आहत चिन्ह। ये चिन्ह प्रायः अधूरे और एक-दूसरे के ऊपर हैं, इसलिए उन्हें बहुत-से विभिन्न नमूनों से तुलना द्वारा निर्धारित किया जा सकता है। यह ध्यान देने की वात है कि कोसल प्रणाली चार चिन्हों की थी, और भार ३/४ कार्षापण मानक था।

का उल्लेख बड़े तिरस्कार के साथ हीनतम क्षत्रियों के रूप में है, वे इन्हें क्षात्र-बंधु कहते हैं, जिसका कम-से-कम इतना अर्थ तो है ही कि ये लोग विजय के लिए, कभी-कभार कोई यज्ञ कर लेने के अतिरिक्त, वैदिक रीति-रिवाजों की तनिक भी परवाह न करते थे। वास्तव में, राजगिर के सवसे प्रमुख बौद्ध-पूर्व तीर्थ (मनिहार मठ) में कुछ नाग उपासनाविधियों का चलन था और उसका यह विशेष रूप शताब्दियों तक बना रहा जब तक वह स्थान उजड़ नहीं गया। मगध के बिम्बिसार की एक विशेष उपाधि थी, सेनिय अर्थात् 'सेनावाला'। उससे सूचित होता है कि किसी कबीले से असम्बद्ध और नियमितस्थायी सेना बनाने वाला वह सबसे पहला राजा था। कोसल का राजा पसेनदि अपने को वेद-विख्यात राजा इक्ष्वाकु का वंशज कहता था; पर उसका यह दावा उसके अपने युग और स्थान में स्वीकत नहीं हुआ। जब उसने एक साक्य कन्या से विवाह करना चाहा तो इस माँग से साक्य बड़े धर्मसंकट में पड़े, यद्यपि उनके जीवन-मरण का अधिकार पसेनदि के ही हाथ में था, और वे अपने को उसी इक्ष्वाकु का ही वंशधर कहते थे। अंत में उन्होंने धोखा देकर महानाम साक्य तथा दासी नागमुंडा की पुत्री सुंदरी वासभ-खत्तिया को राजा के पास भेज दिया। नागमुंडा का नाम भी आदिवासी जन्म का सूचक है। वाद में यह धोखा खुल गया, पर इस संयोग से उत्पन्न पुत्र विदूदभ राज्य का उत्तराधिकारी बना रहा। पसेनदि की पटरानी मल्लिका एक माली की पुत्री और इसलिए वास्तव में नीची जाति की थी। पर उन दिनों कुछ ब्राह्मणों को छोड़कर बाक़ी के लिए पूर्वी जाति व्यवस्था भी बहुत कट्टर न थी।

पसेनदि ने बिम्बिसार से एक कदम आगे जाकर अपने पुत्र और उत्तराधिकारी के लिए सेनापति का एक नया पद बनाया, जिसका उल्लेख सदा विदूदभ-सेनापति के रूप में होता है। उसके पहले किसी सेनापति का कोई उल्लेख नहीं मिलता। राजा को ही, अन्य पूर्ववर्ती कबीलाई मुखियों की भाँति, सेना का नेतृत्व और संचालन करना पड़ता था। किंतु मल्ल बंधुल को कोसल सेना पर कार्यतः पूरा अधिकार प्राप्त था और उस पर राज्य हथियाने की इच्छा का सन्देह होने पर पसेनदि के आदेश पर उसकी धोखे से हत्या की गयी थी। यह वास्तव में भ्रमवश हुआ, क्योंकि बंधुल के भतीजे दीघ-कारायण को उच्च मंत्रिपद पर बने रहने दिया गया। यह मंत्री ही निस्संदेह शासनतंत्र का वह पंडित है जिसका संस्कृत में दीर्घ चारायण नाम से उल्लेख हुआ है। (उच्चारण के ऐसे परिवर्तनों की न केवल अन्य उदाहरणों से पुष्टि होती है, जैसे अशोक की रानी चारुवाकी के लिए कालुवाकी, बल्कि कश्मीरी क्षेमेन्द्र ने अपने बौद्ध प्रबन्ध-काव्य 'अवदानकल्पलता' में चारायण नाम ही दिया है।) किन्तु कुछ समय तक कोसल अथवा मगध किसी ने भी युद्ध नहीं छेड़ा। दोनों ही राजा अपेक्षया अनाक्रामक स्वभाव के थे; दोनों नये धार्मिक चिन्तकों को खुशी-खुशी संरक्षण दे रहे थे। कहा जाता है कि वे बुद्ध के घनिष्ठ बन्धु और प्रशंसक तो थे ही, साथ ही उस समय के सभी प्रमुख सम्प्रदायों को उदारतापूर्वक सहायता देते थे, जिनमें कुछ वैदिक ब्राह्मण भी थे। दोनों राजाओं के बीच विवाहजन्य सम्बन्ध भी था, क्योंकि पसेनदि की बहिन बिम्बिसार की पटरानी थी और कुछ विवरणों में उसकी पुत्री के बिम्बिसार के पुत्र की पत्नी होने का भी उल्लेख है। किन्तु दोनों की सेनाएँ निरंतर जंगलों के बर्बर लोगों और शायद छोटे आर्य कबीलों के विरुद्ध अभियान में लगी रहती थीं। दोनों राजाओं ने युद्ध में विजय के लिए यज्ञों में बहुत धन खर्च किया था। यह भी उल्लेख है कि उन्होंने पुरोहितों को दक्षिणा में पूरे गांव दे दिये थे। इन राजसीय यज्ञों के लिए बिना मूल्य असंख्य पशु इकट्ठे करने पर किसानों के दुख और व्याकुलता के बड़े सजीव वर्णन मिलते हैं। इस भाँति ये प्रमुख राजा अभी तक उन वैदिक कुप्रथाओं से पूरी तरह मुक्त नहीं हुए थे जो नये वर्गसमाज के अनुकूल न थीं।

अनिवार्य संघर्ष की ओर पहला कदम बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने उठाया। इस राजकुमार ने, निस्संदेह शासनतंत्र के किसी अज्ञात सिद्धांतकार के परामर्श से, अपने पिता को बंदी बनाया और फिर वृद्ध और सज्जन बिम्बिसार को कालकोठरी में भूखों मार डाला। फिर भी बौद्धों ने, पितृ-हत्या पर कांप उठने के बावजूद, अजातशत्रु को न्यायप्रिय और योग्य शासक माना है। पहले बताया जा चुका है कि उसका एक प्रमुख उपनिषद में भी दार्शनिक राजा के रूप में उल्लेख हुआ है। इस घटना पर पसेनदि की प्रतिक्रिया यह हुई कि उसने काशी जनपद में जो एक

गांव बहन के दहेज में उपहारस्वरूप दिया था उसे निरस्त कर दिया। पर वह इतना मूल्यवान था कि मगध के लिए इसे लौटाना कठिन था; वह गंगा नदी पर एक ऐसे मोरचे के समान था जहाँ से नदी की और व्यापार मार्ग की एक शाखा की नाकेबंदी की जा सकती थी। इसलिए उस जनपद पर प्रभुत्व की रक्षा के लिए कई युद्ध हुए जिन सबमें मगध के अजातशत्रु की विजय हुई। कोसल पक्ष भी प्रत्युत्तर में पीछे न था। प्रधान मंत्री दीघ-कारायण ने अपने पास सुरक्षित राजचिह्न को विदूदभ को दे दिया। सेना उसके अधिकार में थी ही और वह तुरन्त सिंहासनारूढ़ हो गया। वृद्ध पसेनदि ने, एक दासी के अतिरिक्त सबके द्वारा परित्यक्त होने पर, अपने भानजे की शरण ली। पर जिस समय वह राजगिर पहुंचा तब तक नगर के द्वार रात के लिए बन्द हो चुके थे; सवेरे द्वार खुलने के पहले ही मगध राजधानी की दीवारों के बाहर थकान से पसेनदि की मृत्यु हो चुकी थी। आजतशत्रु ने अपने मामा के शव का बड़ राजसी ढंग से अन्तिम संस्कार किया और उसके बाद कोसल के सिंहासन पर दावा करने लगा।

चित्र १० मगध शैली की चांदी की आहत मुद्राएं, जो सम्भावित अजातशत्रु की हैं (लगभग ४८० ई० पू०)। इस प्रणाली में पांच चिन्ह होते हैं, और नए सिक्कों का भार लगभग चौवन ग्रेन चाँदी था। पूरा कार्षापण ऐसी भार प्रणाली पर आधारित था जिसका सिन्धु घाटी में भी उपयोग होता था, पर भारत के बाहर इसका प्रचार न था।

किन्तु इस अधिकार का आग्रह करना तुरंत संभव न था। उसके लिए न केवल विदूदभ को, बल्कि मल्ल और लिच्छवि जैसे स्वतन्त्र कबीलों को, कुचलना आवश्यक था। ऐसे कबीले जनतंत्र के अवशिष्ट रूपों की दृष्टि से और विकट सैनिक बाधाओं की दृष्टि से, किसी भी राजा की प्रगति के लिए अपेक्षया अधिक खतरनाक थे। विदूदभ बिल्कुल समांतर ढंग से चल रहा था और उसने साक्यों का संहार कर डाला। कहने को तो यह अपने जन्म-संबंधी अपमान का बदला लेने के लिए किया गया, पर वास्तव में वह उत्तरापथ में कबीलों की स्वतंत्रता को समाप्त करने के सामान्य उद्देश्य का ही एक अंश था। इस समय तक लिच्छवि उत्तर की ओर से गंगा नदी तक अपना नियंत्रण स्थापित कर चुके थे और नदी पर समस्त व्यापार से चुंगी वसूल करते थे। व्यापारी इस दोहरी वसूली के कारण बहुत क्षुब्ध थे, क्योंकि लिच्छवियों के अलावा मगध का शासक भी नदी पर अपने पूरे नियंत्रण का दावा करके उनसे चुंगी

वसूलता था। इसलिए पाटलिपुत्र (पटना) में गंगा के गंडक और सोन के साथ संगम पर (जो पन्द्रहवीं शताब्दी तक यहीं गंगा में मिलती थीं) एक सुदृढ़ लकड़कोट बनाया गया। अपनी अन्तिम यात्रा में बुद्ध ने इस निर्माण कार्य को देखा था जो तब तक अपूर्ण था। कहा जाता है कि उन्होंने इस स्थान के भविष्य को बहुत उज्ज्वल बताया था। पर इस भविष्यवाणी के सच्चे होने का आरम्भ कोई सौ वर्ष बाद पटना के मगध की राजधानी बनने पर हुआ, जब बदली हुई प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए राजगिर की स्थिति सुविधाजनक नहीं रही। लिच्छवियों ने अजातशत्रु की चाल के जवाब में मल्लों से एक व्यावहारिक समझौता कर लिया। पर लिच्छवि कबीले और राज्यसंघ को एक ऐसी चाल द्वारा भीतर से तोड़ दिया गया जिसका मगध शासनतंत्र के महान ग्रंथ में बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है। अजातशत्रु का एक ब्राह्मण मंत्री अपमानित और अपदस्थ होने का बहाना बनाकर लिच्छवियों के पास पहुँचा (जैसे डेरियस प्रथम का मंत्री जोपीरस बेबिलोनवासियों के पास गया था)। यद्यपि लिच्छवियों और मल्लों के कबीलों में कोई ब्राह्मण न था और वे किसी ज्ञात वैदिक प्रथा का पालन न करते थे, फिर भी आगुन्तक के पद, प्रतिष्ठा और मगध के राजा के इरादों के तथाकथित ज्ञान के कारण उसकी बड़ी आवभगत हुई। उसने इस विश्वास का लाभ उठाकर लिच्छवि कुलीनों के बीच फूट डाल दी, प्रत्येक लिच्छवि को अपने निर्धारित भाग से अधिक का दावा करने को उकसाया और उन्हें ऐसा उलझाया कि वे कबीले की बैठकों, सामूहिक सैनिक अभ्यासों और न्याय परिषद की उपेक्षा करने लगे। पर ऐसी भीतरी तोड़फोड़ इसीलिए संभव हो सकी, क्योंकि भेंट और करों के रूप में संचित धन कुलपतियों की निजी सम्पत्ति के रूप में रखा जाता था, जिसके प्रभाव से पूरा कबीला भीतर से खोखला हो गया था। आजतशत्रु के दूत के आगमन से पहले ही ऐसा आंतरिक विघटन होने की बात लिच्छवियों में महावीर जैसे विशिष्ट धर्मोपदेशक के उदय से, और बंधुल तथा चारायण जैसे मल्लों के कबीले से बाहर नौकरी करने से सिद्ध होती है। श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ स्वतंत्र कबीलों का जीवन भी कबीले के योग्यतम व्यक्तियों को अब पूरा संतोष न दे पाता था। अंत में स्थिति इतनी बिगड़ गयी कि कबीला परिषद तथा अन्य कबीलाई कार्यों के लिए भी लिच्छवि नियमित रूप से नहीं मिलते थे। तब गुप्तचर ने अजातशत्रु को सूचना दे दी और उसने अचानक चढ़ाई करके अपने विसंगठित शत्रुओं पर सहज ही विजय प्राप्त कर ली। मल्लों की चरम पराजय का कोई विवरण नहीं मिलता, पर उनका भी शीघ्र ही नाश हो गया, इसमें संदेह नहीं। यह सर्वनाश इतना पूर्ण था कि मल्ल शब्द का अर्थ ही बाद में, मूल कबीले के व्यायाम के शौक के आधार पर, 'पहलवान' या कुश्ती लड़ने वाला हो गया। पश्चिम के एक मल्ल कबीले का, गांगेय मल्लों से उसका कोई

सम्बन्ध हो अथवा न हो, कोई डेढ़ सौ वर्ष वाद मध्य सिंधु तट पर सिकन्दर की सेना द्वारा संहार हुआ। किन्तु कुछ लिच्छवि अजातशत्रु के अभियान के वाद भी वचे रहे। इससे प्रकट होता है कि युद्ध कवीले के लोगों का नाम-निशान मिटाने के लिए नहीं, उनकी कवीलाई जीवन-पद्धति को समाप्त करने के लिए हुआ था। धूर्त व्राह्मण मंत्री का केवल उसके उपनाम 'वस्सकार' (वश में करने वाला) से उल्लेख है, जो उसके इस आश्चर्यकारी षड्यंत्र के कारण ही पड़ा होगा। निस्संदेह वह शासनतंत्र का एक महान विशेषज्ञ था, जिसके विचारों और नीतियों का अर्थशास्त्र में अवश्य उसके अज्ञात वास्तविक नाम से विवेचन होगा।

मगध के अप्रत्याशित सौभाग्य से कोसल की समस्या भी सुलझ गयी। विड़ूदभ ने असावधानी से अपनी सेनाओं का शिविर सूखी राप्ती नदी की वालू पर लगाया था। किंतु ऊपर कहीं अचानक जल वर्षा के फलस्वरूप सारा कोसल शिविर वह गया, जिसे साक्यों के हत्याकांड का दंड माना गया। उसके वाद न राजा रहा और न उसकी सेना, कि अजातशत्रु द्वारा कोसल के खाली सिंहासन पर दावे का कोई विरोध होता।

इन सब घटनाओं से यह न समझना चाहिए कि उपलब्ध सामग्री में ऐसा कोई सुसम्बद्ध ऐतिहासिक इतिवृत्त मिलता है। इसके लिए बहुत-से अंशों को पहले अनेक विभिन्न कहानियों और किंवदंतियों में से छांटना और फिर उन्हें एक विश्वसनीय क्रम में जमाना आवश्यक है। देहातों का कोई वर्णन अथवा किसी युद्ध अथवा अभियान का विवरण अवशिष्ट नहीं है। हम नहीं जानते कि अजातशत्रु का शासन कितनी दूर तक था; इतना निश्चित है कि उसके उत्तराधिकारियों के करने के लिए भी बहुत-कुछ वाकी वच गया था। एक प्रासंगिक उल्लेख मिलता है कि अवन्ती का राजा प्रद्योत मगध पर चढ़ाई करनेवाला था, इसलिए अजातशत्रु के वड़े मंत्री वस्सकार और सुनीध ने राजधानी राजगिर की फिर से क़िलेवंदी की। अवंती राज्य सोलह 'महान जनपदों' में से एक था और वड़ा समृद्ध तथा शक्तिशाली था; उसकी राजधानी उज्जैन दक्षिणी व्यापार मार्ग पर पड़ती थी। अंत में वह भी मगध से पराजित हुआ, पर किस विशेष मगध राजा द्वारा, यह ज्ञात नहीं है। यमुना तट पर कोसाम्वी का वत्स (वंस) राज्य भी सोलह की सूची में था। उसके राजा उदयन का उज्जैन से स्थायी मनमुटाव सुविदित है। वह उस सुंदर प्रेमकथा-चक्र के नायक के रूप में भी विख्यात है जो उसकी अत्यंत रूपवती रानी वासवदत्ता से संवंधित है। पर इस सवसे यह पता नहीं चलता कि वह राज्य कितने दिन चला और कव आखिरकार मगध ने उस पर अधिकार किया। कुरु, शूरसेन, मत्स्य (शायद दाशराज्ञ युद्ध के ऋग्वेदीय कवीलों के वंशज) सव सोलह की सूची में कवीलाई राज्य थे; वे चौथी शताव्दी के वाद नहीं वचे, यद्यपि

मथुरा के शूरसेनों की ख्याति यूनानियों तक पहुँची थी।

देर-से-देर ई० पू० ४७० के आस-पास, और जल्दी-से-जल्दी इससे साठ वरस पहले (प्राचीन भारतीय कालगणना में इतनी निश्चित तिथि आश्चर्यकारी है!) मगध गांगेय प्रदेश का प्रमुख प्रभुत्वशाली राज्य था, यद्यपि अभी उसे सर्वोच्च सत्ता नहीं प्राप्त हुई थी। उसका राजतन्त्र निरंकुश था, धातु के सबसे समृद्ध भंडारों और दो मुख्य व्यापार मार्गों के उत्तर-पूर्वी सिरों पर उसका पूर्ण नियंत्रण था; पर फिर भी एक भारी कठिन कार्य अभी उसके सामने था : जंगल को पीछे हटाकर अधिकाधिक भूमि पर हल द्वारा नियमित खेती चालू करना। अव उसका कोई वड़ा सैनिक प्रतिद्वन्द्वी तो नहीं बचा था, पर बहुत-से छोटे-छोटे कबीले अभी वश में नहीं आये थे। आक्रमण की प्रक्रिया तब तक नहीं रोकी जा सकती थी जब तक 'संपूर्ण पृथ्वी'–जिसका भारतीयों के लिए अर्थ था सारा देश—उत्तर में बर्फ़ीले पहाड़ों से लगाकर 'चार महासागरों' तक, एक शासन के अंतर्गत न आ जाये। इस 'प्रत्यक्ष नियति' को पूरा होने में दो शताब्दियाँ और लगीं। तब एक सर्वथा नयी समस्या सामने आयी : जिस राज्य के नागरिक एक असाधारण रूप में शालीन नैतिक संहिता के अनुसार जीवन यापन करते हों, वह समस्त क़ानून और नीतिशास्त्र का निष्ठुरतापूर्वक उल्लंघन कव तक करता रह सकता है? इस औपचारिक अंतर्विरोध के तल में आर्थिक यथार्थ था राज्य और व्यापारी के बीच हितों का संघर्ष, व्यक्तिगत उद्योग और राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण में उत्पादन के बीच हितों का संघर्ष। कृषि समाज में संक्रमण की पुरानी समस्या का इतना संपूर्ण समाधान हो चुका था कि लोग भूल गये कि इतिहास में वह कभी रही भी थी।

छठा अध्याय

वृहत्तर मगध में राज्य और धर्म

मगध विजय की पूर्णता

ईसा पूर्व पाँचवीं और चौथी शताब्दियाँ भारतीय पुरातत्त्वविदों को उत्तरी काले ओपदार भांडों के श्रेष्ठ युग के रूप में ज्ञात हैं। यह उस उच्चकोटि के भांडों का वर्णन है जो छठी शताब्दी के आस-पास (संभवतः शराबों और तेलों के लिए) पहले-पहल व्यापार के लिए बनाये गये। ईसाई युग शुरू होने के एक या दो शताब्दी पहले इनका चलन बंद हो गया। इन दो शताब्दियों के बारे में कोई साहित्य, अभिलेख या स्पष्टतः कालांकित शिलालेख अवशिष्ट नहीं, पर ई० पू० ३२७ में पंजाब पर सिकन्दर के आक्रमण से पहली बार निश्चित ऐतिहासिक तिथि ज्ञात होती है। इस आक्रमण के फलस्वरूप, जिसका भारतीय जीवन, संस्कृति अथवा इतिहास पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा, यूनानियों द्वारा भारतीय परिस्थितियों के विवरणों से एक अत्यन्त आवश्यक संदर्भ-सूत्र भी प्राप्त हो सका है। यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए कि अधिकांश विदेशियों की भाँति ही यूनानियों के लिए भी भारत एक अनोखा आकर्षक देश, वल्कि एक प्रकार का कल्पनालोक था। यहाँ हाथी जैसे विचित्र और कल्पनातीत पशु पाये जाते थे जिसे पालना भी संभव था। ऊन यहाँ पेड़ों पर उगता था (कपास)। भारतीय सरकंडे (बाँस) विराटकाय होते थे, और इस देश में एक ऐसा रवा बनता था जो शहद से भी मीठा होता था—शक्कर। (नील नदी की तुलना में भी) विस्मयकारी आकार, तेज़ धार, अज्ञात लंबाई और अगम गहराइयों

वाली नदियाँ उन लोगों को अवश्य ही प्रभावित करती थीं जो ऐसी नदियों के किनारे रहते थे जिन्हें भारतीय नाले ही कहते। धरती अल्पतम परिश्रम से चमत्कारिक ढंग से वर्ष में दो या तीन फ़सलें देती थी, जबकि यूनानियों को अपने देश में पथरीले पहाड़ी ढलानों पर एक फ़सल के लिए भी जी-तोड़ मेहनत करनी पड़ती थी। यह बात भी बड़ी आश्चर्यजनक लगती थी कि क्रीतदासों के बिना भारतीय सब काम इतनी अच्छी तरह कैसे चला लेते हैं, क्योंकि क्रीतदासों के बिना तो अफ़लातून (प्लेटो) जैसे महान यूनानी दार्शनिक तक एक व्यवहार्य नगर-राज्य की कल्पना भी न कर सके थे। चरम विसदृशता यह थी कि जहाँ यूनानी नागरिक जीवन में धोखा-धड़ी और मुकदमेबाज़ी का कोई अंत न था, वहाँ भारतीय केवल मौखिक रूप से किये गये समझौते का, किसी लिखित, हस्ताक्षरित और साक्षीबद्ध अनुबंध के अभाव में भी पूरी तरह पालन करते थे। अरियन ने कहा है—'पर सचमुच, कोई भारतीय कभी झूठ नहीं बोलता!' अभिलेखों की व्याख्या में इस सबके लिए छूट देना आवश्यक है, विशेषकर जब डिओडीरस सिकुलस जैसा दार्शनिक भी, ऐसे उदाहरणों की तलाश में, जिनके आधार पर एक आदर्श समाज का निर्माण हो सके, एक यूनानी यात्री के शब्दों का ग़लत अर्थ निकाल बैठता है। साधारणतः संदेहवादी यूनानी भारत के बारे में किसी भी बात पर यक़ीन करने को तैयार थे।

सिन्धु नदी के पश्चिम का क्षेत्र, ईसा पूर्व ५१८ के आस-पास डेरियस प्रथम द्वारा उसकी विजय के बाद से, ईरानी साम्राज्य का ही बीसवाँ प्रान्त था। हाखमनि प्रान्तों में यही सबसे लाभदायक रहा जान पड़ता है। हेरोडोटस के अनुसार वार्षिक ख़िराज ३६० तोड़े, अर्थात् लगभग नौ टन स्वर्ण धूलि था। यह विस्मयकारी खज़ाना ऊपरी सिन्धु की बालू में से धोकर निकाला जाता था या तिब्बत या कश्मीर की अधित्यका में नदी तल में से खोदा जाता था। इस प्रान्त और आस-पास के प्रदेशों का ऊन और ऊनी कपड़ा तो भारत में भी विख्यात था। कुछ स्थानीय टुकड़ियाँ ज़रख्सीज़ की सेना में लड़ चुकी थीं, इसलिए यूनानी लोग सिकंदर के बहुत पहले से भारत के विषय में जानते थे। प्रान्त का मुख्य व्यापारिक नगर पुष्करावती, आधुनिक चारसद्दा था जिसे यूनानियों ने पेउकेलाओतीस कहा है। नाम का अर्थ है पुष्कर, अथवा कृत्रिम कमल सरोवरों वाला, जिसका सिन्धु संस्कृति से संबंध हम देख चुके हैं। इस नगर का एकमात्र ज्ञात सिक्का भारतीय-यूनानी युग और बनावट का है और प्राचीन स्मृतियों को बनाये रखता है, क्योंकि उस पर एक ओर तो शानदार ककुदमान भारतीय वृषभ अंकित है और दूसरी ओर हाथ में कमल लिये पुष्करावती मातृदेवी अम्बी। सिन्धु के पूर्व में, पर स्पष्ट ही गंधार के उसी कबीलाई जनपद का एक अंश, तक्षशिला का विशाल सांस्कृतिक और व्यापारिक केन्द्र था। तक्षशिला की खुदाई में

प्राप्त आहत-मुद्रा के संचयों से प्रकट होता है कि सिकन्दर के समय मगध के सिक्के ही उत्तर-पश्चिमी सीमांत पर भी सबसे अधिक व्यवहार में आते थे। इन सिक्कों की सर्वोत्तम गुणवत्ता और सर्वाधिक संख्या अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों के समय दिखाई पड़ती है; जिससे (सिक्कों के संचय के अध्ययन के फलस्वरूप) यह निष्कर्ष निकलता है कि ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के लगभग समस्त उत्तरापथ के व्यापार पर मगध का प्रभुत्व स्थापित हो गया था।

सिकन्दर की हाखमनि साम्राज्य की विजय उसके अन्तिम सीमान्त, सिन्धु नदी, तक पहुँचे विना पूरी न हो सकती थी। ईरान में एक के बाद एक सहज सफलता और नदी पार के विस्मयकारी देश के प्रत्यक्ष वैभव से सिकन्दर की सर्वग्रासी महत्त्वाकांक्षा को और भी बढ़ावा मिला। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि ईरानी राजकोष की समस्त संचित सम्पत्ति से संपुष्ट एक वेजोड़ सैनिक तंत्र उसके हाथ में मौजूद था। चारसद्दा तीस दिन की घेरेबंदी के बाद हार गया; घेरेबंदी से रक्षा के प्रबन्धों की उन पुरातत्त्वविदों ने संपुष्टि की है जिन्होंने चारों ओर की खंदकों की खुदाई की थी। सिन्धु पार करने पर प्रारंभिक परिणाम भी वड़े उत्साहवर्धक थे। तक्षशिला के राजा आम्भी ने तो विना प्रहार के ही आत्म-समर्पण कर दिया और इस कथन के साथ खिराज़ दे दिया कि जब दोनों के लिए यथेष्ट धन मौजूद है तो फिर लड़ाई से क्या लाभ? तक्षशिला की संस्कृति और सम्पत्ति अभी तक घरों अथवा नागरिक निर्माण में नहीं झलकी थी; नगर झोंपड़ियों का दयनीय संग्रह मात्र था, ठीक वैसे ही जैसे सिकन्दर की मकदूनी राजधानी पेल्ला उस समय रही होगी। पर ठीक उसके बाद ही वास्तविक कठिनाइयाँ शुरू हो गयीं, यद्यपि सेना विश्राम कर चुकी थी, उसे संभरण का एक उत्तम अड्डा मिल चुका था, और तक्षशिलावासी अपने शक्तिशाली भारतीय पड़ौसियों के विरुद्ध यूनानियों की ओर से लड़ने को प्रस्तुत थे। स्वतंत्र कबीलों को एक-एक करके ही हराया जा सका, और प्रत्येक लड़ाई में, युद्ध-सामग्री की दृष्टि से यूनानियों की ज़बरदस्त श्रेष्ठता के बावजूद, वड़ा तीखा संघर्ष हुआ। भारतीय अभी तक युद्ध में रथों का व्यवहार करते थे, और मकदूनी अश्वारोही सेना के इक्कीस फुट लम्बे वल्लमों (सरिस्स) के सामने असहाय हो जाते थे। रथ युद्ध-क्षेत्र में पिछड़ा हुआ साधन सिद्ध हुआ, और सिकन्दर के सीमान्त प्रदेश से गुज़र जाने के बाद उसकी कभी-कभी किसी उच्च अधिकारी के पद को सूचित करने के अलावा, अन्य कोई सार्थकता न रही। हमलावर सैनिक काँसे के कवच पहनते थे; धातु की आपेक्षिक कमी के कारण भारतीयों को केवल एक ढाल, चमड़े के उरस्त्राण और शायद धातु के शिरस्त्राण के भरोसे ही लड़ना पड़ता था। भारतीय हाथी ठीक से संचालन होने पर, किसी भी पैदल सेना के किसी भी समूह को भेद सकता है। पर ठीक से संचालन होना सर्वथा

अनिवार्य है, क्योंकि घायल हाथी घवरा जाये तो वह अपनी ओर के सैनिकों को भी उतनी ही आसानी से कुचल डालेगा जितनी आसानी से शत्रु के सैनिकों को। साथ ही धावा करने वाले हाथी को, शत्रु के पास पहुँचने तक, अश्वारोहियों, धनुर्धरों और पैदल सैनिकों के रक्षावरण में रखना वहुत आवश्यक है। भारतीयों की एक स्पष्ट श्रेष्ठता छह फुट लम्बे हथियार धनुष में थी जिससे छोड़ा गया वाण यूनानी सैनिक को, उसकी ढाल और कवच को भेदकर, मारने के लिए पर्याप्त था। सिकन्दर का सबसे गंभीर घाव ऐसे ही एक वाण से हुआ था जो समीप से छोड़ा गया था और उसके कवच को भेदकर एक पसली में गहरा धँस गया था और वड़ा कष्टदायक और लगभग घातक सिद्ध हुआ था। भारतीय कवीले आक्रमणकारी के विरुद्ध एकजुट भले ही न होते हों, पर लड़ना उनका सामान्य मनवहलाव था। इसमें उन्हें उन क्षत्रियों से भी सहायता मिली जो अव भाड़े पर दूसरों के नगरों की सेवा करने लगे थे। अन्ततः सिकन्दर ने अपना वचन तोड़कर इन पेशेवर टुकड़ियों पर, जव वे शत्रु द्वारा आत्म-समर्पण के वाद सैनिक सम्मान के साथ जा रही थीं, अचानक ही हमला कर दिया और उनमें से सभी को मार डाला। इस वचन-भंग के लिए उसके जीवनीकारों ने उसे कभी क्षमा नहीं किया।

सिंधु-समूह की अन्य नदी झेलम (यूनानी, हायडास्पीस) से पुरुओं के प्राचीन प्रदेश की सीमाएँ बनती थीं जो वैदिक युग से इस क्षेत्र पर अधिकार किये हुए थे। वहाँ के राजा ने, जिसे हमलावर उसके कबीलाई नाम पोरस से जानते थे, यूनानियों के प्रतिरोध के लिए इतनी बड़ी सेना उतारी जितनी उन्हें अपने भारतीय अभियान में कहीं नहीं मिली थी। पर सिकंदर ने छल से नदी पार कर ली और पुरु अभिजात-वर्ग, जो हमलावर को रोकने के लिए अपने रथों पर चढ़कर झपटा, प्रवल अश्वारोही सेना से एक ही मुठभेड़ में नष्ट हो गया। राजा पोरस के साथ मुख्य और भयंकर युद्ध सारे दिन चला जिसके अंत में पुरु जन हताहत हुए और युद्ध-क्षेत्र में शत्रु की तुलना में हर दृष्टि से निर्वल होने और बुरी तरह घायल हो जाने के वाद, विशालकाय भारतीय राजा ने वड़े गौरव के साथ आत्मसमर्पण किया। इस मुठभेड़ के प्रभावों का प्लुटार्क ने वड़े प्रभावी ढंग से वर्णन किया है :

'पर इस टक्कर ने मकदूनियों के साहस की धार नष्ट कर दी और भारत में उनकी आगे प्रगति रुक गयी। क्योंकि जव उन्होंने देखा कि एक ऐसे शत्रु को परास्त करना ही इतना कठिन सिद्ध हुआ जो केवल वीस हज़ार पैदल और दो हज़ार अश्वा-रोही युद्ध-क्षेत्र में उतार सका था, तो उन्होंने सिकंदर की गंगा पार चलने की योजना का विरोध किया। उन्होंने सुन रखा था कि गंगा वत्तीस फर्लांग चौड़ी और सौ पुरुष गहरी है और इस किनारे पर असंख्य शत्रु एकत्र हैं। उन्होंने सुना था कि

वहां गंगारिडन और प्रेसिअन (प्राच्य, पूर्वीय) लोग ८०,००० घोड़ों, २,००,००० पैदल सेना, ८,००० शस्त्रसज्जित रथों और ६,००० लड़ाकू हाथियों के साथ उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। और यह केवल उन्हें डराने के लिए दी गयी निराधार सूचना मात्र न थी, क्योंकि सेंड्रोकोहोस (चन्द्रगुप्त मौर्य) ने, जिसने कुछ ही समय वाद वहाँ राज्य किया, एक साथ ५०० हाथी सिल्यूकस (सिकंदर का सेनापति जिसने नेता की मृत्यु के वाद उसके पूर्वी विजित प्रदेशों का भार सम्भाला) को भेंट किए थे और ६,००,००० सेना लेकर सारे भारत को अपने वश में कर लिया था।

इस वर्णन में गंगा की गहराई के कथन में अवश्य अतिरंजना है, पर वर्षा ऋतु में वाढ़ आने पर उसकी चौड़ाई मीलों में ही नापी जा सकती है। और चूंकि यमुना और गंगा उस समय पूरी पूर्वी घाटी में भारी यातायात की मुख्य वाहिकाएँ थीं, जिन पर एक प्रसारशील और सशक्त साम्राज्य का नियंत्रण था, इसलिए इन नदियों की रक्षा का प्रबंध, कबीलाई प्रतिद्वन्द्विताओं से विभाजित पंजाव की किसी भी नदी की अपेक्षा, कहीं अधिक सुदृढ़ रहा होगा। पोरस के साथ युद्ध एक ऐसे बुद्धिमान सेनापति के लिए—वह चाहे जितना महत्त्वाकांक्षी क्यों न हो—अंतिम कटु शिक्षा थी, जिकेस बागी सैनिकों का लड़ाई से जी भर चुका था। सिकंदर ने सिंधु के भारतीय किनारे पर पोरस के शासन में एक नया प्रांत बनाया। हिमालय के देवदारु का एक वेड़ा बनाकर सिंधु में डाला गया और यूनानी सेना विस्मृत सिंधु सभ्यता के प्राचीन व्यापार मार्ग से वापस हुई। रास्ते-भर कबीलाई सेनाओं से लड़ाई होती रही और कबीलों के दुर्गों को वहुत रक्तपात के बाद ही हराया जा सका। झुँझलाया हुआ विजेता अपनी थकी हुई सेना को ईरान से वावेरू तक के भयंकर तट से ले गया और आधे से अधिक रेगिस्तान में ही जान से हाथ धो वैठे। वावेरू में बेहद शराबखोरी और मलेरिया ने इतिहास के एक विलक्षण सैनिक जीवन का अंत कर दिया; पर सिकंदर का नाम उसके छोटे-से घूमकेतु जैसे जीवन में ही अनुश्रुति और रोमेंस के अमर व्यक्तियों में शामिल हो चुका था।

इस आक्रमण पर—बल्कि छापे पर, क्योंकि वह इतना अल्पकालिक था कि उसे और कुछ नहीं कहा जा सकता—भारतीय परंपरा में बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया, यद्यपि विदेशी इतिहासकारों का एक वर्ग आज भी उसे प्राचीन भारत के इतिहास की सबसे महान घटना के रूप में प्रस्तुत करता है। इसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तात्कालिक और अप्रत्याशित उपफल यह हुआ कि मौर्यों द्वारा सम्पूर्ण देश की विजय जल्दी संभव हो सकी। मगध सेना को पश्चिमी पंजाव को परास्त करने का, छोटे-से-छोटे जनपद के लिए भी घनघोर युद्ध करके प्रत्येक अदम्य कबीले को और हराने का, काम नहीं करना पड़ा। यह जटिल बाधा मकदूनी आक्रमण से— बिक्री अथवा

कठोर सैनिक श्रम के लिए युद्ध से दास ले जाने की यूनानी प्रथा द्वारा, अधिकांशतः नष्ट हो चुकी थी। पश्चिमी पंजाब का गोधन हमलावरों के लिए लूट का माल और आहार था; इस क्षति से छापे के वाद भी कवीलाई और पशुचारी जीवन कठिन हो गया। सिकंदर की वापसी के कोई पाँच वर्ष के भीतर ही पोरस अपने नये प्रांतीय अधिपतित्व से हटाया गया और विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया; ऋग्वेदीय पुरु कवीला अंतिम रूप से इतिहास से मिट गया। चंद्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला समेत पूरे पंजाब पर अधिकार कर लिया; भीतरी अफगानिस्तान में वाकी गांधार को ई० पू० ३०५ के आसपास थोड़ी और लड़ाई के वाद सिल्यूकस निकेटर से छीन लिया गया। सिल्यूकस और विजयी मौर्य के वीच एक वैवाहिक सम्बन्ध हुआ वताया जाता है, जिससे प्लूटार्क द्वारा ५०० हाथियों की भेंट का कारण स्पष्ट हो जाता है। सिल्यूकस को इस वात की तो पूरी छूट थी कि वह उन सेनापतियों के विरुद्ध युद्ध करता रहे जिन्होंने सिकंदर द्वारा विजित प्रदेश आपस में वांट लिये थे; पर उसके वाद भारत में किसी तरह के हस्तक्षेप का विचार त्याग देना आवश्यक था। भारत के वारे में जिन यूनानी विवरणों के यहाँ बीच-बीच में उद्धरण दिए गये हैं, वे अधिकांशतः पाटलीपुत्र (पटना) की राजसभा में सिल्यूकस के राजदूत मैगास्थनीज़ के लिखे हुए हैं। पर इस दूत के विवरणों के टुकड़े अन्य रचनाओं में उद्धरणों के रूप में ही वच सके, मूल का कोई अवशेष नहीं है। कहा जाता है कि सिल्यूकस की एक पुत्री का चंद्रगुप्त के वेटे विन्दुसार से विवाह हुआ था। यह असंभव नहीं है, यद्यपि इसके विरुद्ध दो आपत्तियाँ उठाई गयी हैं, अर्थात् यूनानी वैवाहिक नियम और भारतीय जाति व्यवस्था। मकदूनी निश्चित रूप से यूनान में सीमावर्ती प्रदेश में रहने वाले असंस्कृत लोग थे जो एथेन्स जैसे नगर राज्यों के आम यूनानी कानून नहीं मानते थे। स्वयं सिकदंर ने दो ईरानी राजकुमारियों से विवाह करके उदाहरण प्रस्तुत कर दिया था। जाति संवंधी नियमों का मगध राजाओं के लिए कोई महत्त्व न था, और मौर्यों के लिए तो और भी कम, जो आर्यकरण के वावजूद, आदिवासी अथवा मिश्रित वंश के थे। मौर्य नाम (पाली, मोरिय) ही मोर के टोटेम का सूचक है और वैदिक आर्य नहीं हो सकता। अशोक की प्रथम रानी साँची या भिलसा (विदिशा) के पास के एक व्यापारी की पुत्री थी। (वैश्य पुष्यगुप्त, जो कुछ दिनों गिरनार का प्रशासन चलाता था, अशोक का 'राष्ट्रीय' था, जिसका अनुवाद 'साला' होना चाहिये, 'राष्ट्र के करों का संग्रहकर्ता' नहीं जैसा अन्य लोगों ने किया है)। यह वहुत संभव है कि अशोक की कोई एक विमाता मकदूनी अथवा ईरानी-यूनानी रही हो; पर इसकी संभावना नहीं है कि स्वयं उसकी मां एक यवन स्त्री थी।

चंद्रगुप्त और वाद में उसके पुत्र विंदुसार की सेनाओं ने, जहाँ तक भू-भाग ने

रोका नहीं वहां तक, सारे देश को रौंद डाला। मैसूर के पठार के छोर पर वाइनाड के जंगल और कुर्ग ने उन्हें रोका जान पड़ता है। दक्षिणापथ व्यापार के बावजूद अधिकांश दक्षिणी प्रायद्वीप अभी तक अविकसित था। मैसूर के ब्रह्मगिरि स्थान में प्रागैतिहासिक महापाषाण अब भी खड़े किये जाते थे, बल्कि मौर्य आधिपत्य के बाद उनका आकार बढ़ गया, जिसका यही अर्थ हो सकता है कि स्थानीय जातियों ने लोहा मिलने के कारण खेतिहर जीवन की नवीनता को तुरन्त स्वीकार नहीं किया। केरल की 'टोपी-कल', टोपी जैसी, पाषाण समाधियां मैसूर के महापाषाणों से कुछ बाद की हैं, जिसका अर्थ है कि मौर्यो को ठेठ दक्षिण में विजय के योग्य कुछ नहीं मिला। प्रायद्वीप के चारों ओर जलपथ से परिक्रमा इसके बहुत पहले हो चुकी थी; सोपारा (संभवत: बाइबिल का ओफिर) और भड़ौच के (भारुकच्छ; यूनानी बैरीगाज़ा) के बंदरगाह तथा उनका मूल्यवान समुद्रपार का व्यापार मगध के नियंत्रण में थे। इसके कारण पटना एक अंतर्राष्ट्रीय बंदरगाह बन गया था। ताँबे का खनन दक्षिण-पूर्वी बिहार में व्यापक रूप से विकसित हुआ; इस धातु का व्यापार ताँबे के बन्दरगाह तामलुक से होता था। निस्संदेह बर्मा और इंडोनेशिया के द्वीपों से भी समुद्री व्यापार था, पर उसकी मात्रा ज्ञात नहीं। चीनी रेशम, जो (बल्ख के समूर) स्थल मार्ग से आता था, उसी प्रकार मगध के व्यापार में शामिल था, जिस प्रकार भूमध्य सागर का मूँगा, जो सिकंदरिया होकर आयात होता था और जिसकी बड़ी माँग रहती थी। आसाम की चाँदी पहले ही निकाली जाने लगी थी, क्योंकि पश्चिम से उसका जितना आयात होता था वह सिक्कों की बहुत बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिए पर्याप्त न था। दूसरी ओर बंगाल के उन्हीं थोड़े-से टुकड़ों को साफ करके खेती में लगाया जा सका था जिन तक नदी द्वारा पहुँचना संभव था। उड़ीसा (कलिंग) को जब ई० पू० २७० के लगभग चंद्रगुप्त के पौत्र अशोक ने एक विनाशकारी भीषण युद्ध के बाद जीता, तो वह बस तभी विजय के उपयुक्त हुआ था, उसका कोई राज्य तब तक नहीं बन सका था।

यह निश्चित रूप से एक मिला-जुला साम्राज्य था जिसकी प्रजा में पाषाण युग की वन्य जातियों से लगाकर ऐसे लोग तक थे जिन्होंने अरस्तू के मूल प्रवचनों को सुना और समझा था। प्रशासनिक सुविधा के लिए कम-से-कम दो उप-राजधानियाँ, तक्षशिला और उज्जैन, बनायी गयीं जहाँ राजवंश के राजकुमार राज प्रतिनिधि के रूप में शासन करते थे। अशोक अपने पिता बिंदुसार के काल में तक्षशिला में राज-प्रतिनिधि था जहाँ उसने एक जन-विद्रोह का दमन किया था। उस प्रदेश ने भाषा विज्ञान के क्षेत्र के विशिष्ट व्यक्ति, संस्कृत वैयाकरण पाणिनि को उत्पन्न किया था, पर शीघ्र ही सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में उसकी प्रमुखता समाप्त हो गयी।

तक्षशिला के सबसे महत्त्वाकांक्षी बुद्धिजीवी स्वभावत: राजधानी पटना जा वसते थे। कुछ समय के लिए व्यापार में भी कमी हुई; यद्यपि उस मामले में तक्षशिला का सबसे गौरवपूर्ण काल भविष्य में कुषाणों के राज्य में होने वाला था। लाभ के सबसे अधिक अवसर दक्षिणापथ में थे; वहां सोना और लोहा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था, यद्यपि चाँदी और ताँबे की कुछ कमी थी। वहाँ व्यापारियों और भिक्षुओं ने, जो सेनाओं से बहुत पहले पहुँच चुके थे, वस्तु-विनिमय और अछूती धरती पर खेती के प्रथम व्यापक विकास को बढ़ावा देना शुरू कर दिया था। कार्ले के विशाल चैत्य में जो काष्ठकर्म है उसका काल रेडियो कार्वन पद्धति से २८० ई० पू० निकलता, है, जबकि मठ के पहले-पहले कक्ष, जो अव गिर चुके हैं, उससे भी सौ वर्ष पहले पत्थर काटकर वनाये गये होंगे। भिक्षुओं के इस आश्रम के साथ ही पास के एक गाँव में, जिसे उस समय धेनुकाकट कहते थे, बौद्ध-यूनानी व्यापारियों की एक बस्ती थी। अशोक के बौद्ध धर्म-प्रचारकों में अफ़गानिस्तान से परे का एक यूनानी भी था जिसका नाम था धर्मरक्षित। ऐसी घटनाएँ विरल नहीं थीं, यह वात विभिन्न बौद्ध गुफामठों में खुदी हुई स्फ़िक्स की बहुत-सी मूर्तियों से प्रकट है। इनमें सवसे ज्ञान-वर्धक कार्ले में एक खम्भे पर खुदी हुई मूर्ति है जिसे किसी धेनुकाकट यूनानी ने भेंट किया था और जो स्पष्ट ही सिकंदरिया से आयी हुई किसी प्रतिमा या चित्र की अनुकृति है। इसकी निरंतरता ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ में एक परवर्ती यूनानी आक्रमणकारी मिनेन्डर ने वनाये रखी। सिकंदरिया में जन्म होने के बावजूद, उसने बौद्ध प्रचारकों को प्रोत्साहन दिया और अपने सिक्कों पर अपने आप को 'धम्मक' और 'दिकैओस' घोषित किया; पाली और यूनानी भाषाओं के इन दोनों ही शब्दों का अर्थ है 'न्यायकारी'। एक परवर्ती पाली ग्रंथ 'राजा मिनेन्डर के प्रश्न' (मिलिंदपन्हो) ने तो उसे अमर ही कर दिया है। इसमें बौद्ध सिद्धान्तों के बारे में बड़ी समझदारी के संवाद हैं। उसके नाम का भारतीय रूप, मिलिन्द, ईसा की दूसरी शताब्दी में धेनुकाकट के एक चिकित्सक का भी नाम था जिसने कार्ले में एक स्तम्भ भी भेंट किया है; आज भी भारत में यह नाम कहीं-कहीं लड़कों को दिया जाता है। इससे भारतीय और यूनानी संस्कृतियों के बीच पारस्परिक प्रभाव के प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है।

पूरे देश की तर्कसंगत सीमा तक विजय और व्यापक सांस्कृतिक प्रवेश का काम ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ तक पूरा हो चुका था। अव हम उन कठोर राजनैतिक सिद्धांतों पर विचार कर सकते हैं जिनका इस लक्ष्य को प्राप्त करने में बाक़ायदा सहारा लिया गया।

मगध का शासनतन्त्र

गांगेय प्रदेश के राजाओं ने छठी शताब्दी के धर्मोपदेशकों की बातें भले ही बड़ी सहानुभूति और सराहना के साथ सुनी हों, पर इससे अजातुशत्रु द्वारा अपने पिता की हत्या में कोई रुकावट नहीं पड़ी। इसी प्रकार चक्रवर्ती के लिए हितकारी परामर्श कि उसे सबके लिए रोज़गार का प्रबन्ध करना चाहिए, किसान के लिए गोधन और बीज तथा व्यापारी के लिए पूँजी जुटाना चाहिए, ईसा पूर्व पाँचवीं और चौथी शताब्दियों में वर्धमान मगध राज्य के वास्तविक व्यवहार से बहुत दूर था। यहां उस पाठ्यपुस्तक का विश्लेषण आवश्यक है जिस पर यह राजकीय नीति आधारित थी। ए० बी० कीथ ने इस ग्रंथ के बारे में लिखा है : 'यदि अफ़लातून के **गणतन्त्र** या अरस्तू के 'राजनीति' के मुकाबले अथवा एथेन्स के संविधान पर पुस्तिका के लेखक की, जिसे पहले जेनोफ़ौन की रचना समझा जाता था, सहजबुद्धि और व्यावहारिक समझदारी की तुलना में भी भारतीय उपलब्धि केवल यही ग्रंथ है तो यह सचमुच बहुत निराशाजनक है। किन्तु यह कोरा मिथ्याभिमान और निरा अप्रासंगिक कथन भर है। अरस्तू के राजसी शिष्य सिकन्दर ने स्टैजिरा निवासी विद्वान गुरू के राजनैतिक विचारों को कार्यान्वित नहीं किया। अथीनी जनतन्त्र अपने संविधान की समस्त तथाकथित व्यावहारिक समझदारी के बावजूद, ठीक अफ़लातून के घनिष्ठतम मित्रों के कारण ही, अत्यन्त अल्प अवधि में ही असफल हो गया। **संवादों** में सुकरात के शिष्यों और प्रशंसकों के रूप में निकिअस, अल्कि बिआडीस, कृतिअस जैसे उच्चवर्गीय लोगों के नाम बार-बार आते हैं, पर इन लोगों ने सुकरात के आदर्श गणतन्त्र की स्थापना के लिए कुछ भी नहीं किया। इसके विपरीत, जिस भारतीय राज्य का हम वर्णन कर आये हैं वह तुच्छ और आदिम आरम्भ से लगाकर अपने अभिप्रेत चरम आकार तक किसी भी रुकावट के बिना बढ़ता गया। यूनानियों की रचनाएँ पढ़ने में बहुत उत्कृष्ट लगती हैं; पर भारतीय ग्रंथ अपने देश-काल के लिए व्यवहार में कहीं अधिक कार्यकारी था।

राज्य-नीति और संचालन के बारे में जानकारी का मुख्य स्रोत **अर्थशास्त्र** है; यह संस्कृत ग्रन्थ शताब्दियों तक विस्मृत रहने के बाद १९०५ में फिर से प्रकाश में आया। इसका रचयिता चाणक्य अथवा कौटिल्य ई० पू० चौथी शताब्दी में चंद्रगुप्त मौर्य का ब्राह्मण मंत्री था। कहा जाता है कि उसकी भी शिक्षा-दीक्षा तक्षशिला में ही हुई थी। परवर्ती अनुश्रुति और प्रेमाख्यान में वह कुचक्र के उग्र आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हो गया जिसने चंद्रगुप्त को दृढ़तापूर्वक मगध के सिंहासन पर स्थापित किया। चौथी ईसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखे गये विशाखदत्त के संस्कृत नाटक **मुद्राराक्षस** में एक जटिल षड्यंत्र के स्पष्ट ही काल्पनिक और असंभाव्य विवरण दिये गये हैं,

जिनके अनुसार वधित राजा नंद के सर्वश्रेष्ठ मंत्रियों को चंद्रगुप्त के नये शासन का समर्थक वना लिया गया। नाटक में चंद्रगुप्त मौर्य का चरित्र अत्यधिक दब्बू दिखाया गया है। चाणक्य के ग्रन्थ में राज्य का जो चित्र मिलता है वह किसी भी अन्य युग की ज्ञात परिस्थितियों से इतना भिन्न है कि अर्थशास्त्र की प्रामाणिकता संदिग्ध समझी जाती थी। यद्यपि वाद में विस्तृत वाद-विवाद से ये संदेह दूर हो गये, फिर भी दो वातों पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है। लेखक ने मौर्य साम्राज्य के शासन का विवरण नहीं दिया है, वल्कि राज्य के सिद्धांतों और नियमों का विवेचन किया है: यह ग्रन्थ प्राचीन आचार्यों की शासनतंत्र विपयक विविध कृतियों के संग्रह के वाद सम्पूर्ण पृथ्वी (पर प्रभुत्व) प्राप्त करने और उसे वनाये रखने के उद्देश्य से लिखा गया है। दूसरे, जिस रूप में यह ग्रंथ आज हमें उपलव्ध है उसमें मूल का पंचमांश से लगाकर एक-चौथाई भाग तक नष्ट हो चुका है। कोई एक पूरा खंड नष्ट नहीं हुआ; पर प्रतिलिपि करने में पाठ के प्रत्येक भाग में से छोटे-छोटे अंश निकल गये हैं। परवर्ती काल में राज्य और सेना का स्वरूप इतना वदल गया कि ग्रन्थ में वर्णित प्रशासकीय और सैनिक कार्यकलाप प्रासंगिक नहीं रहा। वहुत-से पारिभाषिक शब्दों का अर्थ तक समझ में न आता था। सैनिक संगठन और कार्यनीति-विषयक खंडों में सवसे अधिक क्षति हुई है। मगध की विशाल स्थायी सेना, जिसमें परिचरों, सैनिकों और अधिकारियों को नियमित नक़द वेतन दिया जाता था, ई० पू० दूसरी शताब्दी के वाद समाप्त हो गयी। परवर्ती युग की सामरिक टुकड़ियाँ भी सर्वथा भिन्न प्रकार की थीं।

ग्रंथ के शीर्षक **अर्थशास्त्र** का अर्थ है 'आर्थिक लाभ का शास्त्र'—व्यक्ति के लिए नहीं, एक विशेष प्रकार के राज्य के लिए। लक्ष्य सदा दर्पण की तरह स्पष्ट था। उसे प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त साधनों का औचित्य सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं। कहीं नैतिकता अथवा परोपकार का कोई ढोंग नहीं है। उपाय चाहे जितने वीभत्स और कपटपूर्ण हों, जिन कठिनाइयों का विवेचन किया गया है वे सव व्यावहारिक हैं, जिनमें व्यय और संभाव्य उत्तर-प्रभावों पर उचित ध्यान भी शामिल है। दूसरी ओर, नागरिक के लिए कठोरतम नियमों की व्यवस्था थी, जिनका इतना अच्छा पालन प्राचीन भारतीय इतिहास के किसी युग में नहीं हुआ। ये दोमुखे मानक वाद में **अर्थशास्त्र** के अप्रचलन के औपचारिक कारण वने, यद्यपि प्रमुख शास्त्रज्ञ ईसा की वारहवीं शताब्दी तक उसके दो-टूक तर्कों और अनगढ़ गद्य के लिए उसे पढ़ते रहे। यह ग्रन्थ शव्दाडम्वर और सत्याभासी तर्कपद्धति के सर्वथा अभाव के कारण समस्त भारतीय साहित्य में वेजोड़ है। वाद में उसकी उपेक्षा का असली कारण एक सर्वथा भिन्न समाज का (जो मगध शासनतंत्र की सफलता के फलस्वरूप ही वना) निर्माण

था जिसमें वे उपाय अब व्यावहारिक नहीं रहे थे।

हर राज्य का कोई-न-कोई वर्ग-आधार होता है। **ब्राह्मणों** में वर्णित कबीलाई राज्य और उसके अति-विकसित कर्मकांड का आधार वे क्षत्रिय सगोत्रीय समूह थे जो वैश्यों और शूद्रों को वश में रखने के लिए और अन्य कबीलों से युद्ध करने के लिए अपने राजा का समर्थन करते थे। मध्य युग में परवर्ती सामंती राज्यों का आधार वह शक्तिशाली भूस्वामी वर्ग था जो कर वसूल करता था, सेना के लिए अश्वारोही और अधिकारी जुटाता था, और जो प्रत्यक्ष व्यक्तिगत स्वामिभक्ति की ऐसी सुदृढ़ शृंखला से परस्पर संबद्ध था जो परिचर को सामंत से, दास को स्वामी से, सामंत को राजा से बाँधे रखती थी। जिस समय **अर्थशास्त्र** के सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ, उस समय आर्य पशु-पालक कबीलों को, यद्यपि भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व के आंतरिक दबाव के कारण एक-दूसरे से क्रमशः विच्छिन्न हो रहे थे, समाप्त करने का काम अभी बाकी था। विशाल आदिम जंगलों की सफाई अभी होनी थी; उनसे ढँकी हुई भूमि स्वभावतः व्यक्तिगत स्वामित्व से मुक्त थी। कौटिल्य का राज्य आज इतना विचित्र इसलिए लगता है क्योंकि भूमि की सफाई का काम मुख्यतः उसी के हाथ में था, वही सबसे बड़ा भूस्वामी और भारी उद्योगों का मुख्य स्वामी था, और वही वस्तुओं का सबसे बड़ा उत्पादक भी था। शासक वर्ग को यदि स्वयं राज्य ने ही राज्य के लिए ही बनाया न था, तो कम-से-कम प्रशासन के अंग रूप में उसको बहुत बढ़ाया तो था ही : उच्च और निम्न अधिकारी-तंत्र, सभी जातियों और विविध मूल के अफ़सरों सहित (ई० पू० ३०० तक) कोई पाँच लाख की विशाल स्थायी सेना; और इन दोनों के समान ही महत्त्वपूर्ण भेदियों और गुप्तचरों की दूसरी पर छिपी हुई सेना—नये राज्य के मुख्य आधार ये ही थे। यह स्वयं **अर्थशास्त्र** से ही स्पष्ट है कि अधिकारी-तंत्र के दोनों वर्ग संख्या की दृष्टि से बहुत बड़े थे। यूनानी विवरणों से पता चलता है कि उनकी जातियाँ बन गयी थीं जो जातिमूलक समाज में अनिवार्य है। अधिकारियों की ये दो जातियाँ मगध साम्राज्य के बाद जीवित न रहीं। किंतु कुछ शताब्दियों बाद कायस्थ जाति भी इसी प्रकार उन विभिन्न तत्त्वों से बनी जो राज्य में लेखकों और अभिलेखपालों का काम करते थे।

अर्थशास्त्र में बड़े विशाल और सार्वभौम पैमाने पर गुप्तचरों और भड़काने वालों के निरंतर प्रयोग का समर्थन किया गया है। प्रत्येक कार्य का एकमात्र उद्देश्य था राज्य की सुरक्षा और लाभ। संपूर्ण ग्रंथ में नैतिकता के अमूर्त प्रश्नों को न तो कहीं उठाया गया है, न उन पर विचार किया गया है। हत्या, विष-प्रयोग, मिथ्या-आरोप, आंतरिक विद्रोह का उपयोग राजा के गुप्तचर आवश्यकता पड़ने पर क़ायदे से और बेझिझक कर सकते थे। साथ ही क़ानून और व्यवस्था का सामान्य तंत्र जन-

साधारण के लिए अधिक-से-अधिक चौकसी और कठोरता के साथ कार्यशील रहता था। ऐसे राज्य का दृढ़ आधार अपना प्रशासन ही हो सकता था—और उस पर भी गुप्तचरों की सहायता से बड़ी सावधानी से कड़ी नज़र रखना आवश्यक था। भ्रष्टाचारी राजकर्मचारियों से सावधान रहने के सारे उपाय गिनाने के बाद, चाणक्य बड़ी उदासी से यह स्वीकार करता है कि कर्मचारी द्वारा राजस्व हज़म करने का पता लगाना उतना ही कठिन है जितना यह बताना कि तैरती हुई मछली कितना पानी पी गयी। अर्थशास्त्र का राज्य ऐसे समाज का सूचक नहीं है जिसमें कोई नया वर्ग राजतंत्र पर कब्ज़ा करने के पहले ही वास्तविक सत्ता पर अधिकार पा गया हो।

यहाँ चीन और भारत के विकास में एक महत्त्वपूर्ण अंतर पर ध्यान देना उपयोगी होगा। प्रथम चीनी सम्राट् चिन सी ह्वांग-ती (ई० पू० २२१) का मंत्री एक व्यापारी था। बाद में व्यापारी वर्ग की स्थिति कुछ गिरा दी गयी, पर तब भी वह अपने उन सदस्यों के माध्यम से कुछ वास्तविक अधिकारों का उपयोग करता रहा जो नियमित परीक्षा व्यवस्था के माध्यम से चीनी नागरिक सेवा में प्रवेश करते थे। भारतीय गहपति—किसान—व्यापारी वर्ग का, जिसने नये गांगेय राज्य को जन्म दिया, मंत्रि-परिषदों में प्रतिनिधित्व नहीं होता था, यद्यपि प्रारंभिक श्रेष्ठियों को अपने धन के कारण महत्त्व मिलता था जो उनके सामंती वंशजों को प्राप्त नहीं हुआ।

राज्य का सर्वोच्च प्रधान, प्रतीक और प्रतिनिधि राजा था। उस समय राजा होने के लिए असाधारण गुणों की आवश्यकता होती थी। दिन और रात का प्रत्येक क्षण शासक के विभिन्न प्रशासकीय कर्त्तव्यों के लिए उपयुक्त काल-खंडों में बँटा रहता था : सार्वजनिक विवरणों और गुप्त विवरणों को सुनना; मंत्रि-परिषद, राजकोष और सेना के प्रधानों से परामर्श करना। विश्राम, निद्रा, भोजन, मनोरंजन अथवा रनिवास के आनंद के लिए अवकाश समय-सारिणी और कार्यक्रम द्वारा कठोरतापूर्वक सीमित रहता था। 'प्राच्य विलास में डूबे रहना' तो दूर, अर्थशास्त्र का राजा अपने राज्य में सबसे अधिक कार्य-व्यस्त व्यक्ति होता था। प्रत्येक राजा इस वेग को सहन नहीं कर पाता था, विशेषकर इसलिए भी कि विष और हत्यारे की कटार के विरुद्ध हर समय बड़ी भारी चौकसी बरतनी पड़ती थी। फलस्वरूप होने वाली महलों की क्रांतियों और राजवंशों के परिवर्तनों की आहत-मुद्रा में आकस्मिक परिवर्तन द्वारा पुष्टि होती है। अजातशत्रु का वंश दो पीढ़ियों में किसी जन-विद्रोह द्वारा पदच्युत हो गया। नये राजा सुसुनाग (संस्कृत शिशुनाग) ने अपने नये सिक्के जारी करने के साथ-साथ चालू सिक्कों पर भी फिर से चिह्न बनाये। उसके उत्तराधिकारियों ने आहत-मुद्रा के बड़े युग का प्रारंभ किया। तक्षशिला के संचयों के आधार पर निष्कर्ष निकालें तो, उसके बाद से मगध के व्यापार और मुद्रा का समस्त उत्तरापथ पर प्रभुत्व रहा। एक परवर्ती

शांतिपूर्ण परिवर्तन से, जिसमें सिक्कों पर वही 'प्रभुता चक्र' बना रहा, नंदों या नंदिनों के एक गौण पर संबंधित राजवंश का शासन हुआ। उनकी समृद्धि बाद में सदा एक कहावत बनी रही। इस समय तक, बुद्ध की मृत्यु के लगभग सौ वर्ष बाद, राजधानी अंततः पटना में स्थानांतरित हो चुकी थी, जो संसार का सबसे बड़ा नगर हो गया और एक या दो शताब्दी तक बना रहा। तब एक उद्धत किंतु योग्य व्यक्ति ने, जिसका नाम संभवतया महापद्म नंद था, बिना रक्तपात सिंहासन हथिया लिया। महापद्म के अंतिम पुत्र की हत्या से सिंहासन चंद्रगुप्त मौर्य को मिला।

सिंहासन के लिए संघर्ष को चाणक्य राजा के धंधे का गौण संकट मानता था। नैतिकता अथवा पुत्रोचित भक्ति का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। उसने एक पूर्ववर्ती की सूक्ति उद्धृत की है : 'केंकड़ों की भाँति राजा भी पितृभक्षी होते हैं'। अर्थशास्त्र में पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न मतामतों पर निष्पक्ष भाव से विचार किया गया है : राजकुमार के प्रशिक्षण के उपाय, असामयिक महत्त्वकांक्षा के लिए उसकी परीक्षा, उसके छिपे दुर्गुणों और आशाओं का गुप्त रूप से पता लगाना, और आवश्यकता पड़ने पर उसे रोकना। अगले ही अध्याय में 'अपरुद्ध' युवराज को सलाह दी गयी है कि सिंहासन जल्दी हथियाने के सरल उपायों के विरुद्ध अपने पिता की सतर्कता को कैसे व्यर्थ किया जा सकता है। इस सबमें न तो नाम दिये गये हैं न कोई निश्चित ऐतिहासिक उदाहरण ही। पर संदर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपरुद्ध राजकुमार अब, प्राचीन युग के छोटे कबीलाई राज्यों की भाँति, केवल अपरुद्ध ही नहीं होता था। पूर्णराजसत्ता के उदय और नये राज्यों के प्रदेशों में विस्तार के कारण यह आवश्यक हो गया था कि अपरुद्ध व्यक्ति को अब, रोमन कानून की भाँति, किसी-न-किसी प्रकार से पदावनत किया जाय या समस्त नागरिक अधिकार छीनकर उसेनिर्वासित कर दिया जाय।

राजवंशों के किसी परिवर्तन का मगध के निरंतर प्रसार पर तनिक भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। किसी गृहयुद्ध से राज्य की वाह्य अथवा आंतरिक नीतियों में कोई व्याघात नहीं हुआ; और न अर्थशास्त्र राजमहल में होने वाली किसी घटना से ऐसे किसी व्याघात की कल्पना ही करता है। राज्य इतने सुदृढ़ रूप में सुसंगठित था कि इसकी संभावना ही न थी। अर्थशास्त्र के ग्यारहवें अध्याय में (जो संभवतः प्रतिलिपि करने में छोटा हो गया है। इस बात का विवेचन है कि आहार-संग्रहकों के जिन स्वतंत्र शक्तिशाली सशस्त्र कबीलों ने अभी तक निरंकुश राज्यों का रूप धारण नहीं किया उन्हें विधिवत् तोड़ने के लिए कौन से उपाय अपनाने चाहिये। इसकी मुख्य पद्धति यही थी कि उन्हें इतना पोला कर दिया जाय कि वे भीतर से ही विघटित हो जायें, लोगों को व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति पर आधारित वर्ग समाज का सदस्य बना दिया जाय। इस भाँति क़बीले के नेताओं और सबसे सक्रिय लोगों को नकद घूस देकर,

कड़ी-से-कड़ी शराब अधिकाधिक मात्रा में जुटाकर, अथवा उनके निजी लाभ को बढ़ावा देकर भ्रष्ट किया जाता था। उनमें फूट डालने के लिए भेदियों, गुप्तचरों, ब्राह्मणों, ज्योतिषियों, उच्चवंशीय लगने वाली स्त्रियों, नर्तकों, गायकों, अभिनेताओं और वेश्याओं की सहायता ली जाती थी। कबीले के वरिष्ठ सदस्यों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता कि वे कबीले के भोज में निचले लोगों के साथ बैठकर न खायें या उनके साथ विवाह-संबंध न स्थापित करें; दूसरी ओर निचले लोगों को सम्मिलित भोज और पारस्परिक विवाह संबंध के लिए भड़काया जाता। कबीले के भीतर मान्य पद-मर्यादा को हर प्रकार के भीतरी उकसावे द्वारा तोड़ने की कोशिश की जाती। राजा के गुप्तचर तरुण लोगों को, जिन्हें कबीले की भूमि और आमदनी में गौण भाग देने की प्रथा थी, इस बँटवारे पर आपत्ति करने के लिए उकसाते। घात लगाकर या विष देकर हत्या, कबीले के लोगों की हत्या (जिसका आरोप कबीले में मृत व्यक्ति के ज्ञात प्रतिद्वन्द्वियों पर लगाया जाता) और शत्रु द्वारा मुखियाओं को घूस दिये जाने की अफ़वाहों से भी खुल्लमखुल्ला संघर्ष में सहायता मिलती। तब **अर्थशास्त्र** के अनुसार चलने वाले राज्य का शासक सशस्त्र सेना लेकर प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करता। कबीले के टुकड़े कर दिये जाते, कबीले के लोगों को देशनिकाला देकर सुदूर स्थानों में दस-दस, पाँच-पाँच परिवारों के समूहों में बसाया जाता, जिससे वे एक-दूसरे से इतने दूर रहें कि लड़ाई के समय मिलकर सैन्य-संचालन को विफल न कर सकें। ग्रंथ में जिन कबीलों के नाम लिये गये हैं, वे दो प्रकार के बताये गये हैं: एक तो जैसे कम्बोज और सुराष्ट्र क्षत्रिय जो शस्त्र भी धारण करते हैं और खेती तथा व्यापार भी; और दूसरे वे जो केवल क्षत्रिय योद्धओं के रूप में जीवनयापन करते हैं (कोई नीचा काम करना जिन्हें गवारा नहीं) जैसे, लिच्छवि, वृजि, मल्ल, मद्र, कुकुर, कुरु, पांचाल आदि। लिच्छवियों और वज्जियों को कबीले के रूप में अजातशत्रु पहले ही निस्तेज कर चुका था, पर वे पूरी तरह मिटाये नहीं गये थे। नेपाल में कुछ शिलालेखों से पता चलता है कि उनका नाम लगभग एक हज़ार वर्ष तक अवशेष रहा। ईसा की चौथी शताब्दी में गुप्त राजा चंद्रगुप्त प्रथम अपने अभिजात होने के प्रमाणस्वरूप लिच्छवि राजकुमारी कुमार देवी से विवाह करने का गर्व करता था। ब्राह्मण पुराणों में एक कटुताभरी पंक्ति में शोक प्रकट किया गया है कि मगध सम्राट् महापद्मनंद ने क्षत्रियों का नाम-निशान मिटा दिया, उसके बाद कोई क्षत्रिय कहाने योग्य न बचा। यह इशारा केवल कुरुओं, पांचालों और पूर्वी पंजाब के नव-वैदिक कबीलों की ओर ही हो सकता है जिनके बारे में बाद में अनुश्रुति और काव्य के बाहर कहीं कोई उल्लेख नहीं रहा। बाकी काम अधिकतर सिकन्दर ने किया। मद्र और कम्बोज कबीलों का मगध राज्य से सीधा सम्पर्क स्वयं चाणक्य के

समय तक नहीं हुआ था, पर सीमावर्ती प्रदेश तक्षशिला का ब्राह्मण होने के कारण चाणक्य ने उन्हें समीप से देखा होगा। इस भाँति अर्थशास्त्र ऐसे सिद्धांतों को अद्यतन

चित्र ११. मौर्यों के पहले अन्तिम महान् राजा महापद्मनन्द की चाँदी की आहत मुद्राएँ। लगभग ३५ ई० पू० के आसपास, उसे स्वतंत्र 'आर्य' कबीलों के, जिनमें सम्भवतः कुरुदेशी भी शामिल हैं, अन्तिम विनाश का श्रेय दिया जाता है।

करके उनका सारांश प्रस्तुत करता है जो बहुत पहले से स्वीकृत थे और सचमुच व्यवहार होने वाली पद्धतियों पर आधारित थे—जैसे अजातशत्रु के ब्राह्मण मंत्री वस्सकार द्वारा प्राचीन लिच्छवियों के विरुद्ध प्रयुक्त उपाय। यद्यपि मौर्य सेना इतनी बड़ी और अजेय थी कि वह किसी भी विरोधी को युद्ध-क्षेत्र में धराशायी कर सकती थी, फिर भी प्रारंभिक मगध राजा समझते थे कि चौकसी बरतने से कम धन-जन से काम निकल जाता है। बाकी ऐसे यायावर पशुचालक कबीले बचे रहे जिनका कहीं भूमि पर स्थायी दखल न था, जो न खेती में लगे थे और न इतने शस्त्र-सज्जित थे कि उनसे कोई सैनिक संकट हो। मेगास्थनीज़ ने लिखा है कि ई० पू० तीसरी शताब्दी में भारतीय निवासियों के सात प्रमुख वर्गों में एक वर्ग इन पशुचारियों का भी था। अर्थशास्त्र के कुछ उपाय, जिनमें कड़ी शराब और विष का प्रयोग शामिल है, अमरीका में स्थानीय आदिवासियों के विरुद्ध भी ठीक उन्हीं कारणों से अपनाये गये जिनके लिए प्राचीन मगध में उनका प्रयोग होता था।

भूमि का प्रबन्ध

अर्थशास्त्र उन लोगों को विचित्र और अयथार्थ जान पड़ेगा जो भारतीय देहात को उसके परवर्ती रूप में ही देख पाते हैं। उस समय प्रशासन का घटक जनपद था जिसे आज की भाषा में ज़िला कहा जा सकता है। 'जनपद' का मूल अर्थ 'जन (कबीले) का स्थान' अब प्रासंगिक नहीं रहा था। कबीलाई अधिवासी प्रायः एक अधिक व्यापक किसान समुदाय में घुल-मिल चुके थे। ज़िले एक-दूसरे को छूते न थे, बल्कि उनके बीच में बड़े-बड़े जंगल पड़ते थे जिनमें केवल आहार-संग्रहक आटविक वन्य जातियों के लोग रहते थे। एक ही जनपद के गाँवों के मध्यवर्ती जंगलों से ईंधन, इमारती लकड़ी, सूखी घास, शिकार, खाद्य पदार्थ प्राप्त होते थे, और वे चरागाह का काम भी देते थे, पर साधारणतः उनमें खतरनाक मनुष्यों का निवास अब नहीं रहा

था। प्रत्येक जनपद की सीमा की, चाहे वन्य जातियों के चाहे विदेशी हमलावरों के, आक्रमण से रक्षा के लिए बड़ा प्रबन्ध था। वन्य जातियों के इरादों और गतिविधियों का पता साधारणतः आश्रमवासियों के वेश में रहने वाले विशेष गुप्तचरों द्वारा लगाया जाता था; यदि ये वन्य जातियाँ अधिक शक्तिशाली, किन्तु आहार-उत्पादन अपनाने में समर्थ होतीं तो उन्हें पूर्ववर्ती खंड में बताये गये उपायों द्वारा विघटित किया जा सकता था। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी तक विभिन्न जनपदों के बीच की ये असम्बद्ध सीमाएँ अन्य राज्यों के साथ सीमाओं के समान ही महत्त्वपूर्ण थीं। जनपदों के बीच जाने वाले व्यापारी सार्थों को प्रवेश और निवेश पर चुंगी देनी पड़ती थी। जनपद की सीमा पार करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मुहर लगा हुआ सरकारी आज्ञा-पत्र दिखाना पड़ता था जो उपयुक्त कारणों से ही भारी शुल्क चुकाने पर मिलता था। जनपद का प्रशासन चलाने वाले उच्च मंत्री और स्थानीय अधिकारियों की समितियाँ उस जनपद की ही होती थीं। कभी सर्वोच्च प्रधान कोई ऐसा व्यक्ति भी हो जाता था जो अजनबी जान पड़े, जैसे चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन में ईरानी तुषास्प; पर बाद में द्रुतगति से भारतीयकृत विदेशियों की एक लम्बी पंक्ति गिरनार में ऐसे ही पद पर नियुक्त रही, क्योंकि शायद उस क्षेत्र में ईरानियों की एक शक्तिशाली बस्ती थी।

यही प्रशासन व्यवस्था हर जनपद में थी। सर्वोच्च अधिकारियों को राजा के मंत्री का पद मिला होता था; उनसे नीचे के अधिकारी समितियों में बैठते थे (बहु-मुख्याः; यूनानियों द्वारा उल्लेखित)। सर्वोच्च पदों के लिए नियत व्यक्तियों को बड़ी सावधानी से चुना जाता था और उनकी बुद्धिमत्ता, ईमानदारी, साहस, स्वामिभक्ति आदि गुणों के लिए, और धन, स्त्री, व्यसन, महत्त्वाकांक्षा आदि दुर्बलताओं के लिए, गुप्त भड़काने वालों द्वारा प्रस्तुत प्रलोभनों के आधार पर, परीक्षा ली जाती थी। प्रत्येक के विशेष गुणों और दुर्बलताओं का अलग ब्यौरा रखा जाता था। प्रत्येक अधिकारी के समस्त कार्यकाल भर उस पर नज़र रखी जाती थी। धनी, पश्चात्तापी अथवा साधारण नागरिक के वेश में गुप्तचर जनमत का पता लगाते रहते थे, और आवश्यकता पड़ने पर उसे बदलने में सहायता भी करते थे। यह कुछ आधुनिक देशों में जनमत गणना और समाचार-पत्रों में सम्पादकीय अभियानों का ही एवज़ी उपाय था। निचला अधिकारी-तंत्र प्रत्येक गाँव के, अथवा नगर में प्रत्येक पथ-समूह के, पंजीयक तक फैला हुआ था। ऐसे प्रत्येक 'रक्षक' (गोप) को अपनी पंजिका के प्रत्येक व्यक्ति के जन्म, मृत्यु और बाहर आने-जाने का पूरा ब्यौरा रखना पड़ता था। आगन्तुकों और अतिथियों की, इक्का-दुक्का यात्रियों और व्यापारियों की, अथवा किसी व्यक्ति के अचानक अत्यन्त धनी हो जाने की या उसकी संदेहजनक गतिविधियों की तुरन्त सूचना देना और उस पर कड़ी नज़र रखना आवश्यक था। प्रत्येक व्यापारी सार्थ में

गुप्तचर होते थे। राजा सर्वज्ञ था; राजा के गुप्तचरों की नज़र से कोई बात छिपी न रह सकती थी। महत्त्व अथवा हित का प्रत्येक समाचार तुरन्त मुख्य कार्यालय को संदेशवाहक अथवा पत्रवाहक कबूतर द्वारा भेज दिया जाता था और उसी प्रकार सम्बद्ध अधिकारियों को आदेश भी भेजे जाते थे।

जनपद की भूमि की दो सुस्पष्ट कोटियाँ थीं : राष्ट्र को कर देने वाली, और सीधे राज्य के निरीक्षण में बसायी और जोती जाने वाली 'सीता' भूमि। पहली कोटि की भूमि पुरानी आर्य बस्तियों में से विकसित हुई थी। साधारणतः उनका अपना छोटा मुख्य निवास का शहर होता था, जिसे आस-पास के खेतों से आवश्यक उपज प्राप्त होती थी। यहाँ प्रशासन तब तक परम्परानुसार चलने दिया जाता था जब तक उसकी किसी प्रथा के कारण सम्राट् की सत्ता को कोई आँच न आये। इन राष्ट्र भूमियों में ही वे 'स्वतंत्र नगर' थे जिनका यूनानियों ने उल्लेख किया है, पर उन्होंने इन्हें अरस्तू के उन 'स्वतंत्र राज्यों' के समान ही समझा, जहाँ जनता की अनुमति से कुलीन लोग शासन चलाते थे। इनमें से कुछ मौर्य आधिपत्य के अंतर्गत केन्द्रीय राजकोष के मुद्राचिह्न के साथ अपने सिक्के भी जारी करते थे; इन पर शाही सिक्कों के प्रभुसत्तासूचक प्रतीक चक्र की बजाय कोई छोटी-सी मानवीय आकृति या ढाल और बाण इत्यादि अंकित होते थे। राष्ट्र के कर भी पुरानी परम्परा के आधार पर लगाये जाते थे, यद्यपि उन्हें वसूल अब राजा का विशेष मंत्री करता था। कुछ गाँव

चित्र १२. 'कबीलाई' चाँदी के सिक्के। इनके बनाने वालों का कोई प्रत्यक्ष राजा न था—यद्यपि वे सेल्यूकस निकेटोर को पराजित करने वाले द्वितीय मौर्य सम्राट् बिन्दुसार के चरम आधिपत्य में थे। ऐसे सिक्के मेगास्थनीज़ द्वारा उल्लेखित भारतीय 'स्वतन्त्र नगरों' के अस्तित्व के अनुरूप हैं।

केवल योग्यतानुपाती सामूहिक कर देते थे, और हर व्यक्ति का अलग-अलग अंश गाँववासी आपस में तै कर लेते थे। मुख्य निर्धारण फ़सल का छठा हिस्सा था। 'सेना के भोजन के लिए' कर कबीलों के उस योगदान का सूचक था जिससे पहले स्थानीय सेना का पालन किया जाता था; कबीलाई यज्ञ के समय राजा को दिये जाने वाले पारम्परिक उपहारों से 'बलि' का विकास हुआ; कुछ कर पुत्र-जन्म अथवा सार्वजनिक सभा आदि के अवसरों पर मुखिया को दी जाने वाली भेंट से निकले। कबीलों के मुखियाओं और (ऐच्छिक किन्तु अभ्यासयुक्त) सेना का अब प्रायः लोप हो चुका था; फिर भी नया राज्य पुराने सभी करों को वसूल करता था। राज्य उद्यानों

पर भी कर लेता था और एक नाम मात्र का कर पशुओं द्वारा फ़सल को कल्पित क्षति के हरजाने के तौर पर भी लिया जाता था; राज्य के खर्च पर निर्मित जल सम्बन्धी निर्माण-कार्यों (बाँधों, नहरों, जलाशयों) के लिए एक उपकर लिया जाता था। इनमें से कुछ करों की शिलालेखों द्वारा भी पुष्टि होती है—अशोक ने लुम्मिनी गाँव को बलि से मुक्त कर दिया और फ़सल के छठे भाग को आठवाँ भाग कर दिया ('क्योंकि यहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था')। व्यक्तिगत उपहार इत्यादि सामन्ती युग में सामन्ती विशेषाधिकारों के रूप में या तो फिर से प्रकट हुए या पहले से ही चलते चले आये।

'सीता' भूमियों की परिस्थिति बिल्कुल भिन्न थी। खेती होने वाले क्षेत्र में इनका अनुपात शीघ्र ही इतना अधिक हो गया है कि यूनानी पर्यटकों को लगा (जो क्रमशः उजाड़ होते हुए उत्तरापथ के स्थल-मार्ग की बजाय गंगा के रास्ते पटना पहुँचे होंगे) कि सारी भूमि पर भारतीय राजा का अधिकार है। अर्थशास्त्र का राजा बंजर भूमियों को सीधे बसाने में बड़े ज़ोर-शोर से सहायता देता था, चाहे वे भूमियाँ पहले साफ़ हो चुकने के बाद फिर से जंगल हो गयी हों, अथवा पहली बार साफ़ की जाने वाली अकृष्टपूर्व भूमियाँ हों। उनको आबाद करने वाले लोग या तो जनपद के बाहर के लोग होते थे जिन्हें बसने के लिए विशेष प्रलोभन दिए जाते थे, अथवा शूद्र परिवार होते थे, जो राजा के अपने अधिकार-क्षेत्र से, चाहे नगरों की भीड़-भड़क्के वाली गंदी बस्तियों से अथवा अत्यधिक आबादी वाले गाँवों से, ज़बर्दस्ती लाकर बसाये जाते थे, हम यह भी जानते हैं कि कुछ लोग नव-विजित प्रदेशों से भी ज़बर्दस्ती लाकर बसाये जाते थे, क्योंकि सुनिश्चित क्रियापद 'अपवह' का प्रयोग अशोक ने अपने कलिंग अभियान के वर्णन में ही किया है। किन्तु ये गाँववासी कृतिदास या कृषिदास नहीं, बल्कि स्वतंत्र अधिवासी होते थे—उनके केवल ऐसे कार्यों पर प्रतिबंध रहते थे जिनसे आर्थिक क्षति का भय हो। ये नये गाँव एक-दूसरे से लगभग तीन मील दूर बसाये जाते थे और उनके बीच की सीमाएँ स्पष्टतः निर्धारित रहती थीं, भले ही सारी भूमि साफ़ हुई हो अथवा न हुई हो। एक गाँव की आबादी १०० से ५०० शूद्र कर्षक परिवारों की होती थी और उनका समूहन इस प्रकार किया जाता था कि गाँव एक-दूसरे की रक्षा कर सकें। प्रत्येक १०, २००, ४००, ८०० गाँवों के लिए प्रशासकीय मुख्यालय होता था जिसके साथ संभवतः सैनिक टुकड़ी भी रहती थी। संभव है कि शिशुपाल गढ़ इसी प्रकार के नगर के रूप में स्थापित हुआ हो; अर्थशास्त्र से तुलना द्वारा ब्यौरे की जाँच होनी बाकी है, पर उसका पुरातत्त्वीय काल ईसापूर्व तीसरी शताब्दी है।

प्रत्येक राज-ग्राम की भूमि जोतने वाले को केवल उसकी ज़िन्दगी के लिए दी जाती थी। यदि स्वयं उसने ही उस भूमि को साफ़ करके आबाद किया हो तो वह

किसी दूसरे को नहीं दी जाती थी और खेती ठीक से होती रही तो उसके उत्तराधिकारियों को ही मिल जाती थी। पाने वाला अपनी जोत को विशेष अनुमति के बिना और किसी को न दे सकता था, जोतने में लापरवाही होने से खेत किसी दूसरे को दिये जाने की संभावना रहती थी। भूमि की सफ़ाई और आबादी हाल ही में हुई हो तो अथवा विपत्ति के समय, 'सीता' करों से छूट मिल सकती थी। अन्यथा वे 'राष्ट्र' भूमि की अपेक्षा कहीं अधिक भारी थे—कम-से-कम फ़सल का पाँचवाँ हिस्सा और यदि भूमि की सिंचाई राज्य करता हो तो एक-तिहाई तक। इमारती लकड़ी, जंगल की पैदावार, मछली, शिकार और हाथी राज्य के लिए आरक्षित थे। हाथियों के जंगलों की सफ़ाई नहीं की जाती थी, हाथी की हत्या के लिए मृत्युदंड मिलता था। हाथी सेना के लिए अपरिहार्य था, केवल युद्ध में ही नहीं, भारी यातायात पुलों के निर्माण तथा अन्य संबंधित कार्यों के लिए भी; इसके अतिरिक्त उसका प्रतिष्ठासूचक मूल्य तो था ही। सरकारी अधिकारी, पशुचिकित्सक और वैद्य, सरकारी संदेशवाहक तथा ऐसे ही व्यक्तियों को उनकी सेवा के काल में 'सीता' भूमि की एक जोत दी जा सकती थी; पर उनका कोई स्वामित्व न होता था और वे उसे बंधक भी न रख सकते थे। जिस भूमि पर बहुत दिनों से खेती हो रही हो वह यदि खाली हो जाये तो उस पर (जनपद विशेष के लिए नियुक्त) राज-भूमियों का मंत्री स्वयं भाड़े के मज़दूरों और दंड-दासों की सहायता से खेती कराता था; दंड-दास इस प्रकार अपना दंड या जुर्माना भरपाई कर पाते थे। बड़े पैमाने पर अलग से दास मज़दूर नहीं होते थे; किन्तु दंड-दास नियत अवधि के लिए बेचे जा सकते थे। अकर्षित भूमियाँ भी अध-बटाई पर आमतौर पर उन लोगों को दी जा सकती थीं जिनके पास अपने शारीरिक श्रम के अतिरिक्त देने को और कुछ न होता था। फ़सल के बाद बीज का अनाज काट लिया जाता था और राज्य के हिस्से का अनाज जोतने वाले के परिवार की स्त्रियों को पीसना पड़ता था। स्पष्ट है कि राज्य के प्रतिनिधि एसी स्थिति में बैलों और औज़ारों की भी व्यवस्था करते थे। प्रसंगत: यह अध-बटाई व्यवस्था सामंती युग में और उसके बाद भी, बिहार में प्रचलित रही और अँग्रेज़ों ने भी जहाँ इसका रिवाज था वहाँ उसे ज़मींदार के विशेषाधिकार के रूप में स्वीकार किया। इस पद्धति के चलते रहने से भी कुछ लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसे लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते कि मौर्यकाल में या उससे पहले राज्य और किसान के बीच में कोई सामंती बिचौलिए नहीं थे। 'सीता' भूमियों में केवल सैनिकों अथवा भूतपूर्व सैनिकों को ही रियायत दी जाती थी, और अगर वे पाँचवाँ भाग भी राज्य को न दे पाते तो उन्हें और भी आसान शर्तों पर भूमि मिल जाती थी। ऐसे लोगों के साथ सामंती युग में भी रियायत की जाती रही, और उन्होंने अंततः सेना के लिए रंग-

लूट जुटाने वाले एक विशेष वर्ग का ही रूप ले लिया।

अनाथों, वृद्धों, पंगुओं, विधवाओं तथा उन गर्भवती स्त्रियों की देख-भाल राजा करता था जिनकी देख-भाल करनेवाला कोई और न हो। इस तरह का संरक्षण पिता द्वारा अपने बच्चों के भरणपोषण की अपेक्षा मालिक द्वारा अपने पशु-धन की देख-भाल के अधिक समीप था। 'सीता' गाँवों में किसी भी प्रकार की सभा की अनुमति न थी। केवल सजात समूह को, अथवा आवश्यक सार्वजनिक निर्माण-कार्यों (बाँधों, नहरों, नालियों इत्यादि) के लिए इसकी छूट थी। अनिवार्य सामुदायिक श्रम के नियत समय पर जो भी श्रम या बैल नहीं देता था उस पर जुर्माना होता था। अन्यथा किसी प्रकार के मजदूरों के संगठनों अथवा व्यापार श्रेणियों को नये धर्मोपदेशकों और प्रचारकों को राज-ग्राम में प्रवेश की अनुमति न थी; अधिक-से-अधिक कोई अकेला अ-प्रचारक तपस्वी गाँव में होकर निकल सकता था। (यही कारण है कि बौद्ध और जैन कथाओं में किसी 'सीता' गाँव का उल्लेख नहीं मिलता। बुद्ध और महावीर 'राष्ट्र' अथवा कबीलों द्वारा अधिकृत भूमि के युग में हुए थे; उनके अनुयाइयों का ठीक उन दो मध्यवर्ती अशोक-पूर्व शताब्दियों में राज-भूमियों में प्रवेश वर्जित रहा जब राज्य द्वारा सीधे उपयोग की व्यवस्था तीव्रता से शिखर पर पहुँच गयी)। 'सीता' ग्राम के निवासी को पहले अपने आश्रितों की व्यवस्था, और अपनी सारी सम्पत्ति का वितरण, किये बिना परिव्राजक बनने की अनुमति न थी। स्त्री तो तपस्वी का जीवन ग्रहण ही न कर सकती थी। कोई किसान कर-दाता गाँव को छोड़कर कर-मुक्त गाँव में जाकर न बस सकता था, चाहे वह गाँव राष्ट्र प्रकार का हो अथवा ब्राह्मणों को अध्ययन और निर्वाह के लिए दी गयी कर-मुक्त बंजर भूमि में (बहुत···थोड़े) विशेष उपवनों में से एक हो। किसी चारण, नर्तक, भाँड, गाथा-गायक, भ्रमणशील गायक अथवा किसी भी प्रकार के तमाशा दिखाने वाले का किसी भी राज-ग्राम में प्रवेश वर्जित था। वास्तव में गाँव में ऐसी कोई इमारत ही न बनायी जा सकती थी जो सार्वजनिक सभा या खेल-तमाशे आदि के काम आ सके। चाणक्य कहता है: 'ग्रामों की असहायता से और ग्रामवासियों के एकांत-भाव से अपने खेतों में लगे रहने से ही राजस्व में, बेगारी मज़दूरों (विष्टि) में, अनाज, तेल और अन्य द्रव वस्तुओं में, वृद्धि पक्की होती है।' चौथी शताब्दी के यूनानी पर्यवेक्षकों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता था कि कहीं पास ही में दो सेनाओं में घनघोर युद्ध होता दिखाई पड़ने पर भी ये किसान उससे उदासीन अपने खेतों में काम करते रहते थे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि युद्ध के नियम सर्वथा निरस्त्र शूद्र किसान को व्यक्तिगत निरापदता प्रदान करते थे, और किसी भी पक्ष की विजय से उसके जीवन में कोई अंतर पड़ने की संभावना न थी। इसको भी परिवर्तनहीन पूर्व की एक विशेषता माना गया है।

वास्तव में प्रारंभिक राज्य-नीति ने ग्रामीण जीवन की इस जड़ता का जान-बूझकर पोषण किया था। न केवल यह उदासीन ग्राम उसे रचने वाले राज्य के मिटने के बाद भी बचा रहा, बल्कि उस राज्य को नष्ट किया और देश के ऊपर एक अमिट छाप छोड़ी।

राज्य भूमि साफ़ करने का एकमात्र माध्यम न था। कोई भी समूह अपने-आप जंगल में पहुँच सकता था। ऐसे समूह आमतौर पर श्रेणी के रूप में संगठित होते थे जिनका अस्थायी अथवा स्थायी धंधा भूमि साफ़ करना होता था। यदि वे निश्चित 'राष्ट्र' या 'सीता' क्षेत्रों में होते तो तदनुरूप कर उन पर लगते थे। अन्यथा वे, कम-से-कम कुछ समय के लिए, किसी भी जनपद की निरंतर वर्धमान सीमाओं के बाहर, और इसलिए किसी भी राजा के अधिकार-क्षेत्र से परे, होते थे। ऐसी स्थिति में उन्हें ही जंगल में रहने वाली बर्बर जातियों (आटविकों) को शस्त्रबल से, या सीधे बात-चीत द्वारा, दूर रखना पड़ता था। दोनों ही उपाय संभव थे, क्योंकि श्रेणियाँ साधारणतः व्यापार तो करती ही थीं, अक्सर सामान बनाने का काम भी करती थीं। साथ ही वे सैनिक अभियान के समय भाड़े पर सैनिक टुकड़ियाँ भी भेजती थीं। इस बात का केवल अनुमान ही किया जा सकता है कि उन्होंने आटविकों को किस हद तक विकास के लिए प्रेरित किया; पर **अर्थशास्त्र** में भी आटविकों को भेदिये के और सहायक सैनिक सेवा के काम के लिए उपयोग करने के चलन का उल्लेख है, जिसने अवश्य ही भविष्य में उनकी सभ्यतामुखी प्रगति पर प्रभाव डाला होगा।

अर्थशास्त्र में पड़ोसी राज्यों के ऊपर चढ़ाई के लिए हर प्रकार की तिकड़मों का उल्लेख है : अंतर्राष्ट्रीय गठबंधन, युद्ध, विष-प्रयोग, विद्रोह, आंतरिक उपद्रव। संधियाँ, जो कभी मौखिक होने पर भी पवित्र मानी जाती थीं, सुविधानुसार और किसी भी अन्य कारण के बिना ही तोड़ी जा सकती थीं। पर यहाँ आक्रमण का उद्देश्य प्रत्यक्ष ख़िराज न था; इतिहास बताता है कि अन्य स्थानों पर प्राचीन युग में आम उद्देश्य यही होता था। यहाँ तो पराजित राजा समझदार होने पर (अन्यथा वह जीवित न बच सकता) अपना सिंहासन बचा लेता था और अपने समस्त राजस्व और अधिकारियों को अविकल रख पाता था। विजेता केवल बंजर भूमि पर अधिकार का आग्रह करता था, जहाँ सफ़ाई, आबादी और खनन का काम विजेता की ओर से हो सके। संभव होने पर यह अधिकार युद्ध के बिना ही, पड़ोसी राजा से केवल समझौते के द्वारा प्राप्त किया जाता था। पाँचवीं और चौथी शताब्दी में मगध ऐसा राज्य था जहाँ अर्थनीति को स्पष्टतः एक शास्त्र के रूप में माना गया। दूसरे लोग करों के लिए अपनी प्रजाओं का शोषण करते थे; **अर्थशास्त्र** का राजा राजकीय आय के अलग साधन तैयार करके इस स्थिति से बचता था। यूनानियों ने कहा है कि भारतीय,

अर्थात् पंजाब में रहने वाले, धातुकर्म और शिल्पविज्ञान बहुत कम जानते थे, और सिंचाई के रहट से भी परिचित न थे। तत्कालीन मगध के विषय में किसी विदेशी टिप्पणी में (जो अवशिष्ट नहीं है) ऐसी निन्दा नहीं हो सकती थी। अर्थशास्त्र के राज्य में खनन विद्या और सिंचाई के प्रत्येक रूप का विकास बहुत ही ऊँचे स्तर तक हो चुका था—ठीक इस कारण कि राज्य के सीधे अधिकार की 'सीता' भूमियों का उपयोग अधिकतम वित्तीय लाभ के लिए होता था।

मौर्यों के बाद, यद्यपि परिवर्तन का ठीक काल ज्ञात नहीं है, पारंपरिक मुख्य कर फसल का 'राजा का छठा भाग' था। 'राष्ट्र' और 'सीता' भूमियों के बीच भेद शीघ्र ही मिट गया। 'राष्ट्र' का अर्थ तो 'देश' या आधुनिक अर्थ में 'राष्ट्र' हो गया। राज्य को 'राष्ट्र' के पैमाने पर राजस्व प्राप्त होता रहा, चाहे किसान भूस्वामी से सीधे, अथवा बिचौलियों के एक नये वर्ग ज़मींदारों से। दूसरी स्थिति में पट्टेदार किसान को 'सीता' अथवा अध-बँटाई के हिसाब से कर देना पड़ता था, और जमींदार राज्य को उसका छठा भाग देकर बाकी स्वयं रख लेता था। इस प्रणाली की जड़ें मौर्य युग में ही थीं, किंतु परवर्ती राज्यतंत्र में इसका आधार मध्यवर्ती ज़मींदार वर्ग बन गया। इस वर्ग की रचना सब जगह एक-सी न थी, पर व्यवहार में उसके अधिकारों को स्पष्ट मान्यता प्राप्त थी और उसके ऊपर यह विशेष ज़िम्मेदारी थी कि उस राज्य को सहारा दे, जो बाहर से वही निरंकुश राजतंत्र दीखने पर भी वास्तव में अब स्वयं उसके अपने वर्ग का राज्य हो गया था।

राज्य और पण्य-उत्पादन

अर्थशास्त्र का राज्य एक अन्य विलक्षण बात में प्राचीन युग के, भारत में अथवा कहीं और, ज्ञात राज्य से भिन्न था : वह बड़े पैमाने पर पण्य-उत्पादन करता था। जैसा कि हम देख चुके हैं, राज्य की मुख्य आमदनी 'सीता' भूमियों से होती थी, जो एक-चौथाई अथवा इससे भी अधिक उपज राज्य के गोदामों में पहुँचाती थी। 'राष्ट्र' कर भी, यद्यपि वे कम होते थे, मुख्यतः उपज के रूप में ही वसूल किये जाते थे। अनाज को काम में लाने के लिए उसे कूटकर भूसी अलग करना और संभवतः पीसकर आटा बनाना आवश्यक था; तिल को पेलकर खाने के लिए तेल निकालना, कपास को धुनकर और कातकर सूत बनाना, सन को छाँट कर और सफाई करके कम्बल बनाना, इमारती लकड़ी को चीरकर, और एक सा करके तख्ते और कड़ियाँ तैयार करना इत्यादि, भी आवश्यक था। राज-भंडारों के अधीक्षक को यह सब राज्य के निरीक्षण, में अधिकांशतः खेती के काम से छुट्टी होने पर अवकाश के दिनों में लगाये गये स्थानीय मौसमी मज़दूरों (स्त्री-पुरुष दोनों) द्वारा, करवाना पड़ता

था, उन्हें भोजन के अतिरिक्त कुछ मासिक वेतन भी दिया जाता था। इन सभी कार्यों का ब्यौरा **अर्थशास्त्र** में दिया गया है, जिसमें कार्य की हर अवस्था में हर प्रकार की सामग्री की सामान्य छीजन, कुशल मज़दूरों की औसत उपज, अंत में तैयार माल का वज़न या माप, सभी कुछ क्रमपूर्वक दिया हुआ है, और ऐसा लगता है मानो शासन तंत्र के ग्रंथ के बजाय कारख़ाने में उत्पादन की नियमावली पढ़ रहे हों। हिसाब-किताब की जो पद्धति बतायी गयी है, उसे देखते हुए धोखा देना कठिन रहा होगा। अकुशल राजकर्मचारी पर उसकी लापरवाही से राजस्व में होने वाली क्षति के अनुपात में जुर्माना होता था, और जो चतुर कर्मचारी बजट से बाहर अतिरिक्त नये साधनों की तलाश करके, अथवा नयी बचत करके, अथवा काम के नये तरीके निकालकर, अनुमान से अधिक आय दिखाते थे, उन्हें पुरस्कृत भी किया जाता था। इसके अतिरिक्त, राज्य के भंडारघर बजट बनाने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण थे, और उनमें से प्रत्येक के पास एक वर्षा-मापक होता था जिसकी सहायता से राजस्व के अनुमान के लिए भूमि के वर्गीकरण में आसानी होती थी।

अंत में तैयार माल को बेच दिया जाता था। बहुत-सा भाग तो राज्य की अन्य शाखाओं, जैसे सेना, के लिए चला जाता था; पर यह हस्तान्तरण बिक्री द्वारा होता था जिसका पूरा हिसाब रखा जाता था। राज्य अपने सैनिकों को अच्छा वेतन देता था, पर मुहिम के समय राज्य के कर्मचारी व्यापारियों के वेश में सेना के शिविरों में दुगुने मूल्य पर सामान बेचकर, उसमें से अधिक-से-अधिक वापस वसूल कर लेते थे, और मुनाफ़े की रक़म राजकोष में जमा करा दी जाती थी। राज्य के हर कर्मचारी को वेतन नक़द मिलता था; वेतन की दरें बड़े विस्तार से दी हुई हैं और पढ़ने में बड़ी प्रभावी लगती हैं। सर्वोच्च वेतन ४८,००० पण वार्षिक था जो राजा के मुख्य पुरोहित, उच्च परामर्शदाता, पटरानी, राजमाता, युवराज और प्रधान सेनापति को दिया जाता था। न्यूनतम साठ पण वार्षिक था, जो नौकरों और कड़ी मेहनत का काम करने वालों को मिलता था, जिनकी शिविर में और राज्य के निर्माण-कार्य में बहुत अधिक आवश्यकता होती थी। इसे विष्टि कहते थे, और इसमें किसी हद तक ज़ोर-ज़बर्दस्ती भी होती थी, पर उसकी मज़दूरी अवश्य दी जाती थी, जबकि सामंती युग में इस शब्द का अर्थ हो गया ज़बर्दस्ती बिना मूल्य बेगार, जो राजा अथवा स्थानीय सामंत के आदेश पर, तथा कथित सार्वजनिक भलाई के लिए, किसानों और कारीगरों को करों के बदले में या अतिरिक्त देनी पड़ती थी। ऐसी बहुत-सी मज़दूरी ऊबड़-खाबड़ प्रदेश में सामान ढोने, सड़कें बनाने, सिंचाई की नहरें अथवा किलेबंदी की खाइयाँ खोदने, और बाँधों के लिए मिट्टी-पत्थर का ढेर लगाने के काम में होती थी। साठ चाँदी के टुकड़ों की दर से प्रकट होता है कि उन दिनों कठोर शारीरिक परिश्रम

के साथ वर्ष भर रोटी-कपड़े के लिए, और आश्रितों के थोड़े-बहुत पालन के लिए, कम-से-कम इतना आवश्यक होता था। (यह १७.५ ग्राम चाँदी प्रति मास के बराबर है और अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में अँग्रेज़ों की ईस्ट इंण्डिया कम्पनी भी भारतीय मज़दूर को कम-से-कम मज़दूरी इतनी ही देती थी।) बढ़ई और शिल्पकारों को राज्य १२० पण वार्षिक देता था। भारी शस्त्रों से सज्जित सैनिक पूरा प्रशिक्षण पाने के बाद ५०० पाता था; ये ही दरें राजसेवा में लगे लिपिकों और लेखाकारों के वेतनों की भी थीं (सेनापति, वरिष्ठ अधीक्षक, इत्यादि को, स्वभावतः, कहीं अधिक मिलता था)। कुशल खनिक और इंजीनियर को १००० पण वार्षिक मिलता था। इतना ही ऐसे योग्यतम गुप्तचर को भी मिलता था जो हर तरह का वेश बदलने में दक्ष हो; और उस गुप्तचर को भी जो असंदिग्ध ढंग से गृहस्थ, व्यापारी या धार्मिक व्यक्ति बनकर रहता था। यद्यपि इन गुप्तचरों को उस वर्ग के सभी सामान्य कार्य-कलाप करने पड़ते थे जिसका वेश उन्होंने ले रखा है, पर इसके लिए उन्हें कोई अतिरिक्त भत्ता न मिलता था इसलिए यह माना जा सकता है कि मगध गृहपति के रहन-सहन के सामान्य स्तर और शैली से भली-भाँति रहने के लिए कम-से-कम १००० पण वार्षिक आवश्यक था। निचले गुप्तचर—हत्यारे, साहसिक, विष प्रयोग करने वाले, भिखारिन-गुप्तचर (राजमहल से लगाकर साधारण गृहस्थ के यहाँ स्त्रियों के सभी कक्षों में अबाध प्रवेश करती थीं)—५०० पण वार्षिक पाते थे, और यही वेतन पंजीकार का था जो अपने जिम्मे के गाँव या गाँवों के बारे में सूचना भेजता था, राजकीय संदेशवाहकों को एक निश्चित दर से, दूरी के अनुसार वेतन मिलता था, और सुदूरगामी संदेशवाहकों की दर उससे दुगुनी थी। राजसेवा में विकलांग होने वालों के लिए, और सेवा काल में मरने वाले नौकरों और अधिकारियों के असहाय आश्रितों के लिए नियमित अनुवृत्ति या पेंशन की व्यवस्था थी। दीर्घकालीन सेवा के लिए चावल या अनाज के भत्ते या वस्त्र इत्यादि के उपहारों के रूप में विशेष पुरस्कार दिये जाते थे। ऐसी कोई वस्तु नहीं दी जाती थी जिससे राजस्व में स्थायी कटौती हो जाये। नकदी की कमी होने पर राजा अपने भंडार से चाहे जो वस्तु उपहार में दे सकता था, पर भूमि या पूरा गाँव नहीं। बिम्बिसार और पसेनदि द्वारा यज्ञों के पुरोहितों को दक्षिणा में ग्रामदान को देखते हुए चाणक्य जैसे ब्राह्मण मन्त्री के ये आदेश विचित्र लगते हैं; पसेनदि तो कभी-कभी राजकुमार या सैनिक अधिकारी को भी गाँव पुरस्कार में दे देता था। पर अर्थशास्त्र ऐसे वंशानुगत पुरस्कारों का तीव्र विरोध करता है, जो बाद में सामन्ती युग में आम हो गये। मगध राज्य का कर्मचारी अधिक-से-अधिक यह अपेक्षा कर सकता था कि उसे सीता भूमि का एक टुकड़ा उन्हीं शर्तों पर मिल जाय जिन पर दूसरों को दिया जाता था, यद्यपि प्रत्याशी राज्य की

सेवा में विकलांग या वृद्ध हुआ हो तो उसके लिए शर्तें कुछ हलकी हो सकती थीं; पर भूमि पर काम करना और नियमित कर चुकाना आवश्यक था।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि मगध राज्य नकदी की सुदृढ़ अर्थव्यवस्था के आधार पर चलता था। 'पण' अथवा 'कार्षापण' शब्दों से कुछ भ्रम उत्पन्न हुआ है, क्योंकि बाद में इनका अर्थ 'तांबे का सिक्का' हो गया। अर्थशास्त्र का पण चाँदी का होता था, जैसा कि स्वयं ग्रंथ के निर्देशों से, और उस युग की बहुसंख्यक पुरातात्विक प्राप्तियों से, प्रकट है। उस युग के ३:५ ग्राम मानक के चाँदी के सिक्कों के तो बहुत से संचय मिलते हैं, पर सोने का एक भी नहीं और ताँबे के बहुत कम। चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना के आकार को देखते हुए, सिक्कों की माँग बहुत बड़ी रही होगी, भले ही उसके शिविर का बड़ा अंश नौकरों, विष्टि या बेगारी मज़दूरों और परिचारकों का रहा हो। इस बात पर ज़ोर देना आवश्यक है कि अपने क्षेत्र में सारे खनन कार्य पर राज्य का नियन्त्रण था। यह बात खनक के ऊँचे वेतन से भी प्रकट है, जो पूर्वेक्षण से लगाकर शोधन तक सारे कामों का निर्देशन करता था। राज्य का एकाधिकार चाणक्य की इस सूक्ति से प्रकट है : 'राजकोप खनन पर आधारित है, सेना राजकोप पर, जिसके पास सेना और राजकोष हो वह सारी पृथ्वी को विजय कर सकता है।' यूनानी लोग भारी उद्योग के इस मूलभूत महत्त्व को भली भाँति समझ सकते थे, यद्यपि पंजाब के भारतीयों ने उसे नहीं समझा, और न शायद वर्तमान युग से पहले सामान्य भारतीय राजनीतिविदों ने। अर्थशास्त्र में धातुओं के अवकरण और गलाने के विषय में सूक्ष्म पर संक्षिप्त निर्देश तथा विभिन्न श्रेणियों के अन्तर दिये हुए हैं। कहीं यह ध्वनित नहीं है कि व्यवहार में आने वाले औजारों, बर्तनों और गहनों को राज्य बनाएगा, राज्य तो बड़ी मात्रा में व्यापारी, शिल्पी श्रेणियों, सुनारों और व्यक्तिगत निर्माताओं को धातु बेचता था। चाँदी के सिक्के भी हर व्यक्ति बना सकता था पर उन्हें टकसाल में ले जाना आवश्यक था जहाँ उनकी मिलावट और तौल की जाँच करने के बाद, यदि वे मानक के अनुरूप पाये जाते, उन पर समुचित आहत-चिह्न बना दिये जाते थे, इसके बाद वे सिक्के वैध मुद्रा हो जाते थे। जाली सिक्के बनाने के लिए कठोर दंड मिलता था। यह ज्ञात हो चुका है कि कपड़ा, बर्तन, टोकरियाँ अधिकांशतः निजी रूप में बनाये और बेचे जाते थे। तो फिर निजी पण्य-उत्पादकों और राज्य के बीच क्या सम्बन्ध थे ?

व्यापारी और दूकानदार राज्य से, अथवा अन्य किसी स्थान से, जो कुछ मिलता था उसे खरीद सकते थे। प्रत्येक किसान को अपनी अतिरिक्त उपज किसी भी खरीदार को बेचने या किसी उपयोगी वस्तु के साथ विनिमय करने की छूट थी। प्रत्येक जनपद में राजकीय भंडारघरों को न केवल अनाज तथा खाद्य पदार्थों का,

वल्कि रस्सी, इमारती लकड़ी, औजारों आदि का भी, आपत्काल के लिए स्थायी संग्रह रखना पड़ता था। अकाल, अग्निकांड, बाढ़ या महामारी, अथवा ऐसे ही किसी कारण से, असाधारण विपन्नता की स्थिति में, इन्हीं भंडारघरों से जनसाधारण को सहायता दी जाती थी। सावत्थी के निकट, प्राप्त एक तांबे की तख्ती के अभिलेख से और वोगरा में प्राप्त ऐसी ही किंतु टूटी हुई चूना-पत्थर की पटिया से न केवल ऐसे भंडारघरों का होना, वल्कि यह भी सिद्ध होता है कि संग्रह करने और सहायता देने के लिए ऐसे आदेश दिये जाते थे। इस आरक्षित संग्रह के अतिरिक्त सव-कुछ वेचा जा सकता था। दूकानदार की परेशानी खरीदने के वाद शुरू होती थी। एक कठोर नियम यह था कि 'व्यापारिक माल को (किसी निजी दूकानदार द्वारा) उसके उद्‌गम के स्थान पर नहीं वेचा जा सकता।' इसका मतलव है कि खरीदी गयी सामग्री को किसी-न-किसी रूप में तैयार करना और फिर आम तौर पर उसे कहीं दूर ले जाना आवश्यक था। व्यापारी को निर्माण द्वारा अथवा परिवहन द्वारा मूल्य में वृद्धि करनी पड़ती थी; माल और मुद्रा को संतोषजनक स्तर पर संचरित रखने में परिवहन का महत्त्व सवसे अधिक था। सारे वाँटों और मापकों की वीच-वीच में (आज्ञापत्र-शुल्क लेकर) जाँच होती थी और सारे माल का तथा उसके संग्रह का निरीक्षण किया जाता था। सार्थ को एक जनपद से दूसरे में जाने के लिए आटविकों से भरे जंगल पार करने पड़ते थे जिनसे रक्षा करने के लिए सार्थ शस्त्र ले जाते थे। पर अगले जनपद की सीमा पर पहुँचते ही शस्त्रों को राज्य के शस्त्रागार में जमा करना पड़ता था; कोई विशेप कारण होने पर समुचित शुल्क देने से शस्त्र न जमा करने के लिए विशेप आज्ञापत्त मिल सकता था। ऐसे आज्ञापत्त के विना किसी व्यक्ति को जनपद की सीमाओं के भीतर शस्त्र धारण करने की अनुमति न थी; सैनिक भी यदि सक्रिय रक्षा-कार्य के लिए नियुक्त न हो तो नगर में शस्त्र लेकर नहीं आ सकते थे। सार्थ को जनपद में प्रवेश और निकास के समय मार्ग-कर और सीमा-शुल्क देना पड़ता था। तस्करी और मूल्य की झूठी घोपणा न केवल ख़तरनाक वल्कि कठिन थी, क्योंकि सार्थ में कम-से-कम एक व्यापारी अवश्य उच्च गुप्तचर विभाग का भेदिया होता था जिसे सार्थ के लेन-देन का पता चल जाता। प्राय: सूचना अग्रिम भेज दी जाती थी जिसके कारण सीमा-रक्षकों का मुखिया औपचारिक घोषणा के पहले ही व्यापारियों को यह वताने की स्थिति में होता था कि सार्थ क्या माल लेकर आया है। वाहर से आया माल एक नियत सार्वजनिक वाज़ार में ऐसे दामों पर वेचना पड़ता था जिसमें अच्छे मुनाफे से अधिक कुछ भी संभव न था। विना विके माल को स्थानीय अधिकारी ऐसे मूल्य पर वेचने के लिए रख सकते थे जो वे प्राप्त, निश्चित सूचना के आधार पर समुचित समझें। व्यापारी-अपने आधुनिक सहधर्मी से भिन्न—आवश्यक वस्तुओं को कहीं और

वेहतर सौदे की उम्मीद में, अथवा ऊँचे दामों पर छिपाकर बेचने के उद्देश्य से रोककर नहीं रख सकता था।

निर्माता व्यापारी के ऊपर सबसे बड़ा प्रतिबंध शायद कुशल मज़दूरों के मिलने पर लगी हुई सीमा का था। कारीगर स्वतंत्र था और आम तौर पर शक्तिशाली श्रेणियों में संगठित था। स्वतंत्रतापूर्वक रहने वाले किसी शूद्र को दासता के लिए बेचा नहीं जा सकता था। यूनानियों को भारत में किसी प्रकार की दासता नहीं दीख पड़ी, ठीक उसी प्रकार जैसे भारतीय सोचते थे कि सीमा प्रांत में और यूनानी प्रदेशों में केवल आर्य और दास जातियों का भेद था। दंड-दासों का उल्लेख पहले किया गया है, साथ ही घरेलू दासों, मन बहलाने वालों तथा ऐसे ही अन्य क्रीतदासों का भी पूरा वर्ग था। पर उनमें से किसी को भी अपमानजनक या गंदा काम करने को नहीं कहा जा सकता था; ऐसे किसी दवाव का प्रयास वलात्कार अथवा क्रूरता के प्रयास की भाँति ही, तुरन्त मुक्ति का कारण बन जाता था। दास और स्वतन्त्र दोनों के बच्चे स्वतंत्र ही होते थे और उन्हें बेचा न जा सकता था। दास के पास कोई सम्पत्ति हो तो स्वामी उसे ले नहीं सकता था; आज़ादी खरीदने के लिए हर दास के श्रम का मूल्य उसके कानूनी मूल्य से ही लगाया जाता था। पैसा पाने वाले मजदूर एक बहुत ही न्यायसंगत अनुवंध कानून द्वारा सुरक्षित थे, यह कानून उन्हें और उनसे काम लेने वाले दोनों को बाँधता था। इसके अलावा वह सीमाहीन जंगल तो था ही जहाँ कोई भी साहसी व्यक्ति शरण पा सकता था। वहाँ आहार-संग्रह के सहारे निर्वाह करना सदा संभव था, और जो लोग आटविकों से निभा पाते थे वे अपने लिए जंगल का एक टुकड़ा खेती के लिए साफ कर लेते थे। इस टुकड़े पर तब तक राज्य को कोई कर देने की परेशानी भी न थी जब तक जनपद की सीमा ही वहाँ तक न पहुँच जाती। यद्यपि जब तक व्यापारी के हित राज्य के हितों से न टकराते तब तक वे पर्याप्त सुरक्षित थे, फिर भी राज्य का सामान्य दृष्टिकोण यह था कि व्यापारी स्वभाव से ही कपटी होता है, और यदि उसे समय-समय पर दंडित, नियंत्रित न किया जाये, तथा उस पर सावधानी से नज़र न रखी जाये, तो वह सार्वजनिक शत्रु हो जायेगा। ऐसे किसी दृष्टिकोण की कल्पना नहीं की जा सकती जो बौद्ध दृष्टिकोण से इससे अधिक भिन्न हो।

हर वस्तु का नक़द मूल्य जुर्माने की सूची में झलकता है; यह सूची **अर्थशास्त्र** के एक प्रामाणिक अनुवाद की अनुक्रमणिका के साढ़े नौ कालमों में समायी है और उसमें ऐसे अतिक्रमण भी शामिल हैं जो अन्यथा पाप या अनुचित व्यवहार की कोटि में आते। ब्राह्मण पुरोहित पर भी, अन्य किसी भी अनुबंध करने वाले पक्ष की भाँति ही अनुष्ठान पूरा कराने के लिए कानूनी बंधन था। किसी तपस्वी आश्रमवासी के पास

यदि किसी गौण अतिक्रमण के लिए जुर्माना देने लायक धन न होता तो उस पर जुर्माना राजा के लिए प्रार्थना के रूप में आँका जाता था । वेश्यावृत्ति न तो अपराध मानी जाती थी न पाप, बल्कि वह एक मंत्री के अंतर्गत राजकीय उद्योग थी। वेश्याओं के लिए नियम भी उतने ही सम्पूर्ण हैं जितने किसी अन्य माल या कम अजीव प्रकार की सेवाओं के लिए। एक सीमा तक धनार्जन के बाद वेश्याएँ निवृत्त होकर संभ्रांत बन सकती थीं, क्योंकि तब तक वह पेशा इतना असम्मानजनक न था जितना बाद में हो गया। पर राज्य का ऋण चुकाना आवश्यक था। वृद्ध गणिका राज्य की सेवा में स्वयं अधीक्षिका भी बन सकती थी। मद्य के लिए भी एक अलग मंत्रालय था जो उत्पादन से लगाकर बिक्री तक शराब की देखभाल करता था। समस्त द्यूतागार भी एक विशेष अधीक्षक के अंतर्गत राज्य द्वारा ही चलाये जाते थे। नागरिक जीवन के प्रत्येक कोने में नक़दी की अर्थव्यवस्था का प्रवेश इससे अधिक सार्थकता से दिखाना कठिन है। केवल एक बात याद रखनी चाहिए कि बहुसंख्यक जनसमुदाय मूक सीता गाँवों में रहता था, जहाँ उन्हें भूमि पर कड़े परिश्रम में लगाये रखने के लिए हर उपाय काम में लाया जाता था। वेश्याएँ, मदिरालय और द्यूतागार नगरों और क़स्बों की विशेष सुविधाएँ थीं, आम देहातों के लिए नहीं। जब हम कहते हैं कि मगध राज्य और उसका समाज हर चीज़ को उसके आर्थिक मूल्य से नापता था, तो यह कथन मुख्यतः नागर जीवन पर, सार्थ के व्यापारी और राज्य के कर्मचारी पर, लागू होता है, राज भूमि पर खेती के लिए लाए गये ग़रीब किसान पर नहीं।

असोक और मगध साम्राज्य का चरमोत्कर्ष

बिंदुसार के पुत्र और चंद्रगुप्त मौर्य के पौत्र असोक (संस्कृत : अशोक) ने साम्राज्य का सिंहासन लगभग २७० ई० पू० में सम्हाला। अभी तक पढ़े गये प्राचीनतम भारतीय शिलालेख वे ही हैं जिन पर असोक की राज्याज्ञाएँ खुदी हुई हैं। उसके जीवन के संबंध में जो कुछ बिखरे हुए तथ्य अर्ध-किंवदंती के रूप में प्राप्त हैं, वे इतिवृत्त की दृष्टि से बहुत संग्रहणीय नहीं हैं। यह माना जाता है कि असोक ने सिंहासन प्राप्त करने के लिए अपने सौतेले भाइयों की हत्या की और अपने छत्तीस वर्ष के शासनकाल में पहले आठ वर्ष तक निरंकुश क्रूरता के साथ राज्य किया। बंदियों को यंत्रणा देने के लिए जो 'पृथ्वी पर नरक' उसने विशेष रूप से बनवाया था, उसका स्थान पटना के निकट शताब्दियों बाद भी आगंतुकों को दिखाया जाता था। यह पार्थिव 'नरक' वास्तव में मगध के बंदीगृहों के सामान्य कठोर जीवन की ओर इंगित करता है, जहाँ असंदिग्ध अपराधी के उद्दंड अथवा विशेष हठी होने पर कठोर परिश्रम के साथ यंत्रणा का भी उपयोग होता था। यंत्रणा का उपयोग सामंती युग के प्रारम्भ

में बन्द हो गया था, पर बाद में फिर होने लगा। विभिन्न विवरणों में दो असोकों के बीच कुछ भ्रम भी प्रकट होता है। एक असोक ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में भी मगध का राजा था जिसका सिक्कों पर निशान प्रायः दो सौ वर्ष बाद के महान् असोक के सिक्कों पर निशानों जैसा ही है। दूसरे असोक के समय और उसके बाद भी दोनों प्रकार के सिक्के प्रचलित थे, इसलिए शिशुनाग राजा को स्वभावतः कालासोक अथवा 'प्राचीन असोक' कहा जाता था। मौर्य असोक अपने को पियदसि (प्रियदर्शी) देवानांप्रिय कहता था; यह दूसरी उपाधि आमतौर पर राजाओं के लिए थी पर इसमें दैवी अधिकार से राजत्व का कोई अर्थ निहित नहीं है, क्योंकि इस शब्द का व्यवहार निर्बोध या बुद्धू के अर्थ में होता था। राजाज्ञाओं का कर्तृत्व मस्की (मैसूर राज्य) और गुज़र्रा में उसी शैली के अन्य शिलालेखों के उपलब्ध होने पर निश्चित हो गया जिनमें पियदसि को असोक का नाम लेकर एक ही व्यक्ति बताया गया है। बौद्ध (संस्कृत, पाली और चीनी) अभिलेखों में यह नाम इसलिए अनुश्रुत होने पर भी अमर हो गया है, क्योंकि सम्राट् ने बौद्ध धर्म धारण किया और संघ को उदारता-पूर्वक दान दिया। इस महान् सम्राट् के सिक्के कुछ समय पूर्व ही अलग पहचाने जा सके क्योंकि उनपर कोई नाम अथवा विरुद नहीं, अन्य आहत सिक्कों की भाँति ही केवल प्रतीक हैं।
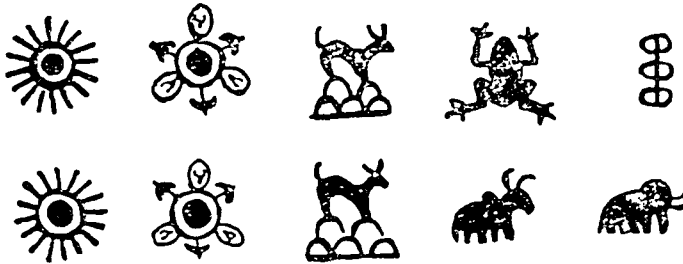
चित्र १३. चाँदी के शिशुनाग सिक्के। इनमें से ऊपर वाला कालासोक (लगभग ४२० ई०पू०) का है, क्योंकि पाँचवाँ चिह्न प्रायः मौर्य सम्राट् असोक के चिह्न जैसा ही है। पहले बने सभी सिक्के परवर्ती शासनों में भी चलते थे, यद्यपि परवर्ती राजा ने विजय द्वारा सिंहासन पर अधिकार किया हो तो वह पुराने सिक्कों पर अपने नये चिह्न भी आहत करवा देता था। इन दोनों में निचला सिक्का, जिस पर राजा के निजी चिह्न के रूप में नंदी अंकित है, मौर्य-पूर्व सिक्कों में सबसे अधिक प्रचलित प्रकार का है, और अत्यधिक समृद्धियुक्त दीर्घकालीन शासन का सूचक है। इस चिह्न से ही सम्भवतः समृद्धिशाली 'नन्द' राजा अथवा राजवंश की अनुश्रुति बनी।

राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद विनाशकारी कलिंग अभियान समाप्त होने पर स्वयं असोक आकस्मिक भाव परिवर्तन का ज़िक्र करता है। उस युद्ध में एक लाख व्यक्ति लड़ाई में मारे गये, इससे कई गुना युद्धजनित कारणों से मरे;
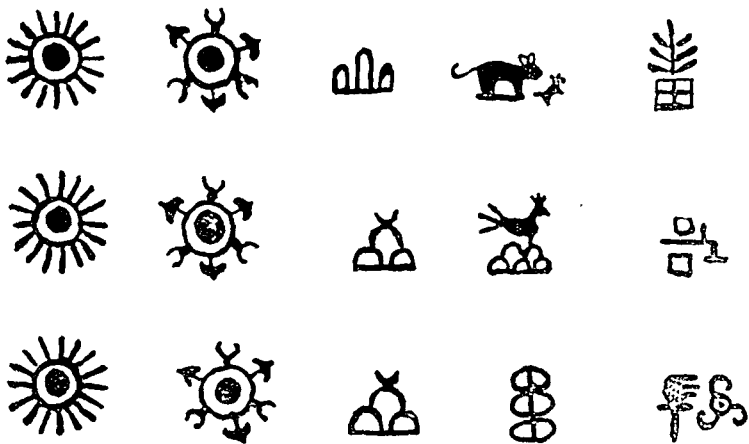
१४. प्रथम तीन मौर्य सम्राट, चन्द्रगुप्त, बिंदुसार और असोक के सिक्के। यहाँ प्रत्येक राजा का एक ही सिक्का दिखाया गया है। पर असोक ने कई दर्जन प्रकार के सिक्के जारी किये थे, क्योंकि उसके लंबे और शांतिपूर्ण शासनकाल में बहुत-सी टकसालें सक्रिय रहीं। किन्तु चंद्रगुप्त के बाद मौर्यों के चाँदी के सिक्कों में अचानक ही ताँबे का अंश बढ़ गया और तैयार सिक्कों के भार में घटा-बढ़ी भी अधिक होने लगी। यह आदिम मुद्रा-स्फीति और चालू मुद्रा पर दबाव का सूचक है।

१५०,००० निर्वासित किये गये—इसके लिए प्रयुक्त क्रिया 'अपवह' वही है जो अर्थशास्त्र में राज-भूमियों पर ज़बर्दस्ती बसाने को ले जाये जाने वाले लोगों के लिए प्रयुक्त होती थी। कलिंग विजय मौर्यों का अंतिम बड़ा युद्ध था। उसके बाद कलिंग-निवासी—जो कुछ भी बच रहे थे—असोक के विशेष संरक्षण में आ गये जैसे वे उसकी संतान हों। इन्हीं दिनों में असोक मगध के धर्मोपदेशकों की ओर आकर्षित हुआ और स्वयं बौद्ध हो गया। इस धर्म-परिवर्तन से, जिसकी तुलना प्रायः ३२५ ईस्वी में रोमन सम्राट् कान्सटैन्टाइन द्वारा ईसाई धर्म ग्रहण करने से की जाती है, न तो किसी राज्य-सम्बद्ध संगठित धर्म-व्यवस्था की सृष्टि हुई, और न उसने इस प्रकार अन्य भारतीय धर्मों को ही ख़त्म किया जैसे राजकीय ईसाई धर्म ने रोमन साम्राज्य में मूर्तिपूजा को मिटा दिया था। इसके विपरीत असोक और उसके उत्तराधिकारियों ने ब्राह्मणों को तथा जैनों और आजीवकों को, निरंतर उदारतापूर्वक दान दिया। यह महान् सम्राट् अपने राज्य में सम्माननीय वयोवृद्ध लोगों से स्वयं जाकर भेंट करता था, राज्य के निरीक्षण के लिए अपने दौरों में ब्राह्मणों और सब प्रकार के तपस्वियों से मिलता और हर धर्म के योग्य व्यक्तियों की धन तथा अन्य उपहारों से सहायता करता था। मूलभूत परिवर्तन धर्म में इतना नहीं, जितना पहली बार किसी भी भारतीय अधिपति द्वारा अपनी प्रजा के प्रति प्रकट रवैये में था। मेरे समस्त प्रयास

समस्त प्राणियों के मेरे अपने ऊपर ऋण से मुक्त होने की चेष्टा मात्र हैं। राजत्व का यह विस्मयकारी आदर्श नया और प्रेरणादायक था। पूर्ववर्ती मगध शासनतंत्र के लिए सर्वथा अभूतपूर्व था, जिसमें राजा राज्य की चरम सत्ता का प्रतीक होता था। अर्थशास्त्र के राजा पर किसी का कोई ऋण न था; उसका एकमात्र कार्य था राज्य के लाभ के लिए शासन करना, कुशलता ही जिसकी एकमात्र चरम कसौटी थी। असोक के साथ छठी शताब्दी के मगध धर्मों में अभिव्यक्त सामाजिक दर्शन ने आखिरकार राजतंत्र में भी प्रवेश प्राप्त कर लिया।

इसलिए असोक पर यह आरोप लगाया गया है कि उसने अपनी राजाज्ञाएँ केवल बौद्ध धर्म के प्रचार या प्रसार के लिए प्रकाशित कीं। यह विचार संगत नहीं है, क्योंकि उसने सभी धर्मों को सार्वजनिक रूप से सहायता दी, जिनमें ब्राह्मण, जिनके मिथ्याभिमान को बौद्ध धर्म ने चूर किया, और जैनों तथा आजीवकों के दो प्रमुख समान्तर मत भी शामिल हैं जिनमें समस्त बौद्ध पूरी धार्मिक तीव्रता के साथ घृणा करते थे। किन्तु यह सही है कि सम्राट् अपने-आपको बौद्ध मानता था। उसे तीर्थ स्थानों में बुद्ध की अस्थियों के ऊपर असंख्य स्तूप तथा अन्य स्मारक वनवाने का श्रेय दिया जाता है। यह वात वहुत-कुछ पुरातत्त्व द्वारा भी पुष्ट होती है। उसकी स्तम्भों और चट्टानों पर खुदी राजाज्ञाएँ प्रमुख समकालीन व्यापार-मार्गों के चौराहों पर, अथवा प्रशासन के नये केन्द्रों के समीप स्थित हैं। जो बुद्ध के जीवन की विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण घटनाओं से जुड़े हुए स्थलों को सूचित करती हैं, वे भी अधिकतर उसी पुराने उत्तरापथ पर हैं जो गांगेय प्रदेश में वस्ती के अत्यधिक विस्तार के साथ वाद में अधिकाधिक उपेक्षित होता गया। सम्प्रदायों की विच्छिन्नता पर एक विशेष राजाज्ञा बौद्ध संघ को संवोधित है; इसमें भिक्षुओं को कोई विशेषाधिकार नहीं, उनके अध्ययन और आचरण के सम्वन्ध में उत्तम उपदेश दिये गये हैं। जान पड़ता है कि तीव्र गति से वृद्धि और उच्च संरक्षण के कारण संघ कुछ शिथिल होता जा रहा था। तृतीय बौद्ध परिषद, जो परम्परा से असोक के राज्य-काल में हुई मानी जाती है, ऐतिहासिक महत्त्व की जान पड़ती है; इसी प्रकार उसका लंका, मध्य एशिया और संभवतः चीन जैसे पड़ोसी देशों को धर्म-प्रचारकों का भेजना भी। पाली बौद्ध धर्म-ग्रंथ-संग्रह अपने प्राचीनतम उपलब्ध रूप में बुद्ध की मृत्यु के तुरन्त वाद संकलित किया हुआ माना जाता है; पर यह वहुत संभव है कि उसका वर्तमान रूप असोक के काल में या उसके आस-पास ही निर्धारित हुआ हो। वह वर्मा, लंका और थाइदेश में अवशिष्ट है।

ये राजाज्ञाएँ बौद्ध धर्म के लिए निजी रुचि से कहीं गहरी जाती हैं, क्योंकि वे राज्य की एकदम परिवर्तित मूल नीति की सूचक हैं। पहला मुख्य सूचक सार्वजनिक निर्माण-कार्यों में (स्तूपों के अतिरिक्त भी) मिलता है जिनसे वदले में राज्य को कुछ

न मिलता था; पाटलिपुत्र में असोक का नया भव्य प्रासाद तथा ऐसे ही भवन उसी प्रकार आराम और दिखावे के लिए थे जैसे कोई भी राजा बनवाता। अर्थशास्त्र में निर्दिष्ट राजमहल उपयोग और व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए अधिक था, और उसमें काठ का काम होता था, जबकि असोक ने बहुत परिमाण में पत्थर का व्यवहार किया जिस पर शीशे जैसी चमक होती थी। यह माना जाता है कि शैली, पालिश और वह सुन्दर असोकीय घंटाकार स्तम्भ-शीर्ष, जो बाद में भारतीय स्तम्भों में व्यापक रूप से प्रयुक्त हुआ, सब अखमनी निर्माण पद्धति से प्राप्त हैं। कहा जाता है कि डेरियस प्रथम के अपदन प्रासाद से ही असोक को नमूना भी मिला और कारीगर भी। मगर अपदन प्रासाद पाटलिपुत्र से २००० मील दूर ई० पू० ५०० से भी पहले बना और ३३० ई० पू० में सिकन्दर की रंगरेलियों में जला दिया गया, इसलिए इस कथन को शब्दशः सच नहीं मानना चाहिए। असोकीय कला में, जिसके साथ मैं किंचित् परवर्ती साँची के विशाल द्वार भी जोड़ता हूँ, एक सुविकसित काष्ठशिल्प परम्परा को ही सीधे पत्थर में उतारने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। कार्ले, कोंडाने तथा अन्य गुफा मठों की उद्भूत प्रतिमाओं से प्रगट है कि कई मंज़िलों वाले भवन भी अधिकांशतः काठ के थे; विशिष्ट बौद्ध तोरण भी मूलतः काष्ठशिल्प में होता था। परवर्ती मौर्य सभा-भवन में भी—जिसके बारे में किसी समय असोक का भव्य महल होने का भ्रम था, और जिसके खंडहर पटना के कुमरहर उपनगर में खुदाई में मिले—फर्श, भीतरी और ऊपरी छत, नींव और नालियाँ सब भारी इमारती लकड़ी के बने हैं; उसके सुन्दर पालिशदार पत्थर के खंभे चिकनी मिट्टी के आधार पर धरती में धँसाये गये भारी लट्ठों पर सुदृढ़तापूर्वक जमे हुए हैं। इमारती लकड़ी उस क्षेत्र में प्रचुर मात्रा में थी, यद्यपि अब वह दुखद रूप में वृक्षविहीन हो गया है, क्योंकि कटे हुए लट्ठों से बनी मीलों लम्बी सड़कें बिहार में ईस्वी सातवीं शताब्दी में भी थीं। अपनी सर्वश्रेष्ठ स्थिति में पटना की क़िलेबंदी मिट्टी से ढँकी इमारती लकड़ी से बनी थी।

भारतीय कला और स्थापत्य का प्रारम्भ, जो भारतीय संस्कृति का बहुमूल्य अंश है, सिन्धु सभ्यता के निर्माण कार्य के बावजूद, असोक से ही होता है। पटना के असोक प्रासाद के खंडहरों ने ४०० ईस्वी में भी चीनी यात्रियों को बड़ा प्रभावित किया था, जो उन्हें जिन्नों और अलौकिक शक्तियों का कार्य जान पड़ा था। असोक ने और भी अधिक महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक निर्माण-कार्यों पर बहुत धन खर्च किया जिनसे राज्य को कोई मुनाफ़ा न था। साम्राज्य भर में मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय बनाये गये थे जहाँ राज्य के खर्च पर इलाज होता था। छायादार वृक्ष, बावड़ियाँ, फलों के बाग़ और विश्राम-गृह सभी प्रमुख व्यापार-मार्गों पर एक-एक योजन (पाँच से नौ मील तक, मूल शब्द लम्बे रास्तों पर गाड़ियों के बैल बदलने के लिए

आवश्यक दूरी का सूचक था) की दूरी पर नियमित रूप से बनाये गये थे। ये नये निर्माण-कार्य व्यापारियों के लिए तो बिल्कुल वरदान सिद्ध हुए होंगे, विशेषकर इसलिए कि बहुत-से पड़ावों पर उपलब्ध वैद्य और पशु-चिकित्सक असोक के राज्य में ही नहीं उसकी सीमाओं के बाहर भी रखे गये थे। ये सब कार्य पिछले एक अध्याय में उद्धृत बौद्ध प्रवचन में परोपकारी चक्रवर्ती सम्राट् के जो कर्तव्य गिनाये गये हैं उनके सर्वथा अनुरूप हैं। अर्थशास्त्र में ऐसे निर्माण-कार्यों की कल्पना नहीं जिनसे कोई नक़द आमदनी न हो; यद्यपि उस निष्ठुर पुस्तक में भी वृद्धों, विकलांगों तथा अनाथों की सहायता की ज़रूरत पर ज़ोर दिया गया है।

इसका यह अर्थ नहीं कि राजा असोक दान और धर्म के कामों के कारण प्रशासकीय कार्य की उपेक्षा करता था। वह स्पष्ट शब्दों में कहता है कि आजकल राजकीय कार्यक्रम में नियमित विवरण प्राप्त करने का चलन नहीं रहा—चन्द्रगुप्त के व्यापक अभियानों को, बिन्दुसार के बचे-खुचे शत्रुओं को नष्ट करने में निरन्तर लगे रहने को, और पूरे उपमहाद्वीप में साम्राज्य के फैल जाने को देखते हुए यह स्वाभाविक भी है। असोक का कहना है—'मैं सरकारी विवरणों को हर समय स्वीकार करूँगा और उन पर विचार करूँगा; भोजन के समय, अन्तःपुर में, शैया पर, स्नानगृह में, सेना के निरीक्षण के समय, राज-उपवन में, या और भी कहीं, जनता की अवस्था के संबंध में विवरण मुझे पहुँचाये जाएँ।' अर्थशास्त्र की उपेक्षित राजकीय कार्यसारिणी अब नष्ट समय को पूरा करने के विशेष प्रयास के साथ पुनः प्रतिष्ठित की जा रही थी। किन्तु चाणक्यीय प्रशासन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये गये थे। (चाणक्य के कार्य-निवृत्त होने का समय बिन्दुसार के राज्य का प्रारम्भिक काल माना जाता है, पर इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता।) अब यह नियम बनाया गया कि राजा स्वयं पाँच वर्ष में एक बार अपने समस्त राज्य के निरीक्षण के लिए दौरा करे। ऐसे दौरे में न्यूनाधिक पाँच वर्ष लग ही जाते होंगे, जिसका अर्थ है कि वर्षा ऋतु को छोड़कर निरन्तर यात्रा। पहले समस्त राज-यात्राएँ या तो व्यक्तिगत मनोरंजन, जैसे आखेट, के लिए होती थीं, या सैनिक अभियान के लिए। इसी प्रकार प्रत्येक उच्च प्रशासकीय अधिकारी को अपने अधिकार-क्षेत्र के भीतर सम्पूर्ण प्रदेश में ऐसा ही पंचवार्षिक दौरा करने का आदेश था। इसके अतिरिक्त अफ़सरों और विशेष कोष पर नियंत्रण के लिए पूर्णाधिकारी अधीक्षकों के एक नये वर्ग की सृष्टि की गयी। उसकी उपाधि थी धर्म-महामात्य, जिसका अर्थ 'नैतिकता मंत्री' हो सकता है और जो बाद में 'दान और धार्मिक कार्यों का उच्च नियामक' हुआ। असोक के काल के लिए उसका ठीक अनुवाद होगा 'समदृष्टि का उच्च आयुक्त'। समदृष्टि विधिवत् संहितावद्ध क़ानून और सामान्य क़ानून के परे ऐसा सिद्धान्त है जिस पर क़ानून और न्याय दोनों आधारित माने जाते

हैं। यह 'धम्म' के प्रारम्भिक अर्थ के सर्वथा अनुरूप है और 'धम्मक' के लिए मिनेण्डर के यूनानी अनुवाद 'डिकाइओस' की सार्थकता प्रमाणित करता है। नये उच्च आयुक्त का एक कर्त्तव्य यह भी था कि वह सभी क़ानून का पालन करने वाले समूहों और सम्प्रदायों की शिकायतों की जाँच करे, और उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार होने की देखभाल करे। साथ ही उसका यह काम भी था कि ऐसे सब समूहों और सम्प्रदायों के मतों और सिद्धान्तों का पता लगाये। यह काम सम्राट् अपने निरीक्षण के दौरों के समय स्वयं भी करता था। आदिम सामूहिक क़ानून और सामूहिक धर्म को अलग नहीं किया जा सकता। अर्थशास्त्र के जनपदों के लोग, विशेषकर ग्रामवासी, निश्चय ही आदिम लोग थे। जोतने से लगाकर अंतिम ओसाने तक प्रत्येक कृषि-संबंधी कार्य के लिए कर्मकांड (आज की भाँति तब भी) आवश्यक मंगलाचरण समझा जाता था, और बहुत-सी प्रथाएँ तो आहार-संग्रहक समाज की विरासत थीं। समस्या यह थी कि इन स्थानीय और कभी-कभी परस्पर-विरोधी मान्यताओं को आहार-उत्पादक वृहत्तर समाज के साथ कैसे समायोजित किया जाए। बौद्ध धर्म का भी यही लक्ष्य था जो यज्ञ और हर प्रकार की आनुष्ठानिक हत्या की निन्दा करता था, जबकि अर्थशास्त्र में यज्ञ की उपेक्षा की गयी है और जनपद को महामारी से, चाहे वह साँपों की हो, चूहों की हो अथवा किसी रोग की, मुक्त करने के लिए जादू-टोने के प्रयोग का निर्देश है।

असोक ने सब प्रकार की हिंसा का निषेध नहीं किया था; केवल एक विशेष सूची में निर्दिष्ट पशु और पक्षियों की रक्षा की आज्ञा थी। इसका कारण अज्ञात है, पर संभव है टोटेममूलक रहा हो। बैल, गाय और वृषभ आरक्षित नहीं थे; इसमें अपवाद केवल संडक (साँड) था जिसे चाहे जहाँ चरने के लिए खुला छोड़ा जाता था (जैसा आज तक होता है) और जो नस्ल बढ़ाने के लिए उपयोगी होता था, यद्यपि वह पवित्र माना जाता था। गोमांस उस समय भी अन्य किसी प्रकार के मांस की भाँति खुले बाज़ार में चौराहों पर बेचा जाता था। सम्राट् ने स्वयं अपने महल में तो निरामिष भोजन का आदर्श स्थापित किया था और राजभवन में मांस का उपयोग नहीं के बराबर हो गया था। यज्ञ का उसी प्रकार राज्यादेश द्वारा निषेध कर दिया था, जैसे कुछ प्रकार के समाजों का, जिनके साथ अत्यधिक मदिरापान, सार्वजनिक विलासोत्सव और अपराध अथवा निंदनीय असंयम जुड़े थे। इस संबंध में भी सम्राट् ने स्वीकार किया है कि कुछ प्रकार के समाज आवश्यक हैं और बुरे नहीं। पहले उल्लेख हो चुका है कि ऐसे समाज का एक रूप, वसंत का होली उत्सव, आज तक प्रचलित है, पर उसके अश्लीलतम पक्ष क़ानून और जनमत द्वारा दब गये हैं। पशुओं को हत्या के लिए घेरना अथवा भूमि साफ़ करने के उद्देश्य से जंगलों को जलाना सर्वथा वर्जित कर दिया गया था। यह कोई बौद्ध सनक न थी, बल्कि बस्तियों की रक्षा और प्राकृतिक

साधनों को बचाये रखने के लिए सर्वथा आवश्यक था। ब्राह्मण ग्रंथ **महाभारत** में भी एक परवर्ती क्षेपक में यही आदेश मरणासन्न भीष्म के मुख से कहलाया गया है, जो जंगलों के जलाने को बड़ा पाप घोषित करते हैं। उसी महाकाव्य के गौरवशाली पांडव वीरों ने भगवान् कृष्ण की सहायता से दिल्ली का स्थल इसी प्रकार साफ किया था; इसलिए इस संदर्भ में भीष्म का यह उपदेश यथेष्ट असंगत जान पड़ता है। इसका वास्तविक अर्थ यही है कि प्राचीन वैदिक आर्य जीवन-पद्धति व्यतीत हो चुकी थी और उसकी पुनः प्रतिष्ठा संभव न थी, समाज का कृषिमूलक आहार-उत्पादन की अवस्था में चरम संक्रमण हो चुका था और पशुचारी युग के अपरिष्कृत रीति-रिवाज अब उपयुक्त नहीं थे। समदृष्टि आयुक्तों को बन्दियों के कल्याण की देखभाल का विशेष आदेश था। बहुत-से अपराधी जो दंड की अवधि समाप्त होने पर भी बंधन में रखे जाते थे, छोड़े जाने लगे। जिन बंदियों के आश्रित असहाय थे उनकी सहायता का भार भी आयुक्तों को दिया गया। मृत्यु-दण्ड प्राप्त अपराधियों को अपनी व्यवस्था करने के लिए तीन दिन की छूट दी जाती थी, पर प्राण-दण्ड समाप्त करने का कोई प्रश्न न था।

असोक की राजाज्ञाएँ राज्य की निरंकुशता के विरुद्ध प्रथम संवैधानिक प्रतिबंध, नागरिक के लिए प्रथम अधिकार-पत्रक प्रस्तुत करती हैं। यह बात सरकारी कर्म-चारियों को इस विशेष आदेश से भी प्रकट है कि राजाज्ञाएँ वर्ष में कम-से-कम तीन बार बड़ी-बड़ी सार्वजनिक सभाओं में पढ़ी और सावधानी से समझायी जानी चाहिए। अब संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि यह असाधारण परिवर्तन क्यों आवश्यक हुआ।

असोक के सुधार इस नियम के अच्छे उदाहरण हैं कि किस प्रकार मात्रा में परिवर्तन होते रहने से अन्त में गुण में भी परिवर्तन हो जाता है। गृहपतियों, किसानों और कारीगरों की संख्या में और जनपदों के आकार में इतनी वृद्धि हो गयी थी कि भू-राजस्व का 'रज्जुक' निर्धारक कई लाख इंसानों के जीवन का ठीक उसी प्रकार पूर्ण नियंत्रण करने लगा था, जिस प्रकार अंग्रेज़ों के ज़माने में ज़िले का कलक्टर करता था। जनपदों की सीमाएँ बहुत अलग न रह गयी थीं और न व्यापार मार्ग ही घने जंगलों में बनी हुई संकरी पगडंडियाँ मात्र थे। वन्य आटविक अब अपेक्षया कम रह गये थे, और उनका उपद्रव तो था पर उनसे कोई खतरा नहीं रहा था। असोक ने उनके पास भी उसी प्रकार 'धम्म' दूत भेजे, जैसे अपनी सीमा के बाहर के देशों को भेजे थे। जंगलों में साहसिक व्यक्तियों के प्रवेश से बहुत-से क्षेत्रों में सफ़ाई करके खेती होने लगी थी और इन भूमियों को राष्ट्र अथवा सीता की कोटियों में रखना कठिन था। शक्तिशाली मगध सेना अनावश्यक होती जा रही थी और उसे पहले के स्तर पर

बनाये रखना अत्यन्त व्ययसाध्य था। सचमुच, असोक यह कहता ही है कि उसके 'समदृष्टि के शासन' के बाद, सेना या तो अभ्यास के काम आती है या सार्वजनिक प्रदर्शन के।

देश तीन मुख्य भागों में बँट गया था जिनके संगठन एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। पंजाब और साम्राज्य का पश्चिमी भाग आक्रमण के लिए खुला था, इसलिए उसमें एक या अधिक कमान वाली सजग सेना की आवश्यकता थी। स्थानीय सेनापति को स्वभावत: स्वयं ही राजा के रूप में प्रतिष्ठित होने का प्रलोभन होता, अथवा वह यूनानियों, शकों और अन्य मध्य एशियाइयों द्वारा भगा दिया जाता। ये दोनों स्थितियाँ असोक के कोई पचास वर्ष बाद उत्पन्न हुईं। दूसरे भाग गांगेय मध्य देश में तब तक किसी सेना की आवश्यकता न थी जब तक पंजाब में कोई शत्रु न अधिकार कर बैठे। यह प्रदेश अब भी बहुत सम्पन्न और समृद्ध था। किंतु धातु के ऊपर राज्य का एकाधिकार क्रमशः खत्म होता जा रहा था। बिहार की ताँबे की खानें जल की सतह तक पहुँचने लगी थीं; पर पानी उठाने के कोई साधन न थे। लोहे की माँग इतनी बढ़ गयी थी कि मगध से उसकी पूर्ति कठिन थी। लोहे के नये भंडार दक्षिण में मिल गये थे और (जैसा बावरी की कहानी से प्रकट है) मगध आक्रमण के बहुत पहले से उत्तरी निजी उद्योग द्वारा किसी हद तक उनका विकास हो रहा था। भारतीय इस्पात की बनी तलवारें सर्वश्रेष्ठ होती थीं जो सिकंदर से सौ वर्ष से भी अधिक पहले से हाख़मनी दरबार को पहुँचायी जाती थीं। उच्च खनिज कर्म की इस उपज की ऐसी अतोषणीय मांग को केवल श्रेष्ठतम कोटि के धातुकों के छोटे-छोटे भंडारों से निकालकर ही पूरा किया जा सकता था। ऐसे भंडार आंध्र और मैसूर में ऐसे जंगलों में बिखरे हुए थे जहाँ उनका पूर्वेक्षण करने वालों पर अपना भारी-भरकम कठोर नौकरशाही अधिकार-क्षेत्र स्थापित करना, मगध राज्य के लिए अत्यंत व्यय-साध्य होता। इस तीसरे क्षेत्र, दक्षिणी प्रायद्वीप, को मगध की सीता भूमियों की भाँति आबाद नहीं किया जा सकता था, क्योंकि सर्वश्रेष्ठ मिट्टी बिखरे हुए टुकड़ों में थी और मगध की मिट्टी से सर्वथा भिन्न प्रकार की थी। मगध साम्राज्य के तीसरे भाग के भावी विकास का अर्थ था स्थानीय लोगों, स्थानीय भाषाओं और स्थानीय राज्यों की नयी वृद्धि। असोक के समय उसके शासन से बाहर के क्षेत्र में पूरे भारत में कहीं भी किसी अन्य राजवंश का कोई राज्य न था, केवल वन्य अथवा अर्धवन्य कबीले भर थे। वह जिन राजाओं का नाम लेता है वे केवल उसके पश्चिमी सीमांत के पार के यूनानी राजा हैं। कलिंग के भी किसी राजा का नाम नहीं आता, जिसने अगले सौ वर्षों के भीतर ही अपना निजी विजेता राजा खारवेल उत्पन्न किया। अंतिम बात यह है कि स्वयं मगध में भी, जहाँ सर्वोत्तम भूमियाँ वे ही थीं जो पहले साफ़ की गयी

थीं और बाकी में सिंचाई करना कठिन था, जंगल काटने से बाढ़ों में वृद्धि और आय में कमी की संभावना बढ़ गयी थी। एक भी मौसम खराब होने से, चाहे वह बाढ़ से हो, महामारी से हो, या वर्षा में कमी से, अधिकाधिक क्षेत्र से राजस्व की पूर्ण क्षति हो जाती थी और उसके अनुरूप ही राजकोष पर सहायता-कार्यों के लिए भार बढ़ जाता था। अत्यधिक केन्द्रीभूत प्रशासन की प्रत्येक अन्य समस्या की भाँति इसमें भी यातायात के धीमे साधनों और लंबी दूरियों के कारण कठिनाई अधिक होती थी।

असोक के सिक्कों से प्रकट है कि ये निष्कर्ष काल्पनिक नहीं हैं। चंद्रगुप्त के बाद का मौर्य कार्षापण तौल में पूर्ववर्ती के समान तो है, पर उसमें ताँबा अधिक, बनावट अधिक अनगढ़ और तौल में घट-बढ़ इतनी अधिक है कि वह अवश्य ही बहुत जल्दी में बनाया जाता होगा। दबाव और सिक्कों की असंतुष्ट माँग के इस प्रमाण के साथ-साथ मिलावट (अवमूल्यन) और उल्टी ओर प्राचीन व्यापारी श्रेणियों के सूचक चिह्नों का ग़ायब होना भी दीख पड़ता है। तदनुरूप नये व्यापारी पर नियंत्रण करना इतना आसान नहीं रहा। दक्षिणापथ में तो कम सिक्कों से, हलके चाँदी के सिक्कों से, बल्कि सीसे और जस्ते के प्रतीकों से, काम चलाया जाने लगा था, जो व्यापार के परिमाण में अत्यधिक वृद्धि और कबीलों से वस्तु-विनिमय करने वाले व्यापारियों के भारी मुनाफ़े का सूचक है। मुद्रा का प्रथम अवमूल्यन स्वयं चाणक्य द्वारा किया गया बताया जाता है, और ऐसी अनुश्रुति है कि उसने उतनी ही चाँदी से आठ गुना अधिक सिक्के बनवाये। पर **अर्थशास्त्र** में राजकोष के कठिनाई में पड़ने पर अन्य उपायों का उल्लेख है। वित्तीय कठिनाई का सामना करने पर राजा लोगों की पूंजी, भंडार में रखे माल, अनाज इत्यादि पर—केवल एक बार ही, बार-बार नहीं--विशेष कर लगाएँ; सर्वव्यापी राजकीय गुप्तचर लोगों को उत्साहित करने के लिए 'ऐच्छिक' सहयोग करें; नागों, भूतों अथवा ऐसी ही नयी उपासना-विधियाँ 'खोज निकाली' जायें; और इस प्रकार गुप्तचरों की बातों में आकर भोले लोग चंदा देने लगें जो सब चुपचाप राजकोष में पहुँच जाये। कौटिल्य जैसे ब्राह्मण मंत्री द्वारा ऐसे उपाय का प्रस्ताव अजीब लग सकता है, पर तीसरी शताब्दी तक बहुत से ब्राह्मण आदिम, अ-वैदिक अंधविश्वासों को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे थे। वैयाकरण पातंजलि ने सरसरी तौर पर कहा है कि मौर्यों ने ऐसी उपासना-विधियाँ पैसे के लिए चालू की थीं। इसी प्रकार राष्ट्रीय ऋण और राजकीय कर्ज़ों की बजाय **अर्थशास्त्र** में व्यापारियों के विरुद्ध विशेष उपायों का सुझाव है। उचित वेश में गुप्तचर किसी धनी व्यापारी को शराब पिलाकर नशे में धुत करें, उसे लूट लें, उस पर अपराध का झूठा आरोप लगा दें, या उसे मार भी डालें; व्यापारी का ज़ब्त माल और धन राजकोष में जाये। यह स्पष्ट है कि गुप्तचरों को चाहे जितनी सावधानी से चुना जाय, ये घातक उपाय

मानव-चरित्र पर इतना दवाव डालते होंगे कि उससे वचाव कठिन होता होगा।

असोक के सार्वजनिक निर्माण-कार्यों से वहुत-सा धन प्रचलन में लौट आता था। उसके तथा उसके कर्मचारियों के दौरों से परिवहन के साधनों पर दवाव कम होने में सहायता मिलती थी, क्योंकि स्थानीय अतिरिक्त उपज जहाँ होती वहीं काम में आ जाती थी। प्रजा की ओर नयी दृष्टि ने और व्यापार-मार्गों पर नये निर्माण-कार्यों ने, राज्य का सुदृढ़ वर्ग-आधार स्थापित किया, जो तव तक अधिकारी-तंत्र द्वारा अधिकारी-तंत्र के लिए चलाया जाता था। असोक के वाद राज्य का एक नया कार्य हो गया, विभिन्न वर्गों का सामंजस्य। **अर्थशास्त्र** ने इसकी कभी कल्पना तक न की थी, और वास्तव में समाज के वर्ग मानो मगध राज्य द्वारा व्यापक भूमि की सफ़ाई, भूमि की आवादी और कठोरतापूर्वक नियमित व्यापार की नीति के छिद्रों में वढ़े। इस सामंजस्यकारी कार्य के लिए विशेष अस्त्र एक नये अर्थ में, सार्वभौम 'धम्म' ही था। राजा और नागरिक को नये विकसित धर्म में सामान्य मिलन-भूमि मिली। आज भले ही लगे कि यह सर्वोत्तम उपाय न था, पर उस समय वह तुरंत प्रभावकारी सिद्ध हुआ था। वल्कि यह भी कहा जा सकता है कि भारत के राष्ट्रीय चरित्र को असोक के समय से 'धम्म' की छाप मिली। शीघ्र ही इस शव्द का अर्थ 'समदृष्टि' से कुछ भिन्न यानी 'धर्म' हो गया—जो वैसा धर्म न था जैसा असोक स्वयं पालन करता था। उसके वाद से भारत की सर्वप्रमुख भावी सांस्कृतिक स्थितियों पर सदा किसी 'धर्म' का भ्रामक वाह्य आवरण वना रहा। यह सर्वथा उपयुक्त है कि भारत का वर्तमान राष्ट्रीय प्रतीक सारनाथ में असोक के सिंह-स्तंभ शीर्ष के अवशेषों के आधार पर वनाया गया है।

सातवाँ अध्याय

सामंतवाद की ओर

नये पुरोहित

असोक के सुधारों ने पुराने आर्य कबीलाई पुरोहित वर्ग, ब्राह्मण जाति, का परिवर्तन पूरा कर दिया। पुराने ब्राह्मणवाद का दृढ़ आधार था पंजाब के कबीलों का पशुचारी जीवन और उनके निरंतर यज्ञ तथा बलिदान। यह आधार पहले सिकंदर के विध्वंसकारी आक्रमण से, और फिर उसके बाद तुरंत ही होने वाली मगध की विजय से, टूट चुका था और उसके पुनरुद्धार की कोई संभावना न थी। मगध की कृषि ने, दर्शन ने, और बौद्ध, जैन तथा आजीवक जैसे अहिंसावादी संप्रदायों ने, छठी शताब्दी के कुछ अधिक सरलस्वभावी राजाओं द्वारा थोड़े-से यज्ञों को छोड़कर, गांगेय प्रदेश में वैदिक कर्मकांड के वास्तविक प्रसार को रोक दिया था। अर्थशास्त्र का रचयिता ब्राह्मण होने पर भी उसमें यज्ञ पर कोई बल नहीं दिया गया है। यह बताया जा चुका है कि कृष्ण की पूजा पंजाब में भी वैदिक कर्मकांड के ह्रास की सूचक थी। इस भाँति एक महत्त्वपूर्ण वर्ग पहली बार कबीलाई बंधनों और पारंपरिक वैदिक कर्मकांडीय कर्त्तव्यों से मुक्त हो गया था। प्राचीन भारतीय समाज में एकमात्र ब्राह्मणों का समूह ही ऐसा था जिसके लिए नियमित शिक्षा अनिवार्य थी और जिसकी एक बौद्धिक परंपरा भी थी। वेद, व्याकरण और कर्मकांड का अधिकारी बनने के इच्छुक शिष्य के लिए एकांत आश्रम में किसी गुरु की सेवा में ब्रह्मचर्य पालन के साथ बारह वर्ष तक सेवा आवश्यक समझी जाती थी। पवित्र धर्मग्रंथों को एक भी अक्षर की, अथवा

एक भी स्वर के बलाधात की, भूल के बिना कंठस्थ करना पड़ता था; वेद अभी लिखे नहीं गये थे। यह स्मरण द्वारा सीखने और प्रशिक्षण की पद्धति सीज़र के गॉल में द्रुइद्स की पद्धति से मिलती थी, पर मानसिक उपलब्धि के अधिक ऊँचे स्तर पर थी। असोक और उसके परवर्तियों ने अपने समय के प्रमुख ब्राह्मणों को इसलिए सम्मान दिया क्योंकि वह जाति शिक्षा और संस्कृति में, समाज में वर्ग व्यवस्था को बनाये रखने और मूलतः परस्पर विरोधी समूहों के एकीकरण और अंतर्लयन में, तथा आम तौर पर खेतिहर समाज के प्रसार में, महत्त्वपूर्ण नया उद्देश्य पूरा कर रही थी। इन बातों पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

यद्यपि वैदिक मुहावरा सिद्धांततः अपरिवर्तनीय बना रहा, फिर भी जीवित भाषा के रूप में संस्कृत में स्पष्ट स्थानीय भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होने लगी थीं। भाषा का रूप स्थिर करने का कार्य ब्राह्मण वैयाकरणों की लंबी पंक्ति ने पूरा किया। इनमें सबसे महान् था पाणिनि जिसने अपने पूर्ववर्तियों की स्मृति तक मिटा दी। पाणिनि का **अष्टाध्यायी** संभवतः किसी भी भाषा में व्याकरण पर पहला वैज्ञानिक ग्रंथ है। उसके परवर्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण था पतंजलि (ईसापूर्व दूसरी शताब्दी का पूर्वार्द्ध) जिसकी पाणिनि के अत्यधिक जटिल सूत्रों की उत्कृष्ट टीका में संस्कृत भाषा के सिद्धांतों का प्रखर तर्क और पूर्ण स्पष्टता के साथ विवेचन हुआ है। उसके बाद व्याकरण संस्कृत अध्ययन का सबसे संतोषदायी विषय हो गया। पतंजलि का सुस्पष्ट और सुन्दर विवेचन संस्कृत गद्य का उत्कृष्टतम उदाहरण प्रस्तुत करता है। किसी भी विज्ञान के समस्त मूलभूत सूत्रों के कंठस्थ करने पर बल देने से सरल छंदोबद्ध रचना को तो प्रोत्साहन मिला, पर उसने गद्य के विकास को रोक दिया। पतंजलि के बाद की शताब्दियों में संस्कृत भाषा के ढांचे में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। फिर भी शब्दभंडार और मुहावरे में समय-समय पर जनसाधारण की विकासमान प्रादेशिक बोलियों के कुछ योग से वृद्धि होती रही। ये बोलियाँ अपने रास्ते बढ़ रही थीं, पर उन पर संस्कृत का महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। ये प्रादेशिक भाषाएँ विभिन्न सामान्य प्रादेशिक मंडियों में बनी मिश्रित भाषाएँ थीं। मगध की सामान्य भाषा बहुत दिनों तक सारे देश का काम नहीं चला सकती थी, क्योंकि आहार-उत्पादन के फलस्वरूप विभिन्न जातियों और क्षेत्र के लोगों की संख्या निरंतर बढ़ रही थी और वे उत्पादन की अन्य विधियों में इतने आगे बढ़ते जा रहे थे कि उन्नतिशील व्यापार में भाग ले सकें। यह बात आसाम पर एक नज़र डालने से स्पष्ट हो सकती है, जहां पर छोटी-से-छोटी घाटी का अपना अलग कबीलाई समूह है जिसकी अपनी अलग विशेष भाषा या प्रमुख बोली है। जिस समय असोक की राजाज्ञाएँ उत्कीर्ण हुई, उस समय भारत की सामान्य स्थिति कुछ इसी प्रकार की रही होगी।

पश्चिमी समुद्रतट के बुल्हारों से दक्षिण की
नद्य क्रम तक की घाटियों तथा बौद्ध गुफाओं
को प्रदर्शित करने वाला दाक्षिणी ढार।

शीघ्र ही संस्कृत उच्चवर्ग की विशेष बोली हो गयी जिसे शिक्षित लोग ही समझ पाते थे। इस भाषा का नियमित शिक्षण ब्राह्मणों के ही हाथ में रहा। पहला उल्लेखनीय संस्कृत शिलालेख १५० ईस्वी के आसपास गिरनार में मिलता है। उसमें शक राजा रुद्रदमन चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा बनवाये गये एक बाँध के पुनर्निर्माण का गर्व करता है; पर वह संस्कृत भाषा पर अपने अधिकार का भी गर्व प्रकट करता है। इसका अर्थ है कि धनी और शक्तिशाली विदेशी संस्कृत के माध्यम से अभिजात भारतीयों के रूप में अपने-आप को स्थापित कर सकते थे—यद्यपि शिलालेखों के लिए ईस्वी चौथी शताब्दी तक सरल प्राकृत का ही व्यवहार होता रहा। नासिक की बौद्ध गुफ़ाओं में सबसे अधिक संस्कृतमय पुरालेख विदेशी कुल के शक दानदाताओं के हैं, जबकि देशी सातवाहन राजाओं ने अभी तक सरल प्राकृत का ही सहारा लिया था। संस्कृत लेखकों में सबसे अधिक उर्वर धारा का राजा भोज (लगभग १०००-१०५५ ईस्वी) है, जिसने विज्ञान, ज्योतिष, स्थापत्य, काव्यशास्त्र पर ग्रंथ लिखे और काव्य तथा नाटकों की भी रचना की। वह किसी आदिवासी (नाग) राजकुमारी का पुत्र जान पड़ता है जिसका संस्कृत नाम शशिप्रभा था। कम-से-कम भोज के पिता सिंधुराज द्वारा राजकुमारी शशिप्रभा से प्रणय और विवाह को कवि पद्मगुप्त-परिमल ने अपने **नवसहासांकचरितम्** की विषय-वस्तु बनाया है। वैश्य लोग आर्य होते हुए भी शीघ्र ही संस्कृत अध्ययन से विरत हो गए, जबकि भारतीय और विदेशी वंशों के क्षत्रिय साहित्य को समृद्ध करते रहे। चौथी शताब्दी के बाद न्यायालय के दस्तावेजों के लिए भी प्रायः संस्कृत का व्यवहार होने लगा। लिपिक कायस्थों की जाति को इसमें पत्रों, आदेशों, सूचनाओं और न्याय-संबंधी निर्णयों आदि के लिए आदर्श नमूनों से सहायता मिली; इनमें से कुछ परवर्ती **लेखप्रकाश लेखपद्धति** के माध्यम से अभी तक उपलब्ध हैं।

संस्कृत भाषा ने, अपने अजीब आशीर्वादात्मक क्रियारूपों के साथ, पुरोहितों की भाषा होने की छाप सदा बनाये रखी है; उसमें दैनिक काम-काज के लिए साधारण भविष्यतकाल ही नहीं है। ब्राह्मण अब भी कर्मकाण्ड से ही बंधा हुआ रहा, यद्यपि वह कर्मकाण्ड अब केवल वैदिक प्रकार का ही न था। इसमें उसके एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी आदिम जादूगर थे, पर उनमें से प्रत्येक का कार्यक्षेत्र अपने कबीले तक सीमित था। इन कबीलाई पुरोहितों में से बहुत से अब भी अंधविश्वासपूर्ण विद्या समेत ब्राह्मणवाद में आत्मसात हो गये। कभी-कभी ब्राह्मण श्रेणी-जाति अथवा कबीले के भी पुरोहिती कार्यों को ग्रहण करके उनमें अपना कर्मकांड जोड़ देते थे; इसमें आदिम प्रथाओं के सबसे बुरे पक्षों को वे सदा निकाल देते थे या उन्हें हलका कर देते थे। बौद्ध, जैन तथा अन्य साधु समस्त कर्मकांड का त्याग कर चुके

थे और वे जन्म, मृत्यु, विवाह, गर्भ और दीक्षा आदि संस्कार उस प्रकार न करा सकते थे जिस तरह ब्राह्मण करा सकते थे और कराते थे। केवल ब्राह्मण ही बुवाई के समय फसल को आशीर्वाद दे सकता था, अशुभ नक्षत्रों को सन्तुष्ट और क्रुद्ध देवताओं को प्रसन्न कर सकता था, पंचांग को निर्धारित और उसके आधार पर भविष्यवाणी कर सकता था। वैदिक यज्ञ के अनुष्ठान केवल सिद्धांत में ही सर्वोच्च हो गये, व्यवहार में उनकी अधिकाधिक उपेक्षा होने लगी। बीच-बीच में कोई राजा अश्वमेध यज्ञ अवश्य करा लेता था पर यह इतना विरल था कि स्वयं राजा के बड़े पुरोहितों के लिए भी वह आय का विश्वसनीय आधार न बन सकता था। नया कर्मकांड तभी लाभकारी हो सकता था जब वह कृषक और व्यापारी समाज के गृहपति के काम आ सके। यह सेवा ब्राह्मण लोग जाति-भेद के बिना, पर सदा उचित शुल्क लेकर, तथा इस शर्त पर, करते थे कि सामान्य ब्राह्मण मान्यताओं को उचित सम्मान दिया जाये। ऐसा जान पड़ता है कि 'गहपति' शब्द को ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में किसान भूस्वामी अथवा धनी वैश्य का अर्थ प्राप्त हो गया था। बड़े घर और गृहस्थी के प्रधान को 'महाशाल' की निश्चित उपाधि मिल गयी थी, भले ही वह 'गहपति' हो या न हो।

क्रमशः ब्राह्मणों ने बचे-खुचे कबीलों और श्रेणी-जातियों में प्रवेश पा लिया, यह प्रक्रिया आज तक चालू है। इसका अर्थ था नये देवताओं की पूजा, जिनमें कृष्ण भी शामिल थे जिन्होंने सिकन्दर के आक्रमण के पहले पंजाब के मैदानों से इन्द्र पूजा को मिटा दिया था। पर कबीलाई कर्मकांड और कबीलाई उपासनाविधियों के एकान्तमूलक स्वरूप में परिवर्तन हुआ और या तो कबीले का देवता प्रामाणिक ब्राह्मण देवताओं के समक्ष मान लिया गया, अथवा जिन देवताओं को आत्मसात करना कठिन था उनको प्रतिष्ठित करने के लिए नये ब्राह्मण धर्मग्रंथ लिखे गये। इन नये देवताओं अथवा उनके नये रूप की स्वीकृति के साथ नया कर्मकांड भी प्रकट हुआ और विशेष प्रथाओं के लिए चन्द्र पंचाग के विशेष दिन नियत हुए। नये तीर्थ स्थान भी, उन्हें प्रतिष्ठित करने के लिए उपयुक्त पुराण कथाओं के साथ बने, यद्यपि वे ब्राह्मण-पूर्व आटविकों का पूजा-स्थल ही रहे होंगे। **महाभारत, रामायण** और विशेषकर पुराण ऐसी सामग्री से भरे पड़े हैं। आत्मसात करने की पद्धति विशेष रूप से रोचक है। न केवल कृष्ण, बल्कि स्वयं बुद्ध और मत्स्य, कच्छप, वाराह जैसे टोटेमीय देवता भी विष्णु-नारायण के अवतार घोषित किये गये। वानरमुख हनुमान जो किसानों में इतना सर्वप्रिय है कि अपनी स्वतन्त्र उपासनाविधि के साथ उनका विशेष देवता बन गया, विष्णु के अन्य अवतार राम का स्वामिभक्त सेवक सहचर हो गया। विष्णु नारायण ने पृथ्वी को मस्तक पर धारण करने वाले शेषनाग को समुद्र

में अपनी शैया बना लिया; साथ ही, वही सर्प, शिव की माला और गणेश का अस्त्र है । हाथी के सिर वाला गणेश शिव का, वल्कि शिव की पत्नी का पुत्र है। स्वयं शिव भूत-पिशाच और राक्षसों का स्वामी है, जिनमें से दुष्टराक्षस वेताल जैसे अनेक स्वतंत्र तथा अत्यन्त आदिम देवता हैं जो गांवों में अब भी पूजे जाते हैं। शिव का वैल नन्दी दक्षिण भारत में नव-पाषाण युग में पूजा जाता था, जब कोई मानवी या दैवी स्वामी उसकी सवारी करने वाला न था। वह स्वतन्त्र रूप से सिन्धु संस्कृति की असंख्य मोहरों पर मौजूद है। नये-नये देवता शामिल करने की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती जाती है, और उनसे सम्वन्धित सारी कहानियों को एक साथ रखा जाए तो वे अर्थहीन, असंगत, अराजकतापूर्ण राशि ही प्रस्तुत करती हैं। पर इस प्रक्रिया के महत्त्व को कम न आँकना चाहिए । इन नये आत्मसात किये गये आदिम देवताओं की पूजा उत्संस्करण की पद्धति का एक प्रकार के सुस्पष्ट लेन-देन का ही एक अंग थी। उदाहरण के लिए, सर्प के भूतपूर्व पूजक शिव को नमन करते समय सर्प की भी भक्ति कर पाते थे, और शिव के अनुयायी अपनी आनुष्ठानिक पूजाओं में साथ ही सर्प के प्रति श्रद्धा प्रकट करते थे । फिर वहुत-से हर वर्ष सर्प की विशेष पूजा का दिन भी मनाने लगे, उस दिन धरती नहीं खोदी जाती और सांपों के लिए भोजन रखा जाता है। मातृतन्त्री जातियों को उनकी मातृदेवी को किसी पुरुष देवता की 'पत्नी' बनाकर स्वीकार कर लिया गया, जैसे दुर्गा-पार्वती (जिसके स्थानीय नाम अपने अलग हैं, जैसे तुकाई, कालूवाई) शिव की पत्नी हो गयी, लक्ष्मी विष्णु की। देवताओं की इस जटिल गृहस्थी में भी समन्वय की यह प्रक्रिया चलती ही रहती थी, स्कंद और गणेश शिव के पुत्र हो गये। सामन्ती युग में देव समाज को एक प्रकार के राजदरवार के रूप में रखा गया। देवी-देवताओं के विवाहों में उनके मानव भक्तों के वीच विवाह की सामाजिक मान्यता प्राप्त होना निहित है, और देवताओं के ये विवाह उनके भूतपूर्व पृथक्, वल्कि परस्पर-विरोधी भक्तों के सामाजिक एकीकरण के विना सम्भव न थे। नयी जातियों को मोटे तौर पर संयुक्त समाज में उनकी आर्थिक स्थिति के अनुरूप पद मिला। सगोत्रीय विवाह और पूर्ववर्ती कवीलाई जीवन की सहभोजिता उनमें अपरिवर्तित वनी रही। उनकी स्थिति उनके देवताओं को सम्पूर्ण समाज से प्राप्त सम्मान के कारण सुरक्षित थी, और वे अपने रूपांतरित देवताओं के साथ-साथ अन्य देवताओं की पूजा करने के कारण उस समाज के अभिन्न अंग वन गये थे। यह व्यवस्था सामूहिक स्थिति की सामूहिक एकांतिकता के साथ असमानता को छोड़कर यूनानी ऐम्फिक्ट्योनी से मिलती है।

पारस्परिक उत्संस्करण की इस प्रक्रिया के साथ-साथ वर्ग-संरचना का भी, जहाँ पहले नहीं थी वहाँ, समावेश हुआ। परवर्ती ब्राह्मण धर्मग्रन्थ (स्मृतियाँ) चाणक्य

के समान ही इस बात पर बल देते हैं कि सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए राजा का पद आवश्यक है। बड़ी मछली द्वारा छोटी को निगले जाने से बचाने के लिए राजा द्वारा बल और दंडनीति का प्रयोग ज़रूरी है, यद्यपि कबीलाई समाज में इसकी कभी आवश्यकता न हुई थी। दक्षिण के कबीलाई मूल के कई राजा हिरण्यगर्भ अनुष्ठान कराने की गर्वोक्ति करते हैं। कई पुराणों में इसका विस्तार से वर्णन है। सोने का एक बड़ा-सा बर्तन बनवाया जाता जिसमें राजा सिकुड़कर उसी मुद्रा में बैठता जैसे गर्भ में भ्रूण होता है। तब भाड़े पर बुलाये गए पुरोहित गर्भ और शिशुजन्म के मंत्रों का पाठ करते। राजा उस 'सोने के गर्भ' में से ऐसे निकलता मानो उसका नव-जन्म हुआ हो, और उसे नयी जाति, अथवा पहली बार कोई जाति, प्राप्त हुई हो। यह जाति वह नहीं होती थी जो बाक़ी कबीले की समाज में आत्मसात होते समय थी, बल्कि चार प्राचीन वर्णों में से एक, सामान्यत: क्षत्रिय वर्ण और ब्राह्मण पुरोहित का गोत्र मिल जाता था। मध्य युग के कुछ इस प्रकार नवजन्म-प्राप्त राजा, सातवाहन गोमतीपुत्र की भाँति, एक साथ ही क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों वर्णों का दावा करते थे। स्वर्ण का पात्र ब्राह्मण पुरोहित को दक्षिणा के रूप में मिलता था, जिससे सब सुखी हो जाते थे। परवर्ती सारे राजा, कुछ बौद्ध राजा तक, इस बात का आग्रह करते हैं कि वे चातुर्वर्ण्य के समर्थक हैं, यद्यपि उनमें से कुछ नागवंशी होने का, अथवा महाभारत के अर्धनाग अश्वत्थामा के वंशज होने का, या रामायण के किसी वानर राजा के वंशज होने का, दावा करते थे। इस सबका उद्देश्य नये बने हुए वैश्यों और शूद्रों को ब्राह्मणों के सिद्धांतों और क्षत्रियों के शस्त्रों की सहायता से दमन करके रखना था। कबीलाई क़ानून से मुक्त हुए कुछ सरदारों के समर्थन से मुखिया तो अपने भूतपूर्व कबीले का शासक हो जाता था और कबीले के साधारण सदस्य नये किसान वर्ग में मिल जाते थे। कभी-कभी ब्राह्मण लोग शासक के लिए महाकाव्यों और पुराणों में कोई प्रतिष्ठासूचक वंशावली खोजने और ऐसी वंशावली को लेखबद्ध करने से भी अधिक कुछ कर डालते थे। यानी ब्राह्मण उस कबीले में विवाह कर लेता था, जिसके फलस्वरूप सामान्यत: नये कबीलाई ब्राह्मणों की सृष्टि हो जाती थी। कभी-कभी, जैसे छठी शताब्दी के आस-पास मध्य भारत में, मिश्रित वंशज कबीले के शासक हो जाते थे। कुछ बाद में, बंगाल का राजा लोकनाथ ब्राह्मण पिता और कबीले की गोत्रदेवी की संतान होने की गर्वोक्ति करता है। पहला हिंदचीनी राज्य भी इसी प्रकार कौण्डिन्य नामक एक ब्राह्मण साहसिक द्वारा स्थापित किया गया था जिसने अपनी धनुर्विद्या में श्रेष्ठता से स्थानीय कबीले को दबा लिया और स्थानीय नाग रानी सोमा से विवाह किया। आदिवासियों में प्रचलित मातृ तंत्र के कारण ऐसे सम्बन्ध सहज हो जाते थे। कभी-कभी पूरा संतुलन भी

स्थापित हो जाता था, जैसे मलाबार में जहाँ नायर जाति स्थानीय मातृतंत्री समाज की स्त्रियों और पितृतंत्री नम्बूदिरि ब्राह्मण पिताओं से उत्पन्न हुई।

कबीलाई समाज का विघटन और उनका सामान्य कृषक समाज में विलयन केवल मुखिया तथा कुछ प्रमुख व्यक्तियों को अपनी ओर कर लेने मात्र से न हो सकता था। वर्ण-वर्ग के ढाँचे के कार्यकारी होने के लिए लोगों के अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के उपायों में भी परिवर्तन होना आवश्यक था। सारा कबीला ही एक नयी किसान जाति का रूप ले लेता था जो आमतौर पर शूद्रों में गिनी जाती थी और सगोत्र विवाह आदि, उसकी अधिकांश परवर्ती प्रथाएँ नयी जाति में भी प्रचलित रहती थीं। इस मामले में अविकसित क्षेत्रों में ब्राह्मणों ने अग्रदूतों का काम किया; उन्होंने ही पहले-पहल आहार-संग्रह अथवा आदिम खेती के स्थान पर हल से खेती का प्रारम्भ किया। उनके साथ ही नयी फ़सलों, दूर की मंडियों की जानकारी, गाँव की बस्ती के संगठन और व्यापार का भी समावेश हुआ। फलस्वरूप राजा, अथवा भावी राजा, अछूते क्षेत्रों को आबाद करने के लिए सामान्यतः सुदूर गांगेय प्रदेश से ब्राह्मणों को आमंत्रित करते थे। लगभग समस्त उपलब्ध ताम्र-पत्र (जो देशभर में टनों की मात्रा में प्राप्त हुए हैं) शासन पत्र हैं जो—चौथी शताब्दी के बाद से—मंदिरों से असम्बद्ध ब्राह्मणों को भूमि-दान को लेखबद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक गाँव में एक-दो भूमि के टुकड़े और गाँव की फ़सल का निश्चित यद्यपि छोटा-सा भाग पूजा और पुरोहितों के लिए, भले ही वे ब्राह्मण हों या न हों, अलग रहता था। किंतु ब्राह्मण आमतौर पर सभी करों से छूट की माँग करते थे और पाते भी थे। वे क़र्जों पर विशेष रूप से कम सूद तथा अन्य विशेषाधिकारों की भी माँग करते थे जो सदा मान्य नहीं होते थे।

प्रायः ब्राह्मण ही कबीले के अथवा स्थानीय किसान जाति के रीति-रिवाजों और आदिम विद्या को भी पुरोहित की हैसियत से सम्हालते थे और किसी विशेष, भले ही परिवर्तित, रूप में सुरक्षित रखते थे। इससे उस 'धम्म' का रूप बदल गया जिसे असोक ने सभी भारतीयों से सम्बद्ध पाया था। यह स्वाभाविक था कि जो ब्राह्मण विशेष कबीले के रीति-रिवाजों और परंपराओं का रक्षक और धारक बन गया था, वह उन क़ानूनों को किसी-न-किसी प्रकार से उचित ठहराने के लिए धर्म-शास्त्र की (आवश्यकता पड़ने पर जाली भी) अनुमति का दावा करे। मध्य युग में सामान्य नियम यह था कि प्रत्येक जाति, वर्ण, श्रेणी, कुल, परिवार और स्थान की अपनी क़ानूनी प्रथाएँ होती थीं, जिन्हें समझकर ही राजा के न्यायाधीश निर्णय दे सकते थे। आज भी निचले भारतीय जन-समुदाय अपनी जाति की पंचायत के सामने ही अपने आपसी झगड़ों का निपटारा करते हैं। किसी उच्चतर क़ानून से आवेदन

केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार के विकास के साथ शुरू होता है, या तब होता है जब विवाद में विभिन्न समूहों से सदस्य फँसे हों। **अर्थशास्त्र** की कठोर न्याय-व्यवस्था, जो अन्य समस्त प्रथाओं का अतिक्रमण करती थी, मौर्यों के बाद शीघ्र ही समाप्त हो गयी थी।

इस पद्धति के कारण भारतीय समाज विभिन्न प्रकार के, बल्कि विरोधी प्रकार के, तत्त्वों से मिलकर, और अल्पतम बल-प्रयोग के द्वारा, निर्मित हुआ। किंतु विकास जिस रूप में हुआ ठीक उसी के कारण एक स्तर के बाद पण्य-उत्पादन और इसलिए संस्कृति की प्रगति भी रुक गयी। अंधविश्वास पर बल होने से निरर्थक कर्मकांड में भी कल्पनातीत वृद्धि हुई। मध्य युग के दो ब्राह्मण राजमंत्रियों ने धर्म-शास्त्रों से जो प्रशासन-संबंधी नियमावली संकलित की, वह **अर्थशास्त्र** से एकदम विसदृश है। ये दो कृतियाँ हैं भट्ट लक्ष्मीधर (लगभग ११७५ ई०) की **कृत्यकल्पतरु** और हेमाद्रि (लगभग १२७५ ई०) की **चतुर्वर्ग-चिंतामणि**। भट्ट लक्ष्मीधर कन्नौज के राजा गोविंदचंद्र गाहड़वाल का मंत्री था और हेमाद्रि दक्षिण में देवगिरि (दौलताबाद) के यादव राजा रामचंद्र का प्रधान मंत्री। दोनों संकलन प्रत्येक तिथि और अवसर के लिए कर्मकांडीय नियमों से अँटे पड़े हैं। तीर्थयात्राओं, हर प्रकार के यथार्थ अथवा काल्पनिक उल्लंघन के लिए प्रायश्चितों, मृतकों से संबंधित कृत्यों और शुद्धता आदि की ही चर्चा इन ग्रंथों में है, जो यदि पूरे प्रकाशित किये जायें तो प्रत्येक की बारह से कम जिल्दें नहीं होंगी। उनसे कुल इतना ही स्पष्ट है कि निचले वर्गों पर अंधविश्वासों का शासन लादने के लिए शासक वर्ग को भी कुछ निरर्थक असुविधाओं को सहन करना पड़ा। स्वयं प्रशासन के बारे में उनमें प्रायः कुछ नहीं है; न्याय-व्यवस्था ऊपर उल्लेखित इस नियम से बँध जाती है कि प्रत्येक समूह को अपने अलिखित प्रचलित नियमों के पालन की स्वतंत्रता होनी चाहिए। यदि प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर न्यायाधीश निर्णय न कर सके तो अग्निपरीक्षा, गरम लोहे से दाग़ने और विष-प्रयोग की भी स्वीकृति थी, पर अपराध-स्वीकार करवाने के लिए यंत्रणा के रूप में नहीं। यह उल्लेखनीय है कि ये दोनों ही राज्य, अपने-अपने यहाँ इन ग्रंथों के लिखे जाने के पच्चीस वर्ष के भीतर ही, अपेक्षया छोटी हमलावर मुस्लिम सेनाओं द्वारा पूरी तरह नष्ट कर दिये गये। हेमाद्रि पर, **स्मृतियों** के प्रति उसकी समस्त भक्ति और प्रशासक के रूप में व्यापक प्रतिष्ठा के बावजूद, मानभाव साहित्य में यह आरोप लगाया गया है कि उसने स्वयं अपने ही राज्य की रक्षा-संबंधी व्यवस्था को तोड़ने के लिए अलाउद्दीन खिलजी से घूस ली थी।

ब्राह्मणों ने उन जाति-संबंधी नियमों को लेखबद्ध और प्रकाशित करने की कभी चिन्ता न की जिनका वे समर्थन करते थे। समानता के आधार पर एक व्यापक

सामान्य आम क़ानून व्यवस्था का आधार नष्ट हो गया; अपराध और पाप को बुरी तरह गड्मड कर दिया गया और न्याय-संबंधी सिद्धांत ऐसी धार्मिक किंवदंतियों की विस्मयकारी राशि में डुबो दिये गये कि उनसे किसी भी मूर्खतापूर्ण प्रथा के लिए हास्यास्पद औचित्य प्राप्त हो जाता है। मध्य युग में श्रेणियों और नगरों के जो विभिन्न अभिलेख मौजूद रहे, उनको कभी अध्ययन और विश्लेषण के योग्य नहीं समझा गया। भारतीय संस्कृति ने वह योगदान, जो ये बहुत-से (कबीले, कुल, जाति, श्रेणी और शायद नगर के) समूह कर सकते थे, गँवा दिया। बुद्ध और असोक का सभ्य बनाने और समाजीकरण का कार्य आगे चलाया ही नहीं गया। जाति के बंधनों और जातिगत अलगाव को कड़ा करने के कारण न्याय और समदृष्टि का कोई ऐसा सामान्य आधार खोजने की संभावना ही नष्ट हो गयी जो हर वर्ग, धंधे, जाति और धर्म के सभी व्यक्तियों के लिए लागू हो सके। इसी का सहवर्ती परिणाम यह हुआ कि समस्त भारतीय इतिहास के चिह्न भी नष्ट हो गये। पाँचवीं शताब्दी के कबीलों (लिच्छवि, मल्ल और पंजाब के आर्यों) ने अपनी स्वाधीनताओं की रक्षा का प्रयास, किसी भी यूनानी नगर की भाँति, दृढ़ता से, और मकदूनिया के विरुद्ध एथेन्स के प्रतिरोध की तुलना में कहीं अधिक तीव्रता के साथ, किया था। केवल किसी ब्राह्मण अरस्तू ने उनके संविधानों का अध्ययन नहीं किया। उनकी सभा परिषदों में भी एथेन्स की सार्वजनिक सभाओं से तुलनीय वाक्पटुता होती थी (जैसा कि हम परंपरा से जानते हैं), पर यह कोई इतिहासकार हमें नहीं बताता कि इन स्वाधीन लोगों के साथ-साथ कौन-कौन-सी स्वाधीन संस्थाएं किस प्रकार नष्ट हो गयीं। यूनान और भारत के प्राचीन युग में वास्तव में उतना अन्तर नहीं था जितना यूनानी गौरवग्रन्थों की साहित्यिक उत्कृष्टता के साथ मध्ययुगीन संस्कृत पुराणों की अंतहीन नीरस बकवास की तुलना करने से जान पड़ता है। मेगास्थनीज़ ने भारत में 'स्वतंत्र नगरों' का अस्तित्व माना है; इस शब्दावली का, मकदूनिया द्वारा पराधीन कर लिए जाने के बावजूद, यूनानियों के लिए एक सुनिश्चित ऐतिहासिक अर्थ था। स्पार्टा, क्रीट तथा अन्य यूनानी नगरों में सहभोज के चलन को अरस्तू विशेष महत्व की जनतांत्रिक प्रथा मानता है। यजुर्वेदिक 'सग्धि' और 'सपीति', एक साथ भोजन और पान, ठीक यही चीज़ है, जिसके लिए आठवीं शताब्दी का आर्य प्रार्थना करता था। 'एकपात्रम' की मिटती हुई प्रथा भी यही है, अर्थशास्त्र के ग्यारहवें अध्याय में महान् भारतीय कुलीनतंत्रों की स्वाधीनता को भीतर से नष्ट करने के लिए इसी प्रथा के व्यवहार करने का सुझाव दिया गया है। अब यह प्रथा केवल अपरिचित, भोजन पर जातिगत निषेध के रूप में रह गयी है। यूनानी और रोमन धर्म प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य के पहले सद्यहत

पशुओं की बदबूदार अंतड़ियों को खखोलना आवश्यक समझते थे; भारत में ऐसी प्रथाएँ शताब्दियों पहले अप्रचलित हो चुकी थीं; थेमिस्टोक्लीज़ ने सैलेमिस के पूर्व मानव-बलि दी थी। इस भाँति अतीत और वर्तमान यथार्थ के प्रति ब्राह्मणों की उदासीनता के कारण न केवल भारतीय इतिहास, वल्कि वास्तविक भारतीय संस्कृति का बहुत बड़ा अंश भी मिट गया। इस क्षति का कुछ अनुमान तब हो सकता है जब हम यह कल्पना करें कि अरस्तू, हेरोडोटस, थुकीडाइडीज़ और उनके समकालीनों की कृतियों के स्थान पर हमें केवल मिग्ने की मध्ययुगीन **पेत्रोलोजिया लातीना** के लिए फिर से लिखित पुरोहिती कर्मकांड और **जेस्ता रोमैनोरम** के कुछ अंश मात्र प्राप्त हैं।

ब्राह्मणों द्वारा प्रस्तुत 'तर्कशास्त्र' ने समस्त यथार्थ से बचने का पूरा ध्यान रखा। उसका चरम परिणाम विख्यात शंकर (लगभग ८८० ई०) के दर्शन में देखा जा सकता है, जिसने इस सिद्धांत का तिरस्कार कर दिया कि 'पदार्थ या तो 'अ' है या 'अ' नहीं है' और जगत् को कई स्तरों पर अतींद्रिय कोटियों में विभाजित बताया। स्वभावतः सर्वोच्च स्तर चिरंतन तत्त्वों के विषय में चिंतन और उनके साथ तादात्म्य का था। भौतिक पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं। इस भाँति यदि दार्शनिक भी कर्म-कांड के स्तर पर आम लोगों में सम्मिलित हो जाय तो क्षम्य है। बौद्ध धर्म के बाद ब्राह्मणों को वैदिक यज्ञ की रक्तबलि के प्रति दिखावटी भक्ति के साथ अहिंसा का भी उपदेश अवश्य देना पड़ता था। अनिवार्य शाकाहारिता के साथ-साथ **स्मृतियों** में विभिन्न प्रकार के मांस की भी सूची दी हुई है जो पितरों के श्राद्ध के अवसरों पर ब्राह्मणों को खिलानी चाहिए। तर्कसम्मत अंतर्विरोधों को पूरा हज़म कर जाने की इस क्षमता ने भारत के राष्ट्रीय चरित्र पर भी अपनी छाप छोड़ी है; इस बात पर आधुनिक पर्यवेक्षकों का, और उनसे पहले अरबों और यूनानियों का भी, ध्यान गया है।

तर्क का अभाव, लौकिक यथार्थ की अवहेलना, शारीरिक तथा श्रमसाध्य कार्यों में लगने की अक्षमता, बुनियादी सूत्र कंठस्थ करने पर बल जिसका गूढ़ार्थ किसी बड़े गुरु द्वारा प्रतिपादित होगा, और काल्पनिक प्राचीन प्रमाणों द्वारा समर्थित परंपरा का (वह चाहे जितनी मूर्खतापूर्ण हो) सम्मान—इन सबका भारतीय विज्ञान पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। प्राचीन भारतीय चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद) में बहुत-सी औषधियों का संग्रह है, जो कभी-कभी वनवासियों से सीखी हुई होती थीं। अत्यंत व्यावहारिक अरबों ने भी, जो गैलेन और अरस्तू को भी जानते थे, रोग-निदान का एक भारतीय ग्रंथ संस्कृत से अपने काम के लिए अनूदित किया। पर आज आयुर्वेद के बहुत-से आचार्य कुछ प्रकार की मरोड़ के लिए 'अनंत' बूटी का अनुपान तो बताते हैं, पर उनमें इस बात पर सहमति नहीं है कि यह बूटी वास्तव में है कौन-सी। तुच्छ

घास जैसे पौधों से लगाकर पूरे-बड़े वृक्षों तक, कोई चौदह वनस्पतियों का विभिन्न क्षेत्रों में यही संस्कृत नाम है, और वे सब रोग के नुस्खों में लिखी जाती हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणों के पास देशभर में, और देश की सीमा से बाहर बाकू और मिस्र तक, बहुत-से तीर्थ-स्थानों की लंबी सूची थी। उनमें से बहुतों को आज तक नहीं पहचाना जा सका है, क्योंकि यात्रा तथा सुनिश्चित स्थान का कोई ब्यौरा नहीं रखा गया। प्राचीन भारतीय दृश्यों और लोगों के ऐतिहासिक विवरण के लिए, कभी-कभी खंड-हरों की पहचान तक के लिए, हमें यूनानी भूगोलविदों, अरब व्यापारी यात्रियों और चीनी तीर्थयात्रियों का भरोसा करना पड़ता है। उतना मूल्यवान एक भी भारतीय स्रोत उपलब्ध नहीं है।

तीव्र वृद्धि और लंबे विघटन की यह निराशाजनक कथा असोक के बाद कोई पंद्रह शताब्दियों की कथा है। अन्त में स्थिति यह हो गई कि गाँव का ब्राह्मण किसी सुदूर स्थान में बारह वर्ष वेदों का अध्ययन करना तो दूर, साधारण अक्षरज्ञान से भी वंचित रहने लगा। परोपजीवी जातिगत विशेषाधिकार कभी स्वेच्छा से नहीं त्यागे गये; कभी-कभी तो ब्राह्मण कर देने की बजाय अनशन करके प्राण देने को तैयार हो जाता था। इक्का-दुक्का जाली ताम्रपत्रों से प्रकट है कि महामना ब्राह्मण अभिजन उस दिन से कितनी दूर चले आये थे जब अरियन जैसा विदेशी विस्मय से कह उठा था, 'पर वास्तव में, कोई भारतवासी झूठ बोलता नहीं पाया गया।' किंतु ब्राह्मणवाद की प्रकट असफलता वास्तव में उस असहाय, निर्जीव, प्राय: आत्मनिर्भर और स्वत:-पूर्ण निरस्त्र ग्राम की पूर्ण विजय थी, जिसे चाणक्य ने राज्य की शक्ति और राजकोष के उत्पादक आधार के रूप में चुना था। अंधविश्वास की असीमित वृद्धि से प्रकट था, जैसा कि कहा जा चुका है, कि धर्म को समाज के नियंत्रण में प्रभावकारी बनाने के लिए शासक वर्ग को भी कुछ औपचारिक कठिनाइयों और बंधनों को स्वीकार करना पड़ा। संस्कृति की प्रगति के लिए विचारों के आदान-प्रदान और अधिकाधिक संपर्क की आवश्यकता होती है, जो दोनों ही अन्तत: वस्तुओं के विनिमय की तीव्रता पर, पण्य-उत्पादन पर, निर्भर करते हैं। भारतीय उत्पादन आबादी के साथ बढ़ा अवश्य, पर वह पण्य-उत्पादन न था। गाँव अधिकांश अपनी ही उपज से काम चला लेते थे। जिन थोड़ी-बहुत चीज़ों का विनिमय होता भी था, वे पहले भूमिकर, ख़िराज और करों के रूप में सामंती स्वामी अथवा कर-संग्रहक—प्राय: एक ही व्यक्ति के—हाथ में पहुँचती थीं। गाँव के समाज का यह विचित्र अलगाव ही मध्ययुग में धर्म और दर्शन की उन भारतीय पद्धतियों की अकल्पनीय वृद्धि का कारण है जो, वृहत्तर भारतेशिया में छोटे-मोटे अपवादों को छोड़कर, भारत के बाहर उतने भी अनुयायी न जुटा सकीं जितने बौद्ध धर्म को प्राप्त हुए थे।

बौद्ध धर्म का विकास

सन् ६३० ईस्वी के शीघ्र बाद चीनी यात्री ह्वान-सांग नालंदा मठ के विद्यापीठ में संस्कृत और भारतीय बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए आया। वह लंबा रास्ता तय करके रेगिस्तान और बर्फ से ढँके पहाड़ों को पार करता हुआ, खोतान से गांधार तक ऊँचे-ऊँचे स्तूपों और समृद्ध मठों को देखता हुआ, पंजाब होकर राजगिर के समीप बौद्ध धर्म की जन्मभूमि में पहुँचा था। वरिष्ठ विधि शिक्षक शीलभद्र ने उसका विख्यात विदेशी विद्वान के रूप में स्वागत किया था। चीनी जीवनीकार ह्वान-सांग के स्वागत का इस प्रकार वर्णन करता है:

'उसे राजा बालादित्य के विद्यालय के प्रांगण में बुद्धभद्र के घर की चौथी मंज़िल पर ठहराया गया। सात दिन तक अतिथि-सत्कार के बाद, धर्मपाल बोधिसत्व के घर के उत्तर में अतिथिशाला में उसे निवास दिया गया और उसकी दैनिक सामग्री की मात्रा बढ़ा दी गयी। उसे प्रत्येक दिन १२० ताम्बूल के पत्ते, २० सुपारियाँ, २० जायफल, एक औंस कपूर और एक पंग महाशाल चावल मिलता था। इस चावल के दाने बहुत ही बड़े थे और पकाने के बाद उसमें ऐसी सुगंध निकलती थी जो अन्य किसी चावल में नहीं होती। वह केवल मगध में पैदा होता था, अन्यत्र नहीं। चूंकि वह केवल राजाओं और बड़े विद्वान तथा गुणी साधुओं को ही दिया जाता था, इसीलिए महाशाल चावल कहलाता था। (ह्वान सांग को) प्रतिमास तीन तू तेल भी मिलता था, और जहाँ तक मक्खन और दूध का प्रश्न है यह तो वह रोज़ चाहे जितना ले सकता था। उसकी परिचर्या के लिए एक सेवक और एक ब्राह्मण नियुक्त था और मठ के साधारण कार्यों से उसे छूट मिली हुई थी। बाहर जाने पर सवारी के लिए एक हाथी भी था। नालंदा विद्यापीठ के १०,००० निवासी और अतिथि भिक्षुओं में ह्वान-सांग सहित केवल दस व्यक्तियों को ये विशेषाधिकार प्राप्त थे। वह जहाँ भी यात्रा करता उसके साथ ऐसा ही सम्मानपूर्ण व्यवहार किया जाता।'

स्वयं नालंदा के विषय में :

'छह राजाओं ने एक के बाद एक छह मठ बनवाये, और फिर ईंटों का एक बाड़ा बनवाया गया जिससे सारे भवनों को मिलाकर एक बड़ा मठ बन गया और सबके लिए केवल एक द्वार हो गया। उसमें कई प्रांगण थे और वे आठ विभागों में बंटे हुए थे। मूल्यवान अट्टालिकाएँ सितारों जैसी फैली थीं और जेड पत्थर के मंडपों के शिखर पहाड़ों की चोटियों जैसे थे। मंदिर इतना ऊँचा था कि कुहासे में खो जाता था और उसके भवन बादलों से भी ऊपर दीख पड़ते थे···नीले जल की धाराएँ उपवनों में होकर बहती थीं; हरे कमल चंदन वृक्ष के फूलों के बीच चमकते थे, और बाड़े के बाहर एक आम्र कुंज फैला हुआ था। सभी प्रांगणों में भिक्षुओं के निवास चार

मंजिलों के थे। कड़ियाँ इन्द्रधनुष के सभी रंगों से रंगी थीं और उन पर पशुओं की आकृतियाँ अंकित थीं; खंभे लाल और हरे थे। स्तंभों और देहलियों पर सुन्दर खुदाई का काम था। भित्तिमूल चमकीले पत्थर के बने थे और पटल चित्रों से सज्जित थे··· भारत में हज़ारों मठ थे, पर वैभव और भव्यता में इससे श्रेष्ठ कोई न था। वहाँ के निवासी तथा अतिथि सब मिलाकर कोई दस हज़ार भिक्षु थे जो महायान और अठारह हीनयान पंथों के सिद्धांतों के साथ-साथ वेद तथा अन्य गौरवग्रंथों जैसी लौकिक कृतियों का भी अध्ययन करते थे। वे व्याकरण, वैद्यक और गणित भी पढ़ते थे··· राजा ने उनके निर्वाह के लिए १०० गाँवों का राजस्व दे रखा था, और प्रत्येक गाँव में २०० परिवार थे जो प्रतिदिन कई सौ 'टान' चावल, मक्खन, दूध लाते थे। इस भाँति अध्येताओं को अपनी आवश्यकतानुसार चार प्रयोजनीय द्रव्य (वस्त्र, भोजन, आश्रय और औषधि) इतनी मात्रा में मिल जाते थे कि उनके लिए किसी से माँगने की आवश्यकता न थी। इस सहारे के कारण ही वे अपने अध्ययन में इतनी उपलब्धि कर सके थे।'

नालंदा के ध्वंसावशेषों से स्पष्ट है कि इस वर्णन में कोई अतिरंजना नहीं है, यद्यपि पुरातत्त्वविद अभी तक हमें एक मठ के भी उत्तरोत्तर विकास को सुनिश्चित ब्यौरा नहीं दे सके हैं। उस युग में भी सात मंजिलों वाले भवन थे, और बुद्ध गया का महबोधि मंदिर तो १६० फीट ऊँचा बना हुआ था। भिक्षुओं के कार्यकलाप के बारे में ह्वान-सांग ने लिखा है :

'विनय, प्रवचन, सूत्र सब समान रूप से बौद्ध ग्रंथ हैं। जो इन ग्रंथों के एक वर्ग की पूर्ण व्याख्या कर सके उसे कर्मदान के नियंत्रण से मुक्ति मिल जाती है। यदि वह दो वर्गों की व्याख्या कर सके तो उसे इसके अतिरिक्त ऊपर का स्थान या कक्ष मिलता है; जो तीन वर्गों की व्याख्या कर सके उसे विभिन्न सेवक देखभाल और उसकी आज्ञापालन के लिए मिलते हैं; चार वर्गों की व्याख्या कर सकने वाले को उपासक-परिचारक मिलते हैं; जो धर्मग्रन्थों के पाँच वर्गों की व्याख्या कर सके उसे एक अनुरक्षक मिलता है···यदि सभा में कोई (शास्त्रार्थ में) अपनी परिष्कृत भाषा, सूक्ष्म अन्वेषण, गहन दृष्टि और अकाट्य तर्कों द्वारा विशिष्टता प्राप्त करता है, तो बहुत-से लोग उसे हाथी पर बैठाकर और बहुमूल्य आभूषणों से सज्जित करके (जुलूस में) मठ के द्वार तक ले जाते हैं। इसके विपरीत यदि कोई तर्क में परास्त हो जाता है, अथवा अनुचित तथा अशोभन शब्दावली का व्यवहार करता है, अथवा तर्कशास्त्र का कोई नियम भंग करके तदनुरूप शब्दावली अपनाता है, तो लोग उसके मुख को लाल और सफेद रंग से बिगाड़कर और उसके शरीर को धूल-मिट्टी से लपेटकर, उसे किसी निर्जन स्थान में पहुँचा देते हैं या किसी खंदक में धकेल देते हैं।'

स्पष्टतः यह उस बौद्ध धर्म से सर्वथा भिन्न है जिसका उसके संस्थापक ने ईसापूर्व छठी शताब्दी में मगध में उपदेश दिया था। ऐसे तपस्वी भिक्षु अभी तक मौजूद तो थे जो नंगे पैर यात्रा करते थे, खुले में सोते थे, बचे-खुचे भोजन की भिक्षा माँगकर पेट भरते थे, और जनसाधारण की बोली में ग्रामवासियों अथवा आटविकों को उपदेश देते थे; पर उनकी संख्या और प्रतिष्ठा निरंतर कम होती जाती थी। भिक्षुक के लिए निर्धारित त्यागे हुए कपड़े के टुकड़ों से सिले वस्त्र का स्थान बढ़िया रुई, उत्तम ऊन अथवा विदेश से आये हुए रेशम के, अत्यंत मूल्यवान केसर में रँगे सुंदर वस्त्रों ने ले लिया था। लगता है कि उस समय तो वह महान् शिक्षक भी (जो अपनी अंतिम पार्थिव यात्रा में नालंदा होकर निकला था) यदि अलौकिक चमत्कारी कार्यों द्वारा अपनी क्षमता प्रमाणित करने में असफल होता, तो उसके नाम से चलने वाले ऐश्वर्यशाली और उच्च कोटि के संस्थानों में से उसे उपहासपूर्वक निकाल दिया जाता। बुद्ध ऐसे चमत्कारों की निंदा करते थे, पर अब धर्म मुख्यतः उन्हीं पर टिका हुआ था, इसलिए बहुत-से बुद्धों द्वारा अलौकिक चमत्कारों के वर्णनों में वृद्धि हो रही थी। प्राचीनतम प्रजनन-संबंधी अनुष्ठान रूप में कुछ परिष्कृत होकर, तंत्रविद्या के रूप में प्रकट हो रहे थे, जिसने न केवल नये संप्रदायों की सृष्टि की बल्कि बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्म-दर्शन में भी प्रवेश पा लिया। मठों के अपरिग्रह और सरलता-संबंधी पुराने नियमों को त्याग दिया गया था; इसी प्रकार प्रामाणिक बौद्ध सिद्धांत भी तरह-तरह की वृद्धियों से ढँक गया था। ऊपर उल्लेखित महायान ने ईसा की दूसरी शताब्दी में और उसके बाद खुल्लमखुल्ला मन और शरीर के इस रमणीय जीवन को अपना लिया। हीनयान ने (दो शाखाओं में बँट जाने के बाद महायानियों द्वारा दिया गया तिरस्कारसूचक नाम) ने प्रारम्भिक आडंबरहीनता के कुछ बाह्य रूप बनाये रखे। उन्होंने कुछ पाली धर्मग्रंथ भी प्रतिष्ठित रखे जबकि महायान ने जो भी चाहा उसे संस्कृत में लिखा और फिर बदलकर भी लिखा। महायान सिद्धांत के तिब्बती और चीनी अनुवादों से एक पूरा पुस्तकालय भर जायगा, यद्यपि असंख्य ग्रंथ, अनूदित हुए बिना ही मूल संस्कृत सहित नष्ट हो गये। दोनों ग्रंथों के मठों के व्यवहार में अंतर बहुत ही तुच्छ था, क्योंकि हीनयान मठों को भी पर्याप्त अनुदान प्राप्त था, जो कालांतर में (जैसाकि हम लंका और बर्मा में उसके अवशिष्ट रूप से समझ सकते हैं) किसी एक ही निश्चित परिवार द्वारा संचालित होने लगा; आवश्यकता पड़ने पर मठाध्यक्ष का पद बनाये रखने के लिए परिवार के तरुण पुरुष प्रव्रज्या ले लेते थे। फूट पड़ने के पहले भी भगोड़े दासों, आटविकों, भागे हुए अपराधियों, स्थायी रोगियों और ऋणग्रस्तों तथा आदिवासी नागों का संघ में प्रवेश वर्जित था। धर्म-संघ और राज्य के बीच एक समझौता हो गया था।

तदनुरूप बुद्ध को धर्म के क्षेत्र में नागरिक जीवन के चक्रवर्ती का नियमित समकक्षी बना दिया गया था।

प्रारंभिक बौद्ध अनुशासन का एक प्रमुख अंश मानव-शरीर के जुगुप्साकारी और मलिन तत्त्वों पर बल देता है। भिक्षु को नियमपूर्वक स्वयं अपने शारीरिक अस्तित्व के घृण्य आंतरिक अवयवों पर एक-एक करके ध्यान रखना पड़ता था। उसको शवों के बाड़ों के पास बहुत-सा समय बिताने का आदेश था जिससे वह मानव-शरीर को गिद्धों, सियारों और कीड़ों द्वारा खाए जाते देख सके। बौद्ध कला के उत्कृष्ट नमूनों को देख कर कोई इस बात का अनुमान तक नहीं कर सकता। असंख्य मुकुटधारी बोधिसत्व, ऐश्वर्यशाली किंतु अंगों को उभारने वाले वस्त्रों में मोहिनी स्त्रियाँ, और उनके सुंदर पुरुष सहचर, गंधार और भारहुत से लगाकर अजंता और अमरावती तक अटूट शृंखला में बिखरे पड़े हैं। कहीं कोई सड़ता हुआ अधखाया शव अथवा मवादभरे घावों वाला कुष्टपीड़ित भिखारी इन वैभवशाली भित्तिचित्रों और उद्भृत पटलों की मृदु संगति को नष्ट करके संस्थापक द्वारा निर्दिष्ट भिक्षु की याद तक नहीं दिलाता, और न यह कला निर्धन ग्रामवासी (पामर) के सामान्य कष्टों का ही चित्रण करती है, जिसकी अतिरिक्त उपज तो भिक्षु खा लेता था, पर जिसके कष्टों की इस निष्ठुर सिद्धांत के आधार पर उपेक्षा सहज ही संभव थी कि दुख किसी पूर्वजन्म के पापों का ही उचित फल होगा।

पाली बौद्ध ग्रंथों में प्रारंभ में इंद्र और ब्रह्मा को मूल बौद्ध प्रवचनों को श्रद्धापूर्वक सुनते बताया जाता था। महायान ने गणेश, शिव, विष्णु सहित एक नये ही देव-समाज को बुद्ध के अधीन बनाकर प्रविष्ट कर लिया। कुछ चुनी हुई देवियां भी इस मंडली में प्रवेश पा गयीं, जैसे असाधारण सुदरी तारा और मातृदेवी हारिति, जो मूलतः शिशुभक्षक राक्षसी थीं। सर्पो और राक्षसों के विरुद्ध पढ़े जाने वाले धारणी (मंत्र) भी धर्म-ग्रंथों में स्थान पाने लगे। साथ ही बहुत-से मठों का सम्मानित संरक्षक नाग सर्प राक्षस होने लगा। अवश्य ही बुद्ध इन सबसे ऊपर परमेश्वर थे, जो अपने अलग अगम्य स्वर्ग में रहते थे। मगर भूतपूर्व बुद्धों की संख्या बढ़कर गिनती से परे हो गयी और एक भावी मसीही बुद्ध मैत्रेय भी जोड़ लिया गया। बहुत-सी जनप्रिय लोक-कथाएँ ज्यों-की-त्यों जातकों के रूप में अपना ली गयीं; इन्हें बुद्ध के उन पूर्वजन्मों से संबंधित कथाएँ बताया गया जिनमें बुद्ध ने क्रमशः बुद्धत्व के लिए अपने-आपको समर्थ बनाया था। बौद्ध सिद्धांत की प्रत्येक शाखा को, संघ के प्रत्येक नियम को, बुद्ध के बारे में एक नयी कथा लिखकर उचित ठहराया गया; बुद्ध के पार्थिव शरीर के अवशेषों की सब जगह पूजा होने लगी और क्रमशः उनका आकार और परिमाण इतना बड़ा हो गया कि हाथियों का एक पूरा झुंड भी उसके लिए कम पड़ता। पर इस खेल में तो ब्राह्मणों को कहीं अधिक निपुणता प्राप्त थी और वह उन्होंने दिखायी भी। ब्राह्मणों ने

जिन देवताओं को अपने पुराणों में लिखकर प्रतिष्ठित कर दिया था वे बहुत पूजे जाते थे, भले ही किसानों द्वारा हो अथवा कबीलों के राजा बनने वाले के मुखियाओं द्वारा। इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण कश्मीर के नाग नीलमत का है जिसकी उपासना बौद्ध धर्म के कारण अप्रचलित हो गयी थी, पर ब्राह्मणों द्वारा विशेष रूप से लिखे गये **नीलमत पुराण** से फिर से प्रतिष्ठित हो गयी और उसके साथ-साथ ब्राह्मण भी। बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म या इस्लाम की भाँति, कभी राजकीय धर्म नहीं हुआ और न उसने कभी व्यवस्था का उपयोग प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के दमन के लिए किया। प्रारंभ से ही संघ में ऐसे ब्राह्मण थे जिन्होंने जाति भले ही त्याग दी हो, पर जो अपनी बौद्धिक परंपराओं को बनाये रखते थे। प्रचलित ब्राह्मण विचारधारा को (कर्मकांड या उपासनाविधियों को नहीं) प्रायः मानकर ही चला जाता था, ठीक वैसे ही जैसे ब्राह्मणों ने गोमांस खाना छोड़ दिया था और अहिंसा को अपना मुख्य आदर्श स्वीकार कर लिया था। बौद्ध और ब्राह्मण दोनों के उच्चतर दर्शन सार की दृष्टि से एक ही ओर मुड़ने लगे। दोनों में से कोई भौतिक जगत् को यथार्थ न मानता था। निश्चित रूप से, शंकर के अपने विचारों में, और उन सिद्धांतों में, जिन्हें वह खंडन करते समय अपने प्रतिपक्षियों के मुख्य सिद्धांतों के रूप में प्रस्तुत करते हैं, ऐसे किसी तत्त्व का अल्पतम भी ज्ञान दिखायी पड़ता है जिसे असोक या उसका कोई पूर्ववर्ती बौद्ध धर्म के रूप में स्वीकार करता। आज तो यह समझना भी कठिन है कि विवाद क्या था, क्योंकि विभिन्न पक्षों के बीच अंतर, रूप में भी नहीं तो कम-से-कम विषयवस्तु में, नगण्य जान पड़ता है। जहाँ तक बौद्ध धर्म के कम होते हुए व्यावहारिक प्रभाव की बात है, हम एक बात पर ध्यान दे सकते हैं कि असोक, एक ही वीभत्स कलिंग अभियान मात्र से अहिंसा के धर्म की ओर उन्मुख हो गया था। इसके विपरीत कन्नौज का धर्मपरायण बौद्ध सम्राट् हर्ष शिलादित्य (६०५, ६५५ ई०) सम्पूर्ण भारत को अपने अधीन करने के लिए कम-से-कम तीस वर्ष तक निरंतर युद्धरत रहा। इसी प्रकार चंगेज खाँ (तिमूजिन) और उसके उत्तरवर्ती मंगोल राजा अधिकांश यूरेशिया महाद्वीप में ऐसे सैनिक अभियान चलाते रहे, जो अपने रक्तपात और विध्वंस के लिए इतिहास में विख्यात हैं, और जिनकी तुलना में सिकंदर का अभियान मामूली सीमवर्ती छापे जैसा लगता है; पर ये मंगोल राजा भी भले बौद्ध माने जाते हैं। फिर भी, किसी बौद्ध राजा ने धर्म के प्रचार या गौरव के लिए हत्या या युद्ध नहीं किया।

असोक द्वारा स्थापित राज-सहायता बारहवीं शताब्दी तक चलती रही, जब उत्तर के समस्त मठों को मुसलमानों ने लूटकर मिटा दिया। भारतीय-यूनानी राजा एगैथोक्लीज़ भी, 'धम्मक-डिकाइओस' मिनेन्डर की भाँति, अपने सिक्कों पर बौद्ध प्रतीक बनवाता था। कुषाणों ने प्रचुर अनुदानों का एक नया युग आरंभ किया जिससे

महायान को दृढ़ आधार मिला; यह राजवंश ईस्वी चौथी शताब्दी तक चला । यह दान मुस्लिम-पूर्व किसी राजा ने रद्द नहीं किया । मौर्यों के तात्कालिक परवर्ती ब्राह्मणों के समर्थक थे । प्रथम शुंग राजा ने यज्ञ शैली में अश्वमेध का समारोह मनाया था । पर इसका बौद्ध धर्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, जैसा साँची में शुंगों द्वारा नये निर्माण से प्रकट है । चौथी शताब्दी से गुप्तों द्वारा ब्राह्मणों को भूमि दान में महाभारत का प्रमुख रूप में उल्लेख किया जाता था; पर साथ ही बौद्ध मठों का भी पुनरुद्धार किया गया और उनको सहायता बढ़ा दी गयी । प्रथम वास्तविक उत्पीड़न सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में पश्चिमी बंगाल के राजा नरेन्द्रगुप्त शशांक द्वारा हुआ, जिसने गांगेय मैदान में दूर-दूर तक हमला किया और गया में बोधिवृक्ष को काट डालने के अतिरिक्त बहुत-सी बुद्ध मूर्तियों का ध्वंस कर डाला । पर कुछ ही वर्षों में राजा हर्ष की दानशीलता के फलस्वरूप सब-कुछ पहले जैसा, बल्कि कुछ और भी वैभवपूर्ण, हो गया । किंतु बौद्धधर्म की अवनति और अनिश्चित स्थिति समृद्धिशाली नालंदा में ह्वान-सांग के अध्ययन के दिनों में भी दृष्टिगोचर होने लगी थी । भीषण अंत होने का उसका दुःस्वप्न ६५५ ईस्वी के लगभग शब्दशः पूरा हुआ; हर्ष की मृत्यु के बाद सर्वव्यापी उपद्रवों में वह महान् मठ लूटपाट करके जला डाला गया । किंतु अगली शताब्दी में पालवंशियों ने वित्तीय स्थिति को फिर से पूर्ववत किया और बहुत-से नये विहार भी बनवाये, जिनमें नालंदा से कुछ ही दूर एक विशाल मठ या विहार भी था जिससे बाद में समूचे प्रदेश को विहार नाम प्राप्त हुआ । सेनों ने भी, जो असंदिग्ध रूप में आधुनिक अर्थ में हिंदू राजा थे, अनुदान जारी रखा और लुटेरों से बहुमूल्य वस्तुओं की रक्षा के लिए पाल मठों की क़िलेबंदी भी की । इसका केवल यही परिणाम हुआ कि मुहम्मद बिन बख्तयार ख़िलजी के नेतृत्व में, जिसने १२०० ईस्वी के लगभग समस्त मगध और पश्चिमी बंगाल को रौंद डाला, मुट्ठीभर मुसलमान हमलावरों ने आक्रमण करके और भी पूरी तरह लूटपाट की । उसी समय सारनाथ के विशाल स्तूप समूह और मठ भी, जो बुद्ध के प्रथम उपदेश के स्थान पर और बुद्ध की नादीपर्णकुटी के स्थल के समीप विकसित हुए थे, सदा के लिए ध्वस्त कर दिये गये । इस भांति संन्यासियों के लिए आश्रय और मिलनस्थल की बुद्ध के भी सैकड़ों वर्ष पहले से चली आती अविच्छिन्न परंपरा का अंत हो गया । सारनाथ हूणों के आक्रमणों और प्रचंड पाशुपत घुसपैठ और फूट से भी बच निकला था और हाल ही में, ११५० ईस्वी के लगभग, 'हिंदू' राजा गोविंदचंद गाहडवाल की 'बौद्ध' रानी ने उसका पुनरुद्धार करके और भी समृद्ध किया था । कोरियावासी चौदहवीं शताब्दी में भी भारतीय बौद्ध भिक्षु को आमंत्रित कर सके, पर वह किसी प्राचीन संस्थान से नहीं, दक्षिण से, जहाँ बौद्ध धर्म चुपचाप विघटित होता जा रहा था । इस दृष्टि से, सौनिकवादी

लोकायत जैसे गौण, अ-बौद्ध मत और साक्य देवदत्त के प्रायः बौद्ध अनुयायी मगध में सातवीं शताब्दी तक मौजूद रहे। उन्हें नष्ट नहीं किया गया, बल्कि वे शांति-

१५. बौद्ध सम्राट हर्ष के हस्ताक्षर, एक ब्राह्मण को भूमिदान के ताम्रपत्र से (बंस खेड़ा ताम्रपत्र; ऐपीग्राफिया इंडिका, खंड ४, पृष्ठ २१० के सामने)। वर्ष संभवतः ६२८ ईस्वी था। हर्ष के ताम्रपत्र पर स्याही से लिखे शब्दों का अर्थ है : 'राजराजेश्वर श्री हर्ष के अपने अक्षरों में'। स्याही के अक्षरों को फिर ताम्रपत्र में खोदा गया था।

पूर्वक विघटित होते गये। इस देश में निरंतर बहुत-सी परस्पर-विरोधी पद्धतियों को एक साथ सहन तो किया गया, पर उनके सिद्धांतों और परंपराओं को स्थायी रूप में लेखबद्ध करने की कभी कोई चिंता नहीं की गयी। 'हिंदू धर्म के पुनरुद्धार' का, या किसी राजा के हिंदू और किसी के बौद्ध होने का, प्रश्न निरर्थक है। अंत तक बहुत से लोग, राजा अथवा जनसाधारण, परवर्ती ब्राह्मण कर्मकांड का भी समर्थन करते, कठिनाई से श्लील बनाये गये। प्रागैतिहासिक देवताओं की पूजा भी करते, और साथ ही बौद्धों, जैनों और आजीवकों को अंत तक उदारतापूर्वक दान भी देते थे। कन्नौज के हर्ष की बौद्ध धर्म को सहायता असंदिग्ध है और उसने एक ऐसे हत्यारे को क्षमा कर दिया था जिसे उसने स्वयं पकड़कर निरस्त्र किया था; पर वह मध्य युग के किसी भी राजा की भाँति ब्राह्मणों को दक्षिणा में भूमि देते समय आज्ञापत्रों में अपने आपको 'परम महेश्वर का परम भक्त' कहता था। इसके अतिरिक्त उसका कुलदेवता सूर्य था, जो पंजाब में लोकप्रिय था। यह ईरानी प्रभाव के कारण था जिसका कुषाणों के साथ फिर से प्रवेश हुआ और संभवतः मग मूलक 'मग ब्राह्मणों' के एक नये संप्रदाय की सृष्टि की। तदनुरूप ही हर्ष ने परमभट्टारक की उपाधि भी ग्रहण की। साथ ही उसका एक संस्कृत नाटक **नागानंद**, जिसमें उसने स्वयं, आत्म-बलिदानी बौद्ध नायक की भूमिका में अभिनय किया था, शिव की पत्नी गौरी (पार्वती) को समर्पित है। इसमें न तो उसे, और न बौद्ध, जैन आजीवक तथा अन्य साधुओं को, जो हर पाँच वर्ष बाद गंगा-यमुना के संगम पर हज़ारों की संख्या में ब्राह्मणों के साथ-साथ सम्राट् से दान-दक्षिणा पाने के लिए एकत्र होते थे, कोई अंतर्विरोध दिखाई पड़ता था। इस पुस्तक के पहले अध्याय में आधुनिक भारतीय चरित्र की जिन विसंगतियों का उल्लेख किया गया है, वे ह्वान-सांग के भारत आने के पहले ही प्रचलित हो चुकी थीं।

फिर भी, यह ग्राम की विजय की अपेक्षा धन का भ्रष्टकारी प्रभाव अधिक जान पड़ता है। वास्तव में, यह परिवर्तन असोक से बहुत पहले से ही होने लगा था। बुद्ध की मृत्यु के लगभग सौ वर्ष बाद, मगध के राजा कालासोक के राज में वैसाली के भिक्षुओं ने अपने छोटे-से स्थानीय मठ के उपयोग के लिए धन माँगा और स्वीकार किया। इससे तत्कालीन अन्य बौद्धों में बड़ा अपवाद हुआ। अंततः वैसाली में एक परिषद बुलायी गयी जिसमें भिक्षु यक्ष के संघ के सर्वाधिक सम्मानित सदस्य सम्मिलित हुए और इस नयी प्रथा की अपधर्म कहकर निंदा की गयी और उसे बंद कर दिया गया। भिक्षुओं को भोजन तथा तात्कालिक निजी आवश्यकताओं के लिए छोटी-मोटी वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार करने की अनुमति नहीं दी गयी। इस नियम को इस घटना के बाद विनय-विधान का अंग बना दिया गया। इस स्पष्ट आदेश के बाद भी यदि सभी मतों के भारी अनुदान प्राप्त समृद्ध मठ दिखायी पड़ते हैं तो इस परिवर्तन के पीछे कोई प्रबल कारण अवश्य रहा होगा। इस मूलभूत कारण को खोजना बहुत सरल है।

ये मठ चक्रवर्ती राजाओं के एक कर्त्तव्य का पालन करते थे, जो बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट बताया जाता है; पर जब असोक ने सड़कें, विश्रामगृह, जलाशय और मनुष्यों तथा पशुओं के लिए चिकित्सालय बनवाये तो उसे छोड़ दिया था। मठों में संचित धनराशि से जो पूंजी प्राप्त होती थी, वह प्रायः भारत के भीतरी भागों में प्रारंभिक व्यापारियों और सार्थवाहों के बहुत काम आती थी। बावरी जैसे अग्रगामी ब्राह्मण, जो अधिक-से-अधिक कुछ मवेशी और एक-दो शिष्यों को लेकर जंगलों में प्रवेश करते थे, यह काम न कर सकते थे। और न ही अग्रहार ब्राह्मण अधिवासी, जिनके माध्यम से राजा लोग उन जंगलों की भूमि में बीज डालना चाहते थे जिसमे खेती अभी प्रारंभ तो नहीं हुई थी पर जो तोड़े जाने के लिए तैयार हो चुकी थी। यह एक कारण है कि दो सर्वथा भिन्न व्यवस्थाओं का सह-अस्तित्व, किसी स्पष्ट संघर्ष के बिना, उत्तर में सातवीं और दक्षिण में नवीं शताब्दी तक, संभव हो सका। यही इस बात का भी मुख्य कारण जान पड़ता है कि प्राचीन पशुचारी यज्ञ प्रथा का इतने प्रभावकारी ढंग से विरोध करनेवाला बौद्ध धर्म कृषिमूलक आहार-उत्पादन के व्यापक विकास के कारण उस प्रथा के विलुप्त हो जाने के बाद भी, इतनी शताब्दियों तक विकसित होता रहा। यह विशेष आर्थिक उपयोगिता ही मुख्यतया बौद्ध धर्म के पड़ोसी देशों में फैलने का कारण है, जिन्होंने ब्राह्मणों को अपनी चातुर्वण्य व्यवस्था स्थापित करने के लिए कभी आमंत्रितनहीं किया। वे देश वैदिक यज्ञ से तनिक भी परिचित न थे और बौद्ध धर्म के उन जटिल, सूक्ष्म और प्रायः दुर्बोध सिद्धांतों को, जिन्हें असंख्य विख्यात भारतीय चीनी, तिब्बती तथा अन्य भिक्षुओं ने इतने परिश्रमपूर्वक विविध भाषाओं में अनूदित

किया था, केवल सिद्धांत-प्रेम के कारण न अपना सकते थे।

यह बात ज्ञात हो चुकी है कि चीन जाने वाले सर्वप्रथम बौद्ध प्रचारक स्थल-मार्ग के व्यापारियों से सम्बद्ध थे। बौद्ध मठों के आर्थिक कार्य के बारे में जो कुछ हम जानते हैं, वह अंशतः चीनी अभिलेखों के आधार पर है, पर उसकी पुष्टि उन गुफ़ा मठों की बहुत-कुछ स्पष्ट पर अभी तक उपेक्षित पुरातात्त्विक विशेषताओं से भी होती है जिनके खंडहर पश्चिमी दक्षिणापथ में बिखरे पड़े हैं। चीनी और भारतीय दोनों संस्थान उसी महासांघिक संप्रदाय (एक महायान पूर्व विधान) के, या अन्य ऐसे बौद्ध संप्रदायों के थे, जो सिद्धांत और व्यवहार में एक-दूसरे के बहुत समीप थे। चीनी दस्तावेज़ों से सिद्ध होता है कि उनके महासांघिक मठ चीन के भीतरी प्रदेश के शांतिपूर्ण विकास में सहायक हुए; बौद्ध धर्म यों भी शांति और अहिंसा का संदेश लाया। यह बात संपुष्ट हो चुकी है कि मठों के अपने उद्यान और खेत थे। वे दासों और भाड़े के मज़दूरों द्वारा खेती कराते थे, किसानों और व्यापारियों को उपज बेचते और ऋण, और साथ ही अकाल के समय उदारतापूर्वक दान भी देते थे। बहुत-से अनुबंध और कुछ मठों के आय-व्यय के लेखे आज तक अवशिष्ट हैं। यह बात स्पष्टतः लेखबद्ध है कि इन मामलों में जिस पद्धति का पालन किया जाता है वह भारतीय महासांघिक व्यवहार के नमूने पर है। वास्तव में, भारत में जो तीर्थयात्री दीर्घकालीन अध्ययन के लिए आते थे, वे मठ के प्रशासन पर भी उतना ही ध्यान देते थे जितना बौद्ध तीर्थों और पवित्र धर्मग्रंथों पर। ह्वान-सांग के सौ वर्ष बाद, आइ-सिंग ने मठों के दैनिक जीवन और स्वच्छता-संबंधी छोटी-से-छोटी बातों पर भी ध्यान दिया, और रेशम के चीवर पहनने के औचित्य के विषय में भारतीय भिक्षुओं के सत्यभाषी तर्कों का समर्थन किया। चीन में भी पहले अधिक कठोर संयमी, आदिम प्रकार का भिक्षु-साधु होता था जो अपने भारतीय समकक्षी की भाँति ही बाद में विलुप्त हो गया।

पश्चिमी भारत में कार्ले का मठ महासांघिक था, यद्यपि वह प्रत्येक बौद्ध सम्प्रदाय के भिक्षु के लिए खुला था। उसमें, चैत्य के गर्भ-गृह की किसी समय रँगी हुई कड़ियों को छोड़कर, धातु और लकड़ी का अन्य सब शिल्प कार्य नष्ट हो चुका है। स्तंभों और दीवारों का रंग भी जा चुका है। संभवतः वैसाली के सुधार ने अर्थ-प्रेमी भिक्षुओं को और भी दक्षिण की ओर ढकेला, जहाँ उन्हें राज्य के नियंत्रण अथवा विहार की प्रथा के संबंध में चिन्ता करना आवश्यक न था। पर इस मठ की नींव का काल रेडियोकार्बन प्रक्रिया से असोक-पूर्व युग का है। यहाँ की मूर्तियाँ घोड़ों और हाथियों पर सवार सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए समृद्ध स्त्री-पुरुषों के आकर्षक जोड़ों की हैं; वे सुन्दर भी हैं और विलासमय भी। ये भिक्षुओं के एकत्र होने के स्थान के

उपयुक्त न होने पर भी ठीक उस प्रकार की हैं जिन्हें धनी व्यापारी पसंद करते। कलाकारों को विशेष रूप से दूर-दूर से लाकर और पर्याप्त धन देकर काम कराया गया होगा। साथ ही इस संपूर्ण स्थान को पूरा होने में कई शताब्दियाँ लगी होंगी, पर उसकी योजना ऐकिक ही है। इसका अर्थ है परिकल्पना, धन और प्रशासन की निरंतरता। बहुत-से सुदूर स्थानों के व्यापारियों और श्रेष्ठियों से संबंध विभिन्न स्तंभों, मूर्तियों और गुफ़ाओं पर खुदे हुए उनके दाताओं के नामों से स्पष्ट है, फिर भी बहुत से छोटे-मोटे अनाम दान के अतिरिक्त, जिसका कहीं कोई अभिलेख नहीं है, कुछ और दाता भी थे जिन्होंने मठ के निर्वाह और संपूर्ण होने में सहायता दी। कुछ उच्च अधिकारी थे, कुछ वैद्य इत्यादि। एक स्तंभ पर उस क्षेत्र के व्यापारी संघ (वनिय गाम) का नाम दाता के रूप में अंकित है। यह संस्था मध्य युग में तब तक प्रमुख रही, जब तक मुस्लिम विजय ने एक नये प्रकार के व्यापारी के समावेश द्वारा इसका महत्त्व कम न कर दिया। ईसा की दूसरी शताब्दी में, प्रारंभिक शक दाताओं के सातवाहनों द्वारा समाप्त किये जाने के बाद, राजा और उसके राज्यपालों ने पूरे गांवों के दान की सम्पुष्टि की। पर कुछ दाताओं के नाम बड़े चौंकाने वाले हैं। कुछ मठों में, बंसोरों, ठठेरों, कुम्हारों आदि की श्रेणियों ने उदारतापूर्वक दान तो दिया था, साथ ही वे मठ को उस धन पर सूद भी देते थे जो एक राजा ने न्यास-निधि से स्थायी रूप से ब्याज देने के लिए उनके पास लगा रखा था। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत दाता भी हैं; लिपिक, वैद्य, लुहार, बढ़ई, मछुओं का मुखिया, एक हलवाहे की पत्नी- एक गृहपति किसान की मां, इत्यादि। सामान्य भारतीय ग्रामीण जीवन में इस कोटि का कोई कारीगर, शिल्पकार या श्रमिक इतना नहीं कमाता था कि कोई महत्त्वपूर्ण दान दे सके। इसलिए वह समाज बड़े परिमाण में पण्य उत्पादकों का रहा होगा; बाद के दिनों में दक्षिणापथ में, अथवा देश के किसी भी भाग में, इस पैमाने पर पण्य उत्पादन प्रचलित न रहा। अर्थशास्त्र के नमूने पर 'सीता' भूमियों का विकास और राजकीय उद्योग स्पष्ट ही गुफा मठों के प्रदेश में संभव न था, क्योंकि उनमें से अधिकांश आज भी अविकसित और उजाड़ हैं, जबकि उत्तर के मठों के भवन तक प्रायः भूमि के साथ जुतकर धरती में समा गये हैं। किन्तु दक्षिण के गुफा मठ सभी उन व्यापार मार्गों के समीप हैं, जो पश्चिमी नदीमुखीन बन्दरगाहों (कल्याण, ठाणा, चौल, कुडा महाड) से दक्षिणी ढलान के सुनिश्चित दर्रों में होकर पठार तक जाते है। नये अन्तिम पड़ाव जुन्नार के चारों ओर भी, जो शीघ्र ही दूसरी सातवाहन राजधानी बना, इसी प्रकार कम-से-कम १३५ बौद्ध गुफ़ाएँ बिखरी हुई हैं।

यहां राजाओं के धर्म-परिवर्तन का प्रश्न नहीं है, क्योंकि प्रथम गुफ़ा मठों के

समय दक्षिणापथ में कोई राजा थे ही नहीं। जुन्नार के तीस किलोमीटर पश्चिम में महत्त्वपूर्ण नानाघाट दर्रे पर सरकारी (मठीय नहीं) गुफाओं में सातवाहन राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को यज्ञों की दक्षिणा के रूप में दिये गये असंख्य दानों के पूरे ब्यौरे सुरक्षित हैं; हजारों की संख्या में मवेशी, हाथी, रथ, घोड़े, सिक्के इत्यादि। किन्तु यज्ञ के अतिरिक्त सातवाहनों द्वारा कृष्ण और उसके शक्तिशाली हलधर भाई बलराम संकर्षण की पूजा का विशेष उल्लेख है। दूसरे शब्दों में, बावरी की परम्परा चलती रही और ब्राह्मण धर्म में उत्तर में होने वाले परिवर्तन दक्षिण में बने-बनाये तैयार रूप में पहुँचे। फिर भी सातवाहन सभी गुफामठों की सहायता करते रहे। विख्यात द्वारपाल रक्षकों वाली भाजा की गुफ़ा की बनावट को देखकर लगता है कि वह शायद मुख्यतः राजकीय सहायता से ही बनायी गयी हो। पर चैत्य का अग्रभाग ढह चुका है और उस पर जो प्रमुख अभिलेख रहे होंगे वे नष्ट हो गये हैं।

विलक्षण बात यह है कि बौद्ध मठों में अभिलिखित दान में से कुछ ऐसा है जो भिक्षुओं अथवा भिक्षुणियों द्वारा दिया गया था। उनके पास दान करने के लिए धन होने से ही यह प्रकट है कि वेसाली की परिषद में किये गये निर्णयों का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन होता था, अथवा वे चुपचाप निलम्बित कर दिये गये थे। पहले, संघ में प्रवेश करने वाला पहले अपनी समस्त सांसारिक सम्पत्ति का वितरण करता था। और तब सांसारिक जीवन से संन्यास लेता था। अब वह धन और धन कमाने का अपना अनुभव मठ में लाने लगा। कार्ले में धनी गृहस्थ अनुयायी बुधरखित ने एक मूल्यवान सभा भवन अपने नाम से दान किया था। वही नाम बाद में भवन समूह के अन्त में एक कोठरी पर भी अंकित है, जिसे उसने भिक्षु बनने के बाद अपना कक्ष बनाया जान पड़ता है। विहार के मुख्य भाग की कुछ कोठरियों के साथ चाहे कार्ले में चाहे इस क्षेत्र के अन्य मठों में, भीतरी कक्ष भी हैं जहां हवा या प्रकाश नहीं पहुँचता, जो केवल मूल्यवान वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए ही रहे होंगे। अधिकांश बाहरी कोठरियों पर काठ के मज़बूत दरवाज़े थे जिन्हें भीतर से बन्द किया जा सकता था और बाहरी से भी, एक विशेष शृंखला की व्यवस्था द्वारा, जिनमें ताला लगाया जा सकता था। यह पर्याप्त धन का सूचक है। ये मठ सार्थों के महत्त्वपूर्ण ग्राहक थे: भिक्षुओं के लिए वस्त्र, पूजा के लिए धूप तथा मूल्यवान सुगन्धियाँ, धातु की मूर्तियाँ, बड़ी संख्या में धातु के दीप (कालिख से आज भी सारी छतें काली हैं) स्थानीय रूप से उपलब्ध न थे। यह भी स्पष्ट है कि ये मठ यात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ाव थे और सार्थ के लिए विश्राम-स्थल और पूर्ति तथा लेनदेन के स्थान का काम देते थे। उदाहरण के लिए जुन्नार में गुफ़ाओं को और भी पास-पास बनाना अधिक सुविधाजनक होता, पर एक ही पहाड़ी पर

होने पर भी वे छोटे-छोटे समूहों में हैं और एक-दूसरे से यथा-सम्भव दूर-दूर हैं। हर समूह पर भिन्न व्यापारी समुदाय की कृपा थी, जो इनके पृथक्-पृथक् होने का एक कारण हो सकता है, और एक प्रकार से संप्रदायों की विविधता का वित्तीय पक्ष है।

इस व्यवस्था और इसके द्वारा पोषित मठों का उस समय अंत हुआ जब बौद्ध-धर्म अर्थ-व्यवस्था को प्रोत्साहित करने की बजाय उस पर बोझ बन गया। विलास सामग्री के दूरदेशीय, विशेषकर भारत के उत्तर से और विदेश में रोम साम्राज्य के साथ, व्यापार की तुलना में, अब सर्वथा भिन्न व्यापारी वर्ग द्वारा, आवश्यक पदार्थों के, प्रधानतः प्रादेशिक, वस्तु-विनिमय का परिमाण अधिक बढ़ गया था। स्थल के व्यापार-मार्गों में अवरोध और ईसा की तीसरी शताब्दी में रोम साम्राज्य का लगभग पतन भी पूरक कारण रहे हो सकते हैं। दूसरे गांवों और शहरों की वृद्धि होने पर यह अनुभव होने लगा कि बड़े पैमाने पर व्यापार और वित्त की दृष्टि से मठ सुविधाजनक स्थान में स्थित नहीं हैं। पर उनको इन स्थानों से हटाना भी संभव न था क्योंकि धर्म की दृष्टि से मुख्य कार्यों के लिए एकांत स्थान आवश्यक था, जो अंततः वित्तीय नहीं धार्मिक थे। बड़े-बड़े सार्थों का स्थान क्रमशः बंजारों (वाणिज्यकारों-व्यापारियों) और लमानों (लंबमानों) के छोटे समूहों ने ले लिया जो अभी तक मौजूद हैं। शक्तिशाली श्रेणियां टूट गयीं, उनके सदस्य दूर-दूर गांवों में बिखर गये; या सिकुड़कर उत्पादकों के दरिद्र जाति समूह बन गये जो मामूली लाभ के लिए जगह-जगह घूमते फिरते थे, जैसे बुरूद, बँसोर (बांस का काम करने वाले) और वैदलकार (टोकरी बनाने वाले) अभी तक भटकते हैं। उत्पादन बढ़ा, पर प्रतिव्यक्ति पण्य उत्पादन और दूरव्यापी विनिमय का विस्तार, दोनों में गिरावट आयी। लगभग छठी शताब्दी से दर्रों की रक्षा के लिए दुर्ग बन गये, जो सामन्ती परिस्थितियों का एक नया तत्त्व था। उनका प्रत्यक्ष कर्त्तव्य तो राज्य और यात्रियों की सुरक्षा करना था पर वास्तव में वे सार्थों से मार्ग-कर वसूल करने से अधिक कुछ न करते थे। सबसे बुरी बात यह थी कि पीतल, कांसा जैसी मूल्यवान धातुओं का बड़ा भाग मठों में बन्द पड़ा था, जिसकी मुद्रा, बर्तनों और औजारों के लिए तीव्र आवश्यकता थी। अन्ततः चीनी सम्राटों को भी बौद्ध मठों और मन्दिरों में मूर्तियों के लिए धातु के उपयोग का निषेध करने के लिए आदेश निकालना पड़ा था। भारत में आवश्यक आर्थिक उपाय भी, प्रायः धर्मशास्त्रीय पुछल्लों के साथ, धार्मिक परिवर्तन के रूप में प्रकट होते थे। मठों को तो विदा लेनी पड़ी, पर उनके चिह्न नहीं मिटाये गये। जिन प्राचीन मातृदेवियों के आद्य पूजा-स्थल इन मठों के समीप थे और जिन्हें बौद्ध धर्म ने विस्थापित कर दिया था, कभी-कभी वे ही ठीक उन्हीं स्थानों पर लौट आयीं। कभी-

कहीं उन्होंने उजड़े हुए मठों पर भी दखल जमाया; जुन्नार में मातृदेवी का मान-मोदि् नाम युगों से उसी स्थान पर चला आता है। कार्ले में विशाल पाषाण स्तूप को देवी यमाइ के साथ जोड़ा जाता है। पर बौद्ध स्थलों पर इन देवियों के समक्ष रक्त-वलि या तो बन्द कर दी गयी या किसी दूर स्थान पर हटा दी गयी। उत्तरी कुषाण हल, जो महाराष्ट्र के कुछ भागों में आज भी प्रचलित है, सामान्यतः इन बौद्ध गुफाओं के समीप ही मिलता है। सोलहवीं शताब्दी के महान् मराठा संत तुकाराम बुद्ध को (जिनके बारे में वह बहुत कम जानते थे) और अपने देवता विठोवा को एक ही मानते थे। यह निश्चय ही आकस्मिक नहीं है कि वे उन्हीं बौद्ध गुफाओं में ध्यान करते और वहीं अपने सरल धार्मिक पदों की रचना करते थे।

ऐसे परिवर्तनों की आर्थिक जड़ें एक अन्य संदर्भ में और भी स्पष्ट प्रकट होती हैं। कश्मीर के राजा हर्ष ने (१०८९-११०१ ईस्वी; सातवीं शताब्दी का सम्राट् हर्ष नहीं,) केवल चार को छोड़कर अपने राज्य-भर की समस्त धातु की मूर्तियों को गलवा डाला था। यह कार्य एक विशेष मन्त्री 'देवोत्पातन नायक' के अधीन करवाया गया। प्रत्येक मूर्ति को पहले सड़कों पर घसीटकर ढलाईघर में ले जाने से पहले कुष्ट रोगी भिखारियों द्वारा मलमूत्र डलवाकर सार्वजनिक रूप से भ्रष्ट किया गया। इसके लिए कोई भी धार्मिक बहाना नहीं बनाया गया था। राजा के कुछ भाड़े के मुसलमान अंगरक्षक भी थे; पर उसने उन्हें सुअर का मांस खाकर जान-बूझकर बेमतलब क्षुब्ध किया। फिर भी यह हर्ष सुसंस्कृत व्यक्ति था, उत्कृष्ट साहित्यिक, तथा नाटक, संगीत और नृत्य का मर्मज्ञ था। ब्राह्मणों का वह केवल यथोचित समर्थन करता था, और एक गुरु का भी सम्मान करता, जिसके कहने पर ही, वास्तव में वे चार मूर्तियाँ बच सकी थीं जिनमें से दो बुद्ध की थीं। दरअसल राजा को अपने डामर सामन्तों के विरुद्ध भीषण और व्ययसाध्य युद्धों के हेतु धन जुटाने के लिए धातु की आवश्यकता थी। कश्मीर पर मुसलमानों का अधिकार चौदहवीं शताब्दी में एक भी प्रहार और परवर्ती लूटमार और अत्याचार के बिना ही हो गया।

राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन

मौर्यों के बाद के भारतीय राजवंश यथेष्ट सुविदित हैं, यद्यपि उनका कालक्रम कहीं सुनिश्चित नहीं है और न किसी राज्य के विस्तार की सीमा ही। अलग-अलग राजा किस्से-कहानियों की सुखद अस्पष्टता में डूबे हैं। परवर्ती कश्मीर-संबंधी एक रूपरेखा और संभवतः चंबा के शासकों की वंशावली को छोड़कर राजदरबारों के कोई इतिवृत्त उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी प्रमुख नाम गिनाये जा सकते हैं। मुख्य

विभाग हैं, कुषाण काल, सातवाहन काल, गुप्त काल, हर्ष-पूर्व काल और फिर ह्रास काल। बहुत-से साहसी राजा पूरे उप-महाद्वीप-भर में आगे-पीछे हमले करते रहे। किंतु गाँवों में इस बात की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया कि ऊपर चोटी पर क्या होता है। कहानी का पूरा सार शायद यही है।

असोक के बाद जो आधा दर्जन मौर्य राजा हुए, वे संभवतः उसके साम्राज्य के विभिन्न भागों में एक ही समय में राज कर रहे हों, क्योंकि प्रत्येक भाग की अपनी प्रमुख समस्याएँ थीं। इतना स्पष्ट है कि असोक के उत्तरवर्त्तियों ने मूल नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया। असोक के पौत्र दशरथ ने बराबर गुफाएँ आजीवकों को भेंट कीं, और एक अन्य उत्तरवर्ती सम्प्रति जैन धर्मावलंबी हुआ। मौर्य नाम की प्रतिष्ठा, राजसत्ता चले जाने के बाद भी, बहुत दिनों तक बनी रही। 'असोक के अंतिम वंशधर' मगध के पूर्णवर्मन ने शशांक के विध्वंसकारी आक्रमण के बाद गया में बोधि-वृक्ष का और बौद्ध प्रतिष्ठानों का पुनरुद्धार किया। मध्ययुगीन राजपूत कुलों के पारंपरिक संस्थापक बाप्पा रावल ने राजस्थान में एक स्थानीय मौर्य को हराकर अपना राज्य स्थापित किया। ऐसे छुटभैये 'मौर्य' दसवीं शताब्दी तक, दक्षिण में गोआ तक में, मिल जाते थे। चंद्रगुप्त मौर्य के अमिट प्रताप के कारण ही शायद मराठा नाम चंद्रराव मोर उपाधि बन गया होगा, जैसा वह सत्रहवीं शताब्दी में माना जाता था।

अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ की, ई० पू० १८८ के आस-पास, उसके ही प्रधान सेनापति, सुंगवंश के पुष्यमित्र ने सैन्य निरीक्षण के अवसर पर हत्या की। सुंगों ने यज्ञ फिर से प्रचलित किया, पर उनके दुर्बल सैनिक कार्य को देखते हुए लगता है कि वह बहुत प्रभावकारी नहीं रहा होगा। खारवेल नामक एक बर्बर ने शक्ति और सत्ता प्राप्त करके कलिंग को दूर तक रौंद डाला और इस प्रकार असोक की विजय को पलट दिया। यूनानी पहले ही मौर्यों के प्रादेशिक राज्यपाल सुभगसेन से काबुल घाटी छीनकर, अपनी शब्दावली में, 'भारत को जीत चुके' थे। अब वे युकेटिडीज़ के नेतृत्व में पंजाब में बढ़ आये। विख्यात मिनेन्डर ने सियालकोट में अपनी राजधानी बनायी, जहाँ से उसने गंगा घाटी में, फ़ैज़ाबाद और शायद पटना तक, हमले किये। उज्जैन के आस-पास का प्रदेश ही सुंग शासन का अटल आधार रहा, पर यहाँ भी ईसा पूर्व पहली शताब्दी तक दक्षिण से सातवाहन छापे मार चुके थे। बिखरे हुए प्रासंगिक उल्लेखों से कठिनतापूर्वक संकलित इस कथा के अतिरिक्त हमारे पास राजाओं की परस्पर-विरोधी सूचियाँ मात्र हैं। किन्तु यह भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण युग था। सांची की अद्वितीय मूर्तियाँ और स्थापत्य, जहाँ के बौद्ध स्मारक ही प्रायः अक्षुण्ण बचे रहने वाले स्मारकों में भारत में सबसे प्राचीन हैं, सुंग

काल तक निरंतरता प्रस्तुत करते हैं और अपने ढंग के बेजोड़ हैं। पतंजलि का व्याकरण और संस्कृत गद्य, जिसका पहले उल्लेख हो चुका है, पुष्यमित्र शुंग के समय के ही हैं। तक्षशिला के शासक आंतियालकिडास के यूनानी राजदूत हेलिओडोरस ने भिलसा में एक गरुड़ शीर्ष स्तंभ समर्पित किया। उसमें वह अपने को कृष्ण-भक्त कहता है; स्तंभ के शिलालेख की भाषा प्राकृत है, जिसका शब्द-विन्यास स्पष्टतः यूनानी भाषा जैसा है। इससे हमें कृष्ण-पूजा के प्रसार के विषय में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त होती है। यदुओं के श्याम नायक को परमेश्वर अथवा विष्णु-नारायण के अवतार का पद अभी प्राप्त नहीं हुआ था। उस युग की अन्य मूर्तियों और अभिलेखों से प्रकट होता है कि उसके हलधर भाई संकर्षण को, और कभी-कभी अन्य यदु वीरों को भी, प्रायः उतनी ही प्रतिष्ठा प्राप्त थी। दूसरे शब्दों में, कबीले के बहुत पहले ही विलुप्त हो जाने के बावजूद, उपासना विधि की कबीलाई विशेषताएँ अभी नहीं मिटी थीं। शुंगों ने अपनी वंशानुगत उपाधि 'सेनानी' राजा बनने के बाद भी नहीं छोड़ी थी, किन्तु इसके तथा यज्ञों के बावजूद उनकी सफलता युद्ध की बजाय सैन्य प्रदर्शन और संस्कृति के क्षेत्रों में ही अधिक थी। शताब्दियों बाद पुष्यमित्र के पुत्र की प्रेम-कथा, जो उज्जैन में राज-प्रतिनिधि था, कालिदास के नाटक **मालविकाग्निमित्र** की विषयवस्तु बनी। ब्राह्मणों की स्मरण-शक्ति पर शुंगों के दावे की कुछ उपयोगिता तो थी ही, यद्यपि वह इतनी प्रबल सिद्ध न हुई कि दसवें और अंतिम शुंग राजा के ब्राह्मण मंत्री काण्वायन को अपने स्वामी की हत्या करके सिंहासन हड़प लेने से रोक सके। इस प्रकार सिंहासन एक अल्पजीवी ब्राह्मण राजवंश के अधिकार में पहुँच गया।

भारतीय नाटक, महाकाव्य और संस्कृति पर यूनानी प्रभाव के प्रश्न पर हर समीक्षक अपने-अपने विशेष पूर्वग्रहों के अनुसार विचार करता है। यहाँ प्रमाणों के अभाव में उसकी चर्चा नहीं की जायगी; वैसे भी उपलब्ध सामग्री को देखते हुए वह प्रभाव नगण्य ही जान पड़ता है। भारतीयों ने यूनानी (अथवा पूर्ववर्ती) ज्योतिष से अवश्य कुछ ग्रहण किया; पर यूनानी ज्यामिति जैसी प्रखर बौद्धिक उपलब्धि का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बीजगणित भारतीयों का ही विशेष आविष्कार था। गणित-संबंधी चिंतन में प्रमुख यूनानी योगदान था सुस्पष्ट प्राक्कल्पनाओं के आधार पर प्रमेयों को परिशुद्ध रूप में प्रमाणित करना; पर भारत में उसकी ओर ध्यान तक नहीं गया। आप्रवासी यूनानियों पर भारतीय प्रभाव का विवेचन पहले ही हो चुका है। पंजाब के घटते हुए यूनानी राज्यों को अंत में ५० ई० पू० में पश्चिम में चढ़ाई करने वाले शकों ने समाप्त कर दिया। ये बर्बर हमलावर ब्राह्मणों की दृष्टि से तो शीघ्र ही सभ्य हो गये, जैसा कि रुद्रदामन के उदाहरण से प्रकट है। उन्होंने पश्चिमी तट पर

बहुत से व्यापारिक बंदरगाहों पर भी अधिकार कर लिया और टुकड़ों में बँटकर छोटे-छोटे राज्य बना लिये जिनकी सीमाएँ निरंतर बदलती रहती थीं।

पश्चिमी तट के विकास का वास्तविक कारण नारियल था। यह नारियल का वृक्ष, जो आज पश्चिमी तट की संपूर्ण अर्थव्यवस्था का आधार बना हुआ है, संभवतः मलयेशिया से आया था। पूर्वी तट पर इसकी पैदावार ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के मध्य से होने लगी थी और पश्चिमी तट पर यह एक शताब्दी बाद पहुँचा। १२० ईस्वी तक दीनीक के पुत्र और सिंहासनारूढ़ राजा (उपाधि : खखराट) नहपात्र के दामाद शक उषवादत ने पूरे बाग़ के बाग़, जिनमें से प्रत्येक में कई हज़ार नारियल के वृक्ष होते थे, ब्राह्मणों को दान करना शुरू कर दिया। उषवादत बौद्धों के प्रति भी उदार था, पर तटवर्ती प्रदेश में उसकी पहुँच के भीतर कोई गुफ़ा मठ न था। आज नारियल प्रत्येक भारतीय अनुष्ठान और कर्मकांड में आवश्यक समझा जाता है, पर ईस्वी छठी शताब्दी से पहले देश के बहुत-से भागों में लोग उससे बहुत परिचित न थे। यह भारतीय प्रथाओं की अपरिवर्तनीयता और शाश्वतता पर उपयोगी टिप्पणी है। इस वृक्ष की लकड़ी, रेशा और शराब तथा अन्य वस्तुएँ भी अत्यंत मूल्यवान हैं; स्वयं गिरी को पकाकर पकवान बनाया जा सकता है, सुखाकर उससे उत्तम कोटि का खाद्य तेल निकलता है, जिसका साबुन बनाने के लिए भी उपयोग होता है। पश्चिमी तटवर्ती पट्टी को (जहाँ सघन वर्षा और गर्म जलवायु के कारण नारियल भली-भाँति हो सकता है) इस वृक्ष और उसके भरपूर उपयोग पर आधारित भारी पण्य-उत्पादन के बिना, इतनी सघन आबादी के साथ बसाना तो दूर, उसके घने जंगलों को साफ़ करना तक असंभव होता। दक्षिणापथ के तीखे ढलानों के दर्रों के द्वारा उनके व्यापार ने सार्थवाहों को अधिक समय तक जीवित रखा; वे यहाँ से नमक और नारियल ले जाते और बदले में पठार से कपड़ा और धातु के बर्तन तथा ऊपरी प्रदेशों से अनाज ले आते थे।

उत्तर में ७८ ईस्वी से लगाकर तीसरी शताब्दी तक कुषाणों के प्रबल प्रतापी राजवंश का साम्राज्य रहा, जो चौथी शताब्दी में पूर्व और पश्चिम से होने वाले आक्रमणों के कारण धीरे-धीरे जर्जर होते-होते मिट गया। कुषाणों का राज्य उनकी मध्य एशियायी जन्मभूमि से लगाकर पंजाब और उत्तरप्रदेश तक फैला, इसलिए पुराने उत्तरापथ के व्यापार और एशियायी हृदय देश में उसके प्रसार का पुनरुद्धार हुआ; और उसी के साथ बौद्ध सिद्धान्तों और भारतीय संस्कृति का भी प्रसार हुआ। कुषाण वंश के संस्थापक कनिष्क प्रथम ने किसी नाम के बिना केवल 'महाराजा' की उपाधि और शैली से सिक्के चलाये। स्वर्ण-मुद्राओं पर अंकित कनिष्क सम्भवतः इस पहले

कनिष्क का पौत्र था। संस्थापक कबीले का प्रधान था जिसका सुर्ख-कोताल अभिलेख में वैदिक तथा ईरानी शैली में दैवीकरण किया गया है। उसके उत्तराधिकारियों ने असोक की भाँति सभी धर्मों को संरक्षण दिया और विशालतम स्तूप बनवाये। उनके सिक्कों पर बुद्ध, शिव और नन्दी, मातृदेवी ननइया (चीनी : नाइ-नाइ) का नाम आदि विविध प्रतीक अंकित हैं। कुषाण टकसालों को सिकंदरी पद्धति ज्ञात थी और वे उसी का उपयोग करती थीं; यह पद्धति उस समय रूमी सम्राटों को भी पता थी और जान पड़ता है कि उन्होंने भी संभवतः उसी राजधानी के अभिकल्पकों को अपने यहाँ काम दिया था। चाँदी के सिक्कों के क्रमशः लोप होते जाने से प्रकट होता है कि उत्तर का व्यापार अधिकाधिक बड़े-बड़े सामंतों के उपभोग में आने वाली, मूल्यवान विलास सामग्री, रेशम, केसर, रत्न, मदिरा आदि का ही होता था। किसानों को स्थानीय रूप से वस्तु-विनिमय द्वारा काम चलाना पड़ता था। अर्थशास्त्र की उत्पादन पद्धति तथा धातु पर राजकीय एकाधिकार की प्रथा निर्विवाद रूप से त्यागी जा चुकी थी। इस दृष्टि से भारत-यूनानियों के शानदार मानवाकृतियुक्त सिक्कों की तुलना में शुंगों के सिक्के देखने में बड़े तुच्छ और दरिद्र लगते हैं। आहत-मुद्रा का युग उत्तर में मौर्यों के बाद समाप्त हो चुका था, यद्यपि पुराने सिक्के नयी ठप्पे से बनी या ढली हुई मुद्रा के साथ-साथ चलते थे। रुद्रदामन, नहपान और उनके परवर्तियों द्वारा बहुत-से चाँदी के सिक्के बनाये जाने से यह प्रकट होता है कि समृद्धिशाली उत्तरी साम्राज्य के, जहाँ पण्य-विनिमय केवल विलास सामग्री का ही होता था, और दक्षिण तथा पश्चिम में नवोदित समुदायों के बीच, जहाँ निर्माण और व्यापार अधिक आवश्यक वस्तुओं का भी होता था, कितना अन्तर है। इस बात की कल्पना करना कठिन है कि दूसरी शताब्दी में उत्तर के लुहार और मछुवे इतने समृद्ध थे कि मठों को उल्लेखनीय दान दे सकें जैसा कि दक्षिण में बहुतों ने किया।

सातवाहन, जिनके विषय में प्रसंगतः बहुत-कुछ पहले ही कहा जा चुका है, बावरी के समय के अज्ञात 'अश्व जनों' के मुखियाओं से बढ़कर ब्राह्मण शैली में चातुर्वर्ण्य समाज के राजा हो गये। परवर्ती काल में उनका जन्म एक ब्राह्मण विधवा से माना गया जिसका गोदावरी नदी के एक कुंड पर, 'उन दिनों जब पाइथन एक पुरवा था', किसी नाग ने अपहरण किया था। यह समझ लेना चाहिए कि यद्यपि पूरे प्रायद्वीप में ताँबे और लोहे की बड़ी माँग थी, सातवाहनों ने रूमी साम्राज्य के साथ विलास सामग्री के व्यापार से भी बहुत लाभ उठाया। भूमध्यसागर के मूंगे की भारत में उतनी ही माँग थी जितनी भारतीय गोमेद और रत्नों की पश्चिम में। यह बात दस्तावेज़ों और पुरातत्त्व दोनों से प्रकट है कि रूमी-यूनानी दुनिया के सीसे, ताँबे, चाँदी और शराबों की, घरेलू कामकाज के लिए दासों की, रखैलों तथा नर्तकियों की

और कला-कौशल की वस्तुओं की भारत में बड़ी माँग थी। बदले में भारतीय कपड़ा, मसाले, हाथीदाँत और चमड़े का सामान बाहर भेजा जाता था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, श्रेणियों और नयी बस्तियों की शीघ्र वृद्धि के लिए वित्त और चलती पूंजी (व्यापारियों और) मठों से प्राप्त होती थी। दक्षिणी पठार पर नवपाषाण युग के पशुचारियों, अधिकांशतः गोधन वालों के बड़े-बड़े समूह नदी-घाटियों में ऊपर से नीचे तक भटकते रहे थे। उनकी स्मृतियाँ और प्राग्-ऐतिहासिक महापाषाण और साथ ही तत्कालीन इक्का-दुक्का पूजा-स्थल अभी तक बने हुए हैं। कृषि के लिए केवल भारी हल और लौह-कर्म के ज्ञान की आवश्यकता थी, जो दोनों मूलतः उत्तर से ही प्राप्त हुए थे। मगर उर्वर काली मिट्टी, जो उसमें पैदा होने वाली कपास के कारण इतनी प्रसिद्ध है, अपेक्षया छोटे आकार के स्थलों में मिलती है। ये स्थल लगातार बस्ती के लिए उतने उपयुक्त नहीं हैं जितने उत्तर की नदियों के रसौढ़ क्षेत्र। इसलिए हम सातवाहन अभिलेखों में पहले-पहल सेना गुल्मों के स्वतंत्र पुलिस टुकड़ियों के रूप में काम आने की बात पाते हैं। इसका अर्थ था कि शक्तिशाली स्थायी सेना, जिसके बिना किसी सुसंगठित आक्रांता का प्रतिरोध सम्भव न था, बड़े पैमाने पर संयुक्त क़वायद और सैनिक अभ्यासों के अभाव में विघटित होने लगी थी। पर देश-भर में बिखरी छोटी-छोटी टुकड़ियों के रूप में सेना के पालन में ख़र्च कम था। इस प्रथा ने भी परवर्ती सामन्तवाद को प्रश्रय दिया। प्राकृत साहित्य की सर्वोत्तम सृष्टि सातवाहनों के काल में ही हुई, जिनका शासन तीसरी शताब्दी में विघटित हो गया। उस साहित्य की अधिकांश कृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं; **कथासरित्सागर** जैसी कुछ-एक केवल संस्कृत पद्य रूपान्तरों में बच रही हैं। सात सौ छन्दों की **सत्तसई**, जिसका श्रेय सातवाहन राजा हाल को दिया जाता है (पर वास्तव में जिसमें बहुत-से परवर्ती क्षेपक हैं), सुन्दर और आकर्षक रचना है, यद्यपि यह सुन्दरता बहुत-कुछ शैलीगत है। यह वह युग था जब दक्षिणी पठार में अधिकांश व्यापारिक माल शिल्पियों की श्रेणियों द्वारा छोटे-छोटे नगरों में तैयार होता था जहाँ एक प्रकार की नागर संस्कृति निर्मित हो गयी थी। इसी परम्परा का प्रतिनिधि वात्स्यायन के **कामसूत्र** का 'नागरक' है। सातवाहनों के काल में ही, एक लम्बी परम्परा के अन्त में लिखित यह ग्रंथ जान-बूझ कर **अर्थशास्त्र** के नमूने पर रचा गया है। किन्तु उसका विषय राज्य का नहीं काम का शास्त्र है। काम-जीवन के सभी पक्षों पर वैज्ञानिक ढंग से दो-टूक विचार किया गया है: सामाजिक, वैयक्तिक, शारीरिक, मानसिक, परिवार तथा उत्तान विषय-भोग विषयक। पर फिर भी ग्रंथ न तो अश्लील है, और न उन दिनों भूमध्यसागरीय प्रदेश में लोकप्रिय विकृत यौनाचार-सम्बन्धी सिकन्दरी ग्रंथों से उसकी तुलना की जा सकती है। **कामसूत्र** में कामकला निस्संदेह शातोब्रियाँ के आदर्श विरह की कोटि की

नहीं है; पर समस्त स्पष्टवादी कामुकता के बावजूद उसमें एक प्रकार की निष्कपट सरलता है जो देश और काल के अनुरूप है। उसमें अल्प समय के लिए ग्राम भ्रमण के लिए जाने वाले नागरिक को सलाह दी गयी है कि वह सुसंस्कृत वार्तालाप, कुशल गल्प, शिष्टतापूर्ण कार्य, संगीत और गीत, नृत्य और मदिरापान के साथ-साथ शिष्ट ढंग से समस्त प्रकार के काम साधन के लिए अपने ग्रामीण बन्धुओं की गोष्ठियां स्थापित करे। कुछ इक्का-दुक्का उदाहरणों में सातवाहन दरबार के काम जीवन का भी उल्लेख है। इसी प्रकार, पाइथन का अधिष्ठाता यक्ष, जो ईस्वी चौथी शताब्दी के बहुत पहले से खंडक कहलाता था, स्थानीय शिव हो गया। मूल खंडोबा नाम से उसकी पूजा सारे महाराष्ट्र में फैल गयी, जिसका केन्द्र जेजुरी है और जिसके भक्तों की सभी जातियों में प्रबलता है। उसके विशेष स्त्री और पुरुष सेवक अभी तक मूल पूजा के उन्मत्त आदिम स्वरूप को प्रकट करते हैं। स्वभावतः, जैसाकि ऐसी लाभदायक धार्मिक स्थिति में होना अपेक्षित है, इस पूजा का प्रमुख लाभ ब्राह्मण पुरोहित ही उड़ा लेते हैं।

पूर्वी तट और दक्षिणी सिरे का भी सातवाहन काल में बहुत विकास हुआ, यद्यपि सुदूर दक्षिण पर कभी उनका शासन नहीं रहा। गोदावरी के मुख के समीप नागार्जुनकोंडा में तथा कांची में प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र दूसरी शताब्दी के पहले ही स्थापित हुए थे। दोनों में वही प्रक्रिया कार्यशील है जो इस युग में अन्यत्र दिखाई पड़ती है, अर्थात् बड़े-बड़े मठीय प्रतिष्ठानों की प्रेरणा से, जो पूंजी संचय भी करते थे और उपलब्ध भी कराते थे, आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार और नागरिक विकास।

पेशेवर इतिहासकारों के लिए दक्षिण के राजवंशों की सूची बड़ी आकर्षक है: इक्ष्वाकु, पल्लव, बाण, कदम्ब, चेदि, कलचुरि, चालुक्य, चोल, पांड्य, चेर तथा अन्य अनेक राजाओं के नामों से सूची रोचक होकर भी प्रायः निरर्थक है। उनके ब्यौरे मध्यकालीन भारतीय इतिहास के ग्रंथों में मिल जाते हैं जो प्रायः पारस्परिक उत्संस्करण की उपेक्षा करते हैं। 'उच्चतर' ब्राह्मण संस्कृति कबीलों के लोगों पर आरोपित की गयी या उन्होंने अपना ली, जबकि आदिम तत्वों को ब्राह्मणों ने पारस्परिकता के भाव से स्वयं आत्मसात किया।

अन्तिम सातवाहनों और प्रथम गुप्तों (ईस्वी चौथी शताब्दी) के बीच छोटे-छोटे आक्रमणों और आदिवासी प्रमुखों द्वारा राजा बनने का एक दौर है। इन आदिवासी प्रमुखों में गांगेय मैदानों के तथा जंगलों के भी बहुत-से नाग थे जो भारत के मध्य में होकर दक्षिण की ओर पहुँच गये थे। ऐसा प्रयास करने वालों में कुछ भील भी थे, जिनका ई० पू० ५७ के आस-पास शकों ने संहार किया। इन शकों को जैनाचार्य कालक ने आमन्त्रित किया था, जिसकी बहन के साथ एक गर्दभील राजा ने

बलात्कार कर डाला था। देश के बड़े भाग में परस्पर युद्धरत छोटे-छोटे अनेक राज्य उत्पन्न हो गये थे, यद्यपि जंगलों की और अविकसित भूमि की अभी कोई कमी न थी। सामान्यतः उपद्रवग्रस्त देश में समाज मुख्यतः खेतिहर था।

प्रथम दो गुप्त राजा श्रीगुप्त और घटोत्कच तो केवल नाम मात्र हैं, और वे वंश के वास्तविक संस्थापक, घटोत्कच के पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम (३२०-२५ ईस्वी) द्वारा सम्मानपूर्वक उल्लेख के कारण ही ज्ञात हैं। वंश के अन्य सभी राजाओं के नामों के अन्त में 'गुप्त' पद है जिससे 'गुप्त वंश' नाम पड़ा। यह राजवंश विख्यात पूर्वजों का दावा न कर सकता था, किसी उच्च कबीले से उद्‌गम का भी नहीं। प्रत्येक राजा ने अनेक मनमानी गौण उपाधियाँ भी धारण कर रखी हैं, जिससे इतिहासकार का काम और भी जटिल हो गया है। इस वंश को मान्यता मिलने में, जिसे मौर्यों की भाँति कोई कुल का आधार प्राप्त न था और जिसका उद्‌भव सदा अस्पष्ट रहा, लिच्छवियों की कुमारदेवी से चंद्रगुप्त प्रथम का विवाह एक बड़ा भारी योग था। उसके सिक्कों पर राजा और रानी दोनों के नाम अंकित किये गये और उनका पुत्र अपनी माता के कुल गर्व करने से नहीं चूकता। जहाँ तक अनुमान लगाया जा सकता है, चंद्रगुप्त प्रथम ने कोसल और मगध के कुछ भागों पर नये राजवंश के अधिकार को सुदृढ़ किया। चरम विजय उसके पुत्र समुद्रगुप्त (लगभग ३३५-७५ ईस्वी) के साथ आयी जो पूरे देश को अधीन करने का गर्व करता था। उसकी एक (मरणोपरांत) प्रशस्ति उस अशोक स्तंभ पर खुदी है जिसे कोसाम्बी से हटाकर इलाहाबाद के क़िले में लगाया गया था। यह प्रशस्ति भाषा, शैली और विषयवस्तु सभी बातों में पास ही उत्कीर्ण महान् मौर्य के सरल शब्दों से अत्यधिक भिन्न है। यह अलंकृत तथा समस्त पदों से भरपूर कठिन संस्कृत में लिखी हुई है और केवल विजयों की घोषणा मात्र है। एक के बाद एक राजा का नाम लेकर बताया गया है कि अमुक का संहार कर डाला गया, अमुक परास्त हुआ, अमुक ने मित्रता की प्रार्थना की। असोक के काल में राजा कहलाने योग्य कोई अन्य शासक थे ही नहीं। इन नये और छोटे-मोटे अथवा पुराने और पतनशील राज्यों का समुद्रगुप्त ने सफ़ाया कर दिया जिससे देश में शांति और समृद्धि स्थापित हुई। बहुसंख्यक पराजित रजवाड़ों से लूटी गयी संचित अतिरिक्त उपज से एक वैभवशाली किन्तु सुसंस्कृत राजसभा तथा सशक्त सेना के दीर्घ काल तक पालन करने में सहायता मिली। पर उस समय कर बहुत कम थे, जिसका उल्लेख चीनी यात्रियों ने भी किया है और इन गुप्त राजाओं के ताम्रपत्रों द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है। किन्तु विजयों की सूची के कारण महत्त्वपूर्ण सैनिक उपलब्धियाँ उपेक्षित हो जाती हैं। समुद्रगुप्त ने नौ नाग राजाओं का तो आर्यावर्त में ही उन्मूलन किया, और 'जंगली जातियों के सभी राजाओं को दास बना लिया'।

ये जंगली राजा इतने महत्त्वपूर्ण नहीं कि नाग शासकों की भाँति अलग-अलग उनके नाम गिनाये जाते, पर वे स्पष्ट ही उसी घटना की पूर्ववर्ती अवस्था के सूचक हैं। इन असंख्य जंगली सरदारों को छोटे पैमाने की कृषि के समावेश के कारण पुरानी वस्तियों पर चढ़ाई करने में सहायता मिलती थी, और इनकी यह गतिविधि प्रत्येक मामले में अलग से चाहे जितनी तुच्छ हो, पर समग्र रूप में उससे इतनी गड़वड़ी पैदा होती थी कि वड़ी परेशानी होने लगती थी। समुद्रगुप्त ने शांतिपूर्ण आहार-उत्पादन की इस अंतिम वाधा को भी गांगेय हृदयदेश से दूर कर दिया। विभिन्न कोटि के जंगली कवीले, जो आहार-उत्पादन और सगोत्रता की ओर कमोवेश वढ़ रहे थे, अव केवल सीमावर्ती क्षेत्रों में—नेपाल, आसाम और मध्यभारत के जंगलों में—रह गये। इस भाँति छठी शताव्दी में मगध द्वारा प्रारंभ कार्य, जिसे **अर्थशास्त्र** के राज्य ने भूमि की सफ़ाई के रूप में चालू रखा और जिसे आटविक मुखियाओं को भेजे गये अशोक के 'धम्म दूतों' ने अधूरा छोड़ दिया, अव जाकर चौथी शताव्दी के अन्त में वलप्रयोग द्वारा पूरा हुआ। गुप्तों के वाद आटविक समस्या उपेक्षणीय हो गयी। चंद्रगुप्त द्वितीय (३७६-४१४ ई०; विक्रमादित्य उपाधिधारी और वहुत-सी किंवदंतियों के नायक) ने एक नाग राजकुमारी कुवेरनागा से भी विवाह किया; उसके अतिरिक्त अन्य रानियाँ थीं जिनमें उसके भाई की विधवा ध्रुवस्वामिनी भी थी जिसे उसने वड़े रोमेंटिक ढंग से छुड़ाया और प्राप्त किया। इसी राजा के काल में फ़ाहियान भारत आया और उसने देश में इतनी शांति और समृद्धि देखी कि वर्णन करना कठिन था। कुवेरनागा और चन्द्रगुप्त की पुत्री का विवाह दक्षिण के वाकाटक राजा से हुआ और वह अपने पुत्र की अवयस्कता के समय प्रतिशासक के रूप में शासन करती रही। इस भाँति भारत का अधिकतर भाग, और आसाम, अफ़गानिस्तान तथा संभवतः मध्य एशिया के सद्यविजित क्षेत्र, उस समय गुप्त साम्राज्य के अधीन अथवा उसके प्रभाव-क्षेत्र में आ गये थे; और वंगाल में तो वास्तव में अव पहली वार प्रवेश हुआ। पटना अभी तक वड़ा नगर था, यद्यपि असोक का महल खंडहर हो चुका था।

(ह्रास की प्रक्रिया इतनी धीमी और क्रमिक थी कि वर्तमान पुस्तक जैसी रचना हर्ष के वाद किसी भी तिथि पर समाप्त की जा सकती है। सामंती आधार के विना गाँवों तक पहुँचने वाला तथा व्यक्तिगत रूप में प्रशासित अंतिम महान् साम्राज्य हर्ष का ही था। मुहम्मद इब्न अल-कासिम के नेतृत्व में पहला मुसलमानी आक्रमण (७१२ ईस्वी) मुलतान तक पहुंचकर लौट गया। मगर अरवों ने शीघ्र ही सिंध पर स्थायी अधिकार कर लिया, जिससे उनका वढ़ाव मकरान तट के किनारे से जुड़ गया और इस भांति प्राचीन भारतीय व्यापार मार्ग का पुनरुत्थान हुआ। सर्वोत्तम नाविकों और युग के सवसे साहसिक व्यापारियों के रूप में, वहुत-से मुसलमानों ने हिन्दू

राजाओं के अंतर्गत बंदरगाह संचालक अथवा समकक्ष पद प्राप्त किया, जैसा गोआ, संजान तथा पश्चिमी तट के अन्य स्थानों में हुआ। पैग़म्बर की मृत्यु की एक शताब्दी के भीतर ही, मुसलमानों के व्यापारिक उपनिवेश कैन्टन तक फैल गये और उन्होंने अपने धार्मिक अधिकारों की स्थानीय शासकों द्वारा रक्षा की सावधानी से व्यवस्था कर ली, यद्यपि वे स्वयं दूसरों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा करने के लिए निश्चित रूप से तैयार न थे। महमूद गज़नवी के साथ जो गम्भीर आक्रमण शुरू हुए उनका बहाना मूर्तिभंजन था। १०२५ ई० तक बार-बार चढ़ाई करके उसने उत्तर के सर्वोत्तम मंदिरों को लूटा और ध्वस्त किया, जिनमें मथुरा और बनारस के मंदिरों के साथ-साथ काठियावाड़ में सोमनाथ का अद्वितीय समृद्धिशाली मंदिर भी था। उसके द्वारा लूटे गये वैभव के बाद के सभी आक्रमणकारी आकर्षित होते रहे, और बहुत-से अरबी विद्वानों द्वारा—जिनमें अल-बिरुनी (१०३१ ईस्वी) से महान् कोई न था—लिखे गये सुस्पष्ट और सुनिश्चित विवरण उत्तम पथदर्शिका का काम करते रहे। उत्तर पर स्थायी अधिकार मुहम्मद गौरी की विजय के साथ हुआ, जिसकी सेनाओं ने १२०५ ईस्वी तक उत्तर की दोनों विशाल नदी-द्रोणियों को रौंद डाला। राजधानी दिल्ली से देश का शासन चलाने के लिए वह जिन प्रतिनिधियों को छोड़ गया था, उन्होंने शीघ्र ही स्वतंत्र होकर अपने-अपने अलग मुस्लिम राजवंश स्थापित कर लिए जिनमें सम्राट् के गुलामों के रूप में शुरूकरने वाले ही धीरे-धीरे सेनापति बनकर फिर सिंहासन पर बैठ जाते। दक्षिण की लूट कोई सौ वर्ष बाद अलाउद्दीन खिलजी से शुरू हुई, जो उसके सेनापति मलिक काफ़ूर ने १३१२ ई० तक पूरी की। सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में निज़ामुलमुल्क दक्षिण में रहा पर मुसलमान साम्राज्य सदा टुकड़े-टुकड़े होकर प्रांतीय राज्यों में बँट जाता और उसके अपने-अपने सामंती प्रशासन स्थापित हो जाते।)

यह अब अर्थशास्त्र में वर्णित प्रकार का साम्राज्य न था और न अब असोक की भाँति धर्म से कोई विशेष सहायता लेने की ही आवश्यकता थी। धर्म पहले से ही प्रबल रूप में मौजूद थे; गुप्तों ने उन सभी की सहज रूप से सहायता की थी। अभिलेखों के लिए संस्कृत भाषा की स्वीकृति इस बात की सूचक थी कि एक व्यापक सुविकसित उच्चवर्ग ब्राह्मण पुरोहित समाज से सम्बद्ध है, पर साथ ही बौद्धों से भी उसका पूरा सद्भाव है, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण क़दम गाँव के स्तर पर उठाया गया जो प्रारंभिक गुप्त समृद्धि और परवर्ती पतन दोनों का कारण है। सबसे पहले तो जंगल के मुखियों में कमी और शांति के कारण गाँव बसने की प्रक्रिया अचानक ही तेज़ी से बढ़ी और इस बार व्यक्तिगत उद्योग के फलस्वरूप बढ़ी। बढ़े हुए उत्पादन से व्यापारियों को तो लाभ हुआ ही, अधिक राजस्व से राज्य भी समृद्ध हुआ। पर

गाँवों में आवश्यक वस्तुओं की माँग को कस्बे और नगर पूरा न कर पाते थे। रेशम के बुनकरों से लगाकर तेलियों तक, श्रेणियाँ अब भी फलती-फ़ूलती थीं; पर अब गाँव की ज़रूरतों को नियमित रूप से लाभपूर्वक पूरा न करना उनके लिए संभव न था। बड़े परिमाण में केन्द्रीभूत उत्पादन होने पर परिवहन की समस्या भी हल न हो सकती थी। चाँदी के सिक्कों की बढ़ती हुई कमी का उल्लेख किया जा चुका है। उपयोगी वस्तुओं की खरीद-बिक्री के लिए यही मुख्य आधार था जो अब आवश्यक न था, जब कि सोने के सिक्कों से प्रकट है कि विलास की वस्तुओं का व्यापार बहुत समृद्ध था। गुप्त काल के सिक्के चाँदी के इक्के-दुक्के ही मिले हैं, बड़े-बड़े संचयों के रूप में नहीं। असोक ने चाँदी की स्फीत मुद्रा से, और शकों और सातवाहनों ने चाँदी के छोटे-छोटे टुकड़ों पर, बल्कि सातवाहनों ने तो जस्ते के सिक्कों से काम चलाया था। किन्तु स्पष्ट है कि जितने कुल सिक्के चालू थे, वे बढ़ी हुई आबादी और नये बसने वाले गाँवों के अनुरूप परिमाण में पण्य-उत्पादन को सहारा देने के लिए पर्याप्त न थे, जैसा कि उदाहरण के लिए **अर्थशास्त्र** की अर्थ-व्यवस्था में संभव था। यह ज्ञात है कि सरकारी कर्मचारियों को वेतन निर्धारित भूमि की आमदनी के रूप में ही दिया जाता था, यद्यपि इन भूमियों ने पुश्तैनी सामंती जागीरों का रूप अभी नहीं लिया था। सरकारी निर्माण-कार्य के लिए अनिवार्य रूप से श्रम करना पड़ता था, पर उसका पारिश्रमिक मिलता था; नियमित सामंतवाद की भाँति, सबसे ग़रीब वर्गों से करों के बदले में मेहनत कराने की प्रथा अभी नहीं थी। इस व्यवस्था में सामंतवाद के बीज मौजूद थे, पर छठी शताब्दी के अंत तक वह सामंती हुई नहीं। मुख्य समस्या यह थी कि पण्य-उत्पादन और सर्वथा न्यूनतम नकद भुगतान के बिना ही गाँव को आत्म-सम्पूर्ण बनाने के लिए क्या किया जाय।

इस समस्या को ग्रामीण कारीगरों की प्रथा द्वारा सुलझाया गया। प्रत्येक गाँव में अब अपने अलग लुहार, बढ़ई, कुम्हार, पुरोहित, चमार नाई इत्यादि होने लगे। बाद में इन 'ग्रामीण कारीगरों' (नारु-कारु) की संख्या बारह निश्चित कर दी गयी। प्रत्येक को भूमि का एक टुकड़ा दे दिया गया जिस पर वह अपने खाली समय में खेती करे, या अपने परिवार के लोगों से कराये। इसके अतिरिक्त प्रत्येक को हर किसान परिवार की फसल में से छोटा-सा अंश (मराठी, बलुतेम) मिलना भी निर्धारित हुआ। इस युग का गाँव अपनी भूमि की और अंदरूनी मामलों की व्यवस्था सभापरिषद के द्वारा करता था। बंजर भूमि अभी भी बहुत थी जिसके स्थायी रूप से बाँटने के लिए राजकीय, तथा परवर्ती समय में सामंती, अनुमति आवश्यक थी। इस भाँति गाँव के कारीगर गाँव की व्यवस्था के अभिन्न अंग थे, अपनी सेवाएँ काम में लाने के लिए स्वतंत्रतापूर्वक भटकते रहनेवाले लोग नहीं; साथ ही

यदि मिलने वाले देय से काम न चले, तो उन्हें अलग से अपनी खेती करने की भी स्वतंत्रता थी। इस भांति तकनीकी आवश्यकताओं और परंपरा से निर्धारित देय में उचित संतुलन वना रहता था। ये कारीगर कई जातियों के लोग थे जिनमें से कोई भी किसानों और भूमिधरों की स्थानीय किसान उपजाति न हो सकती थी; फिर भी उनमें समूह के रूप में बड़ी एकता थी। उनके कार्य परंपरा से निर्धारित थे; जैसे, हलों, कुल्हाड़ियों और खोदने के औज़ारों का वनाना और मरम्मत करना, हर परिवार को वर्ष में निश्चित संख्या में वरतन पहुँचाना, आदि। अतिरिक्त काम के लिए या तो अतिरिक्त अनाज दिया जाता था या उन्हें उन विवाह, जुलूस, शवयात्रा आदि अनुष्ठानों से संवंधित भोजों में आमंत्रित कर दिया जाता था जिनके लिए वह अतिरिक्त काम आवश्यक हुआ हो। उसके वाद ग्रामीण समुदाय एक कड़ी, वंद और सक्षम इकाई वन गया। मुस्लिम सामंती अत्याचार के बुरे-से-बुरे दिनों में भी गाँव हताश होकर अंतिम उपाय द्वारा, अर्थात् सामूहिक स्थानांतरण द्वारा, अपनी रक्षा करता था। अवश्य ही इसके लिए फिर से वसने योग्य खाली ज़मीन उपलब्ध होना ज़रूरी था, इसलिए आज यह संभव नहीं है। इसके साथ ही जाति-व्यवस्था का संरक्षण तो था ही, जिसके कारण अन्य गाँवों में उसी जाति के लोग अपने मुसीवत में पड़े जातिभाइयों की सहायता करने को वाध्य थे। जाति प्रथा की सवसे निकृष्ट विशेषताएँ गाँव के जीवन से उत्पन्न हुई, पर साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उसमें एक ऐसा क्षतिपूरक तत्त्व भी मौजूद था जिसने जाति व्यवस्था को वचाये रखा।

यह स्पष्ट है कि ज्योंही इस प्रकार का ग्रामीण उत्पादन आम हुआ, वैसे ही श्रेणियाँ टूटने लगीं। गांव के वढ़ई इत्यादि के लिए भूमि के टुकड़ों का उल्लेख पहले-पहल गुप्तकालीन आज्ञापत्रों में होता है। इसलिए गुप्तकाल का योगदान दुधारा था: तुरंत सवके लिए अत्यंत लाभदायक; वाद में सशक्त और सुसंस्कृत समाज की प्रगति के लिए घातक। उसके वाद गाँव की संकीर्ण वृत्ति अटल होती गयी। किसान धीरज के साथ साम्राज्यों का उत्थान-पतन देखता हुआ अपने अधिकाधिक दयनीय होते जाने वाले भूमि के टुकड़े में डूवा रहता। नमक और धातु की प्राप्ति ग़रीव क़ाफिले वालों से वस्तु-विनिमय द्वारा हो जाती थी; पर उसके फलस्वरूप वाहरी दुनिया से कोई ऐसा संपर्क न हो पाता था कि उससे गाँव की संस्कृति का स्तर ऊँचा होने में सहायता मिलती। यदा-कदा मेलों और तीर्थयात्राओं से यह अलगाव वहुत किंचित् ही टूटता। नगरों की भी तेज़ी से अवनति हुई और ६०० ईस्वी तक पटना एक गाँव रह गया; राजदरवार और राजशिविर चलनशील राजधानी के समान हो गये।

ये परिवर्तन मध्ययुगीन मंदिरों के निर्माण में, तक्षणमूलक वस्तु की कई गतिशील प्रादेशिक शैलियों के उदय में, प्रतिविम्वित हुए। ये स्मारक साधारणतः राजनीतिक

सत्ता के केन्द्रों में बनाये गये और वे एक ओर राजकीय महत्त्वाकांक्षा के सूचक हैं और दूसरी ओर मध्ययुगीन हिंदूधर्म के लोकप्रिय उपासना-विधि-मूलक आधार के। बड़े-बड़े मंदिरों को राजकीय जागीरों से, भक्तों द्वारा चढ़ावों से, तावीज़ों और अनुग्रहों की विक्री से, प्रायश्चितों की दक्षिणा से, पितरों की आत्माओं को शांत करने के अनुष्ठानों से, लाभ होता था। सबसे निकृष्ट था देवदासियों की वेश्यावृत्ति से होने वाला भारी लाभ। अधिकांश धन वहुमूल्य मूर्तियों अथवा देवता के काम आने वाले रत्नों के रूप में था; या पुरोहित वर्ग और उनके पिछलग्गुओं की जेव में चला जाता था (इनमें से कुछ तो महाजन और व्यापारी थे जो अपने कब्ज़े में आयी मंदिर की सम्पत्ति के लिए सार्वजनिक रूप से उत्तरदायी भी न थे)। मंदिर की इमारतें वहुत वार नष्ट होने दी जाती थीं। ज्ञान के केन्द्र के रूप में किसी हिंदू मंदिर की वौद्ध मठों से कोई तुलना ही न हो सकती थी, सामंती राजदरवार किसी विशेष उदार शासन के अंतर्गत देशभर के विद्वानों को भले ही आकर्षित कर ले, पर न तो उसमें कोई निश्चितता थी और न निरंतरता। प्रतिभाओं का ऐसा जमावड़ा संरक्षक-विशेष की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता था, जैसे धार के राजा भोज अथवा कन्नौज के हर्ष का दरवार। वनारस जैसे तीर्थों में मंदिर अथवा दरवार से असंवद्ध कुछ व्यक्ति होते थे जो थोड़े-से ग़रीब किंतु मेधावी शिष्यों को स्वीकार करके भारत की वौद्धिक धरोहर को जीवित रखते थे। गाँव का औसत ब्राह्मण विरला ही कहीं कुछ सीखने जाता था, यद्यपि अपने अग्रगामी पूर्वजों को मिले हुए अधिकारों, सुविधाओं और विशेष छूटों का उपयोग वह अव भी वैसे ही करता था। कुछ गाँवों में ब्राह्मण की कोई आवश्यकता न पड़ती थी, क्योंकि गाँव की पूजा-उपासना का काम अ-ब्राह्मण गूरव पुरोहित से भी उन्हीं शर्तों पर चल सकता था; अधिकांश निचली जातियों के लिए कर्मकांड कभी-कभी ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य लोग भी कर देते थे। किंतु पंचांग, विभिन्न अनुष्ठानों के लिए चन्द्र पंचांग, की तिथियों की पूर्व-घोषणा आदि, के लिए कुछ-न-कुछ अक्षरज्ञान आवश्यक था, जो प्रशिक्षित ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी के पास न होता था।

प्रारंभ में गाँव की सारी उपजाऊ ज़मीन साझे में होती थी। गाँवों की परिषद के निर्णय से प्रत्येक वसने वाले को उसकी आवश्यकता और परिवार के सदस्यों की संख्या के अनुसार भूमि के टुकड़े दे दिये जाते थे। उस अवस्था में व्यक्ति की निजी सम्पत्ति के रूप में भूमि का अपने-आप में कोई मूल्य न था। भूमि की नक़द विक्री अत्यंत विरल थी, और जव भी वह होती थी, जैसे कि नासिक में जहाँ उषवदात ने वौद्ध मठ के उपयोग के लिए एक खेत के वदले में एक ब्राह्मण को ४००० चाँदी की मुद्राएँ दी थीं, तव वह पड़ौस में समृद्ध व्यापार के कारण ही होती थी। आमतौर पर अधिकांश अधिवासी एक या दो सजातीय समूहों के होते थे, इसलिए समूह की सदस्यता

और भूमि की जोत एक-दूसरे से जुड़ी हुई थी। समुदाय से बहिष्कार होने पर जाति भी छिन जाती थी और गाँव में ज़मीन जोतने का अधिकार भी। इसका अर्थ था देश-निकाला, और हठी सदस्यों को गाँव का यही सबसे बड़ा दंड था। सारी सेना राज-कर्मचारियों के, और बाद में स्थानीय सामंतों के, अधीन होती थी, और गाँव के अधिकार में कोई सैनिक शक्ति न होती थी (यद्यपि गाँव की सीमा के भीतर लूटपाट से किसी अजनबी को कोई हानि हो जाये तो गाँव को उसका हर्जाना देना पड़ता था)। राजकीय अनुदानों में इस बात का एक विशेष अधिकार के रूप में उल्लेख है कि 'गाँव में राजा के किसी कर्मचारी का प्रवेश तो दूर, वह उसकी ओर उँगली तक न उठाएगा'। गाँववालों और गाँव के राजस्व के अनुदानग्राही के लिए यह बड़ा भारी वरदान ही था। सामंतवाद की ओर प्रगति के साथ-साथ स्वयं राजकर्मचारियों को नयी-नयी उपाधियाँ मिल गयीं : सामंत (जिसका प्रारंभ में अर्थ था पड़ौसी, पड़ौसी राजा), ठक्कुर, रानक, राउत इत्यादि बाह्य रूप में अनंत स्थानीय विविधता के बावजूद सबका सार प्रायः एक ही था। सामंत का मुख्य कार्य, पुरानी परिपाटी को बनाये रखने के प्रयास में छिपा रहने पर भी, सामग्री के रूप में राजस्व इकट्ठा करना और फिर उसका एक अंश नकद राज्य (राजा) को पहुँचा देना था। साथ ही, आवश्यकता होने पर सामंत को अपने खर्चे पर निर्धारित संख्या में सशस्त्र सैनिक और घुड़सवारों के साथ राजा की सेना में सेवा भी देनी पड़ती थी। अनिवार्यतः, बंजर भूमि को शुल्क लेकर बाँटना राजा या सामंत का विशेषाधिकार बन गया, जिसके फलस्वरूप कभी-कभी गाँव में किसानों के दो वर्ग बन जाते थे; पुराने 'स्थायी' अधिवासी, जो भूमि जोतें या न जोतें, कर नियमित रूप से देते थे, और 'बाद में आने वाले' जो, गाँव की परिषद में मतदान के अधिकार के बिना, अपनी नियत भूमि पर काम करते थे, पर वास्तविक उपज का ही एक अंश कर के रूप में देते थे। सामंत कभी-कभी ऐसे निर्माण-कार्यों द्वारा भूमि के मूल्य में वृद्धि कर देता था, जो किसी एक गाँव की सामर्थ्य के बाहर हों, जैसे बाँध, नहर, इत्यादि; पर स्वभावतः सम्बद्ध गाँवों को उसे अधिक कर देना पड़ता था। बाद में खेत गाँव में एक विशेष वर्ग को इस शर्त पर दिये जाने लगे कि वह या उसका उत्तराधिकारी सैनिक सेवा देगा। इस भाँति सामंती खेती का चरम रूप स्थापित हुआ। व्यापारी और उनकी पूंजी से काम करने वाले निर्माता कुछ विशेष केन्द्रों और बंदरगाहों में एकत्रित थे। आवश्यकता पड़ने पर विलुप्त श्रेणी के स्थान पर सीमित उद्देश्य के लिए कहीं अधिक शिथिल 'गोष्ठियाँ' बना ली जाती थीं; उदाहरण के लिए, किसी मंदिर के निर्माण के सिलसिले में एक ही गोष्ठी में सामंत, व्यापारी, किसान और देवदासी, सभी का होना संभव था। व्यापारियों के संघ प्रतिद्वन्द्विता पर नियंत्रण रखते थे, और उन्हें राजा से विशेष आज्ञापत्र मिलते थे जिनके द्वारा उन्हें और उनके कारीगरों को सामंतों

और छोटे-मोटे अधिकारियों के हस्तक्षेप से सुरक्षा का आश्वासन मिल जाता था।

संस्कृत साहित्य और नाटक

अब केवल प्रचलित अर्थ में संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ कहना शेष रह गया है। इस सिलसिले में भारतीय संगीत का विवेचन तो कठिन होगा, जिसकी प्राचीनतम युग से अविच्छिन्न परम्परा तो रही है पर कोई विश्वसनीय इतिहास नहीं। बाईस श्रुतियों वाले सप्तक का भारतीय संगीत सदा ही समझदार लोगों द्वारा कक्ष में सुना जाने के लिए रहा है और उसमें सुनिश्चित राग पद्धति है जिसमें सूक्ष्म स्वरानुक्रम और लय तो है पर संगीतात्मक स्वराघात नहीं, और न पश्चिमी संगीत रचनाओं की भाँति हारमनी और स्वरसंगति है। यद्यपि समुद्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर उसकी वीणा बजाते हुए आकृति अंकित है, किन्तु चौथी शताब्दी की धुनों के बारे में कुछ ज्ञात नहीं। इसी प्रकार बाँसुरीवादन शबर वनवासियों की विशेषता थी, जिन्होंने ही संभवतः बाँसुरी का आविष्कार किया। नृत्य, जो देवताओं के सामने, प्रमुख उत्सवों में और कभी-कभी विवाह तथा अन्य पारिवारिक अनुष्ठानों के अवसर पर, पेशेवर विशेषज्ञों द्वारा प्रदर्शित किये जाते थे, कबीलों से अपना लिये गये थे, जैसा कि गोंधल नृत्य के गोंड उद्भव से प्रकट है। दृश्य कलाओं का रसास्वादन अधिक आसान है पर उनके नमूने बड़ी संख्या में होने चाहिए। पुरातत्त्वमूलक सामग्री की कमी के कारण मूर्ति और वास्तुकला की भी क्षति हुई है। विनाशकारी जलवायु, ध्वंसात्मक बर्बरता और उपेक्षा के कारण अधिकांश चित्रकारी नष्ट हो चुकी है। ये कलाएँ धर्म अथवा राजा के आडम्बर के अधीन रहीं। शिल्पकौशल को उचित महत्त्व दिया जाता था, पर किसी भारतीय शिल्पी को फिडियस या माइकेल एंजिलो जैसी प्रतिष्ठा और सामाजिक स्थिति कभी प्राप्त न हुई। वास्तु और मूर्तिकला-सम्बन्धी पारंपरिक संस्कृत ग्रंथों से उपलब्ध नमूनों का मेल नहीं बैठता। ग्रंथों का लेखक सामान्यतः ब्राह्मण होता था और शिल्पी लगभग सदा ही निचली अनपढ़ जाति का। इसमें अपवाद केवल सुलेखक अथवा पाण्डुलिपियों को चित्रित करने वाले ही थे। धार्मिक रूढ़ियाँ आदिम प्रकार की मूर्तियों का आग्रह करती थीं, जबकि संरक्षक स्वभावतः चाहते थे कि देवता लोग, चाहे जितने बेडौल होने पर भी, उनकी अपनी मानव-आकृतियों के अनुरूप तथा प्रचलित वस्त्रों और आभूषणों से सज्जित दिखाये जायें। केवल कला के लिए भारतीय कला का आस्वादन आधुनिक अभिरुचि है जिसे अधिकांश भारतीयों ने विदेशियों से सीखा है—जो कल तक उस कला को फूहड़ और असभ्य देशी कारीगरी मात्र कहकर तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे।

अब बाकी रह गया साहित्य जिसे भारतीय उसके अपूर्व गुणों के कारण अभी तक बचाये रख सके हैं और महत्त्व देते हैं। शिशुनाग अथवा मौर्यों के समय कोई

लौकिक लेखन रहा भी हो तो आज उसका कोई चिह्न शेष नहीं। केवल सातवाहनों के समय का हाल द्वारा किया गया संकलन अवशिष्ट है। यहाँ संस्कृत साहित्य का विवेचन लाचारी से ही करना होगा क्योंकि विभिन्न भारतीय भाषाओं में लेखन वास्तव में जिस युग में आरम्भ हुआ उससे इस पुस्तक का सम्बन्ध नहीं है। साथ ही हमें सिंधु घाटी में जो कुछ भी लिखा गया उसे भी छोड़ ही देना पड़ेगा, क्योंकि वह थोड़ी-सी मुहरों पर संक्षिप्त और अभी तक अपठित शीर्षकों या विरुदों के अतिरिक्त सर्वथा विलुप्त ही जान पड़ता है। प्राचीन तमिल पर भी विचार संभव न हो सकेगा। नाटक का आरम्भ सचमुच आदिम युग के पूजा-अनुष्ठानों से जुड़ा हुआ है। ऋग्वेद के बहुत-से मंत्रों के लिए समवेत पाठ अथवा दो या अधिक पात्रों द्वारा अभिनय आवश्यक है। सबसे प्रसिद्ध उदाहरण उर्वशी और पुरूरवस की कथा का है। प्राचीनतम वेद में यह अभिनीत संवाद के रूप में प्रस्तुत है, जो एक प्रकार से इस बात का सूचक है कि आरम्भ में किसी अप्सरा के साथ पवित्र आनुष्ठानिक विवाह के बाद प्रजनन-सम्बन्धी कृत्य में जो पुरुष-बलि होती थी उसका स्थान नाटकीय व्यापार ने ले लिया। वैदिक पुरूरवस मुक्ति के लिए अनुनय करता है, पर उर्वशी निस्संग भाव से उसका अनुनय अस्वीकार कर देती है। इस विषयवस्तु ने क्रमशः बदलकर विरही प्रेमियों के प्रेमाख्यान का रूप ले लिया। मंत्रोच्चार और नृत्य आदिम प्रजनन-संबंधी अनुष्ठानों की भाँति ही संस्कृत नाटक के भी नियमित अंग हैं। अनिवार्य नांदीपाठ और आशीर्वाद से प्रकट होता है कि भारतीय-नाट्य प्रदर्शनों का आरम्भ 'रहस्य नाटकों' में हुआ होगा। गद्य संवादों में गुँथे हुए पद्यों को संगीतिका की भाँति गाया जाता था, जिसके साथ सदा वाद्य संगीत भी रहता था। नृत्य भी रहा, पर उसे सदा उपलब्ध मंच-निर्देशों में सम्मिलित नहीं किया जाता था। सामूहिक नृत्यों के अतिरिक्त अलग-अलग पात्रों को भी विभिन्न भावों का रूढ़िसम्मत अभिनटन करना पड़ता था, जिसके सहारे वे संपूर्ण कथा प्रायः एक भी शब्द बोले बिना भी प्रस्तुत कर पाते थे, जैसा आधुनिक कथकली में होता है। नाटक के लिए 'नाट्य' शब्द भी अभिनटनमूलक नृत्य का सूचक है। साधारणतः नाटक रात-भर चलता था, यद्यपि संभवतः दिन में व्यवहार के लिए उपयुक्त रंग गुफ़ाएँ भी मिली हैं।

महाकाव्यों से ली गयी विषयवस्तु के साथ-साथ ऐसा आनुषंगिक मनोरंजन उन दर्शकों को भी आकर्षित करता था जो उस उच्च वर्ग की संस्कृत भाषा नहीं समझते थे जिसके द्वारा और जिसके लिए ये नाटक लिखे जाते थे। नाटकों के प्रमुख पुरुष पात्र परिमार्जित संस्कृत बोलते हैं, स्त्रियाँ और सेवक केवल प्राकृत। प्रारंभ में यह यथार्थ जीवन के अनुरूप ही था। आज भी, भीतरी क्षेत्रों में, सुसंस्कृत लोगों की भाषा उनकी साधारणतः अशिक्षित स्त्रियों से और निचले वर्ग के लोगों से,

बहुत भिन्न होती है किन्तु उन दिनों भी अभिजात वर्ग को अपने घर अपनी गृहस्थी के अधिक अनपढ़ लोगों से तो प्राकृत में ही बात करनी पड़ती होगी, पर नाटकों में वे कभी गँवारू भाषा नहीं बोलते। बाद में नाटकों में बोलियों का व्यवहार रूढ़ि मात्र रह गया। जितने लोग संस्कृत समझते थे उतने भी मृत प्राकृत को—मृत इसलिए कि बोलियाँ तेज़ी से बदल रही थीं—समझने वाले न रहे। नवीं शताब्दी में राजशेखर ने स्पष्ट ही छोटे पात्रों के संवाद भी पहले संस्कृत में लिखे और फिर उनको बँधी हुई रीति के अनुसार प्राकृत में अनूदित किया; रूढ़ि कल्पनाशीलता से कहीं अधिक प्रबल हो चुकी थी।

यद्यपि इस रचना-पद्धति में शुद्ध पद्यात्मक नाटक की संभावना नहीं, किंतु अनिवार्य गीतों के कारण नाटककार का कवि होना आवश्यक था। 'सुसंस्कृत' नाटक कभी आदिम स्वांग-तमाशे को हटा न सके; यह आज तक देहाती मेलों में गीत-नाच अथवा तमाशा प्रदर्शनों में देखा जा सकता है जिन्हें उसी प्रकार के नीची जातियों के भ्रमणशील नट प्रस्तुत करते हैं जिन्हें कभी **अर्थशास्त्र** ने राजकीय गाँवों से बहिष्कृत कर दिया था। प्रथम ज्ञात सुसंस्कृत नाटक बौद्ध मतों द्वारा विशेष वार्षिकोत्सवों पर प्रस्तुत किये गये। इस बात की पुष्टि मध्य एशियाई पाण्डुलिपियों के अंशों और चीनी यात्रियों के विवरणों से भी होती है। सारिपुत्त, मोग्गलान, कस्सप जैसे नायकों के लौकिक जीवन और फिर बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने की कथाओं को, अथवा स्वयं बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण को, बड़े-बड़े दर्शक समुदाय के सामने प्रस्तुत किया जाता था। तदनुरूप ही प्रथम ज्ञात प्रमुख संस्कृत नाटककार और कवि बौद्ध अश्वघोष है जिसने परवर्ती नाटककारों और कवियों के लिए आदर्श प्रस्तुत किया। बुद्ध के सौतेले भाई के दीक्षा ग्रहण और निराशा के कारण उसकी सुन्दरी पत्नी की मृत्यु को लेकर रचे गये उसके काव्य **सौंदरानंद** में उस राजसी वैभव तथा उन्मुक्त प्रणय व्यापार का भरपूर चित्रण है जिसे हर भिक्षु को छोड़ना पड़ता था। वास्तव में बौद्ध कला के अन्य रूपों में भी इस विषयवस्तु का उपयोग हुआ होगा, जैसा कि अजन्ता के एक अपूर्व भित्तिचित्र से प्रकट है। एक ऐसा ही अन्य काव्य है **बुद्धचरित**, जिसमें बहुत लोगों ने इतना जोड़ा-घटाया है कि उसका चीनी अनुवाद संस्कृत पाठ से पूरी तरह नहीं मिलता; पर उसका सार भाग अश्वघोष का ही रचा हुआ है। उसके नाटक (**सारिपुत्त प्रकरण** के कुछ अंशों को छोड़कर) नष्ट हो गये हैं, पर संभव है कि विभिन्न संग्रहों में उसके नाम से दिये गये छंदों का रंगमंच पर उसके किसी नाटक के अंशों के रूप में पाठ किया जाता हो। वास्तव में, पाल युग के वल्लन जैसे बहुत से परवर्ती कवि-नाटककारों के ऐसे बचे-खुचे छंदों को छोड़कर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा है जो उनके विलुप्त नाटकों से ही छाँटे गये होंगे।

बौद्ध हों या न हों, पर इन नाटकों ने उसी वर्ग का रंग और स्वर ग्रहण किया जिसके लिए वे लिखे गये थे। शृंगार की प्रधानता रही। प्रेम के संबंध में भारतीय साहित्यिक रूढ़ियाँ अत्यंत वर्जनामुक्त थीं। बौद्ध संस्कृत नाटक भी अपने ढंग से उतने ही असंगत हैं, जितने ब्रह्मचारी बौद्धों के मठों में अंकित वैभवशाली चित्र, अथवा उत्तेजक अलंकरणमूलक मूर्तियाँ। उनमें, परंपरा और नाट्य-रूढ़ियों के अंतर्गत यथासंभव, सामंतवाद की ओर बढ़ते हुए राजदरबार का जीवन प्रतिबिम्बित होता था।

भास के कुछ नाटक इस शताब्दी के प्रारंभ में केरल में पहली बार उपलब्ध हुए जिनसे उसका पुनरुद्धार हुआ, अन्यथा वह केवल सम्मान के साथ लिया जाने वाला नाम मात्र रह गया था। किंतु इन नाटकों में परवर्ती रीतिबद्ध रूपों और रूढ़ियों का अनुसरण नहीं है, इसलिए नाटकों की प्रामाणिकता के बारे में अब भी विवाद चलता है। पर नाटककार की प्रतिभा के बारे में कोई संदेह नहीं। निस्संदेह इन नाटकों में सर्वश्रेष्ठ **स्वप्नवासवदत्तम** ही है जो पुराने उदयन प्रेमकथाचक्र पर आधारित है। प्रधानमंत्री के कहने से रानी वासवदत्ता इस घोषणा के लिए तैयार हो जाती है कि वह एक अग्निकांड में जलकर मर गयी है, ताकि राजा को एक और विवाह के लिए प्रेरित किया जा सके जो राजनीतिक दृष्टि से लाभकारी था, पर जिसे वह अन्यथा स्वीकार न करता। राजा अपनी पहली प्रिय पत्नी के स्वप्न देखता रहता है, जो वेश बदलकर अंतःपुर में ही परिचारिका का काम कर रही है। कुछ मार्मिक अविस्मरणीय दृश्यों में वह राजा के अर्ध-चेतन स्वप्नों में सामने आती है, पर उसे पूरी तरह जगाने का साहस नहीं करती। समाज में बहुपत्नी प्रथा प्रचलित होने के कारण अंततः, नाटक का हँसी-खुशी समाप्त होना संभव हो जाता है।

समस्त संस्कृत और शायद समस्त भारतीय साहित्य में महानतम नाम कालिदास का है। उसके जीवन के बारे में कुछ ज्ञात नहीं, पर वह भास के बाद हुआ और उसका केवल गुप्त राजसभा के लिए, संभवतः उज्जैन के चंद्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के लिए, लिखना ही संभव जान पड़ता है। उसके काव्य **मेघदूत** में मेघ एक निर्वासित यक्ष का प्रेम संदेश उसकी सुदूर स्थिति विरहिणी प्रिया तक ले जाते हैं। वहाँ पहुँचने के लिए बादलों को जिन प्रदेशों में होकर जाना पड़ता है उनके प्राकृतिक दृश्य का इस काव्य में बड़ा मनोहारी चित्र है। **रघुवंश** राम के पूर्व पुरुषों को प्रस्तुत करता है और परोक्ष रूप से संभवतः उसमें गुप्तों की कुछ विजयों के भी संकेत हैं। अपूर्ण **कुमारसंभव** में देवताओं और मनुष्यों को कष्ट देने वाले राक्षसों को नष्ट करने के लिए शिव और पार्वती के स्कंध नामक बालक के जन्म की कथा है। ये तीन काव्य अपनी छंदगत और शब्दगत परिपूर्णता के कारण संस्कृत काव्य के शिखर पर स्थित हैं। इनकी विषयवस्तु महाकाव्यों और पुराणों से ली गयी और ब्राह्मणीय

है। **मालविकाग्निमित्र** को छोड़कर, जो शुंग इतिहास पर आधारित और उज्जैन के माध्यम से गुप्त राजसभा से संबंधित है, कालिदास के सभी नाटकों के कथानक भी इसी प्रकार के हैं। उर्वशी-पुरूरवस की कथा को मर्त्य राजा विक्रम और अमर अप्सरा उर्वशी के चरम प्रणय आख्यान का रूप दे दिया गया है। नाटक के शीर्षक में संभवतः तत्कालीन गुप्त राजा की ओर इंगित है; नाटक का पुरूरवस स्वर्ग के राजा इंद्र के साथ समानता का व्यवहार करता है। साहित्य और नाट्य दोनों की दृष्टि से चरम उपलब्धि **अभिज्ञान शाकुंतल** को माना जाता है, जिसकी विषयवस्तु राजा दुष्यंत और अर्ध-अप्सरा शकुंतला का मिलन है। इसकी कथा महाभारत से ली गयी है, पर प्रणय-दृश्यों का निर्वहण अत्यंत मौलिक है। नायक (अभिशापवश) नायिका को पहचान नहीं पाता जो एक शिशु के साथ अचानक राजसभा में आ जाती है और उसे राजा का ही पुत्र बतलाती है। कालिदास ने मानव-भावनाओं और मनोदशाओं का अद्वितीय क्षमता से चित्रण किया है। दूसरा स्थान भवभूति का है जिसका नाटक **उत्तर-रामचरित** भी रामायण महाकाव्य पर आधारित है। उसके **मालती माधव** नाटक में ऐसे प्रेमियों का चित्रण है जिन्हें भयंकर-से-भयंकर परीक्षाओं में से गुजरना पड़ता है जिनमें बलि चढ़ा दिये जाने की संभावना तक है; इसके मंचन ने दर्शक-वर्ग को अवश्य ही एकदम झकझोर दिया होगा। भवभूति ब्राह्मण और प्रतिष्ठित कवि था और उसका काल संभवतः आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। उसके भी वास्तविक जीवन और कार्य के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। बहुत-से अन्य कवियों और नाटककारों के बारे में तो इतना भी नहीं, किसी संकलन में केवल नाम, या इक्का-दुक्का छंद अथवा किसी दीमक-खाई पांडुलिपि में कोई अंशमात्र, ही मिलता है। माघ, भारवि और कुछ अन्य कवि इस दृष्टि से अधिक भाग्यवान हैं जिनकी कुछ संपूर्ण कृतियाँ मिल जाती हैं और अब भी पाठकों को आनंदित करती हैं। कुमारदास के **जानकीहरण** का सिंहली भाषा के एक शाब्दिक अनुवाद से पुनरुद्धार किया गया जिसकी बाद में दक्षिण भारतीय पांडुलिपियों से भी पुष्टि हुई। यहां सरसरी तौर पर जिन कुछ नामों का उल्लेख किया गया, केवल वे ही विख्यात लेखक न थे। सम्राट् हर्ष ने, जिसके **नागानंद** नाटक लिखने और उसमें अभिनय करने का पहले उल्लेख हो चुका है, अन्य नाटक भी लिखे थे जिनमें से दो उपलब्ध हैं। यह परंपरा नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और दसवीं के प्रारंभ तक प्रबल रही जिसका प्रमाण है राजशेखर, जो स्वयं धनी भूस्वामी और बहुत से कवियों का संरक्षक था। उसने अपेक्षया कृत्रिम नाटकों और कौशलपूर्ण काव्य के साथ काव्यशास्त्र पर भी प्रचुर रचना की। उसके बाद यह उच्च-शैली पूरी तरह मिटी तो नहीं, पर उसमें बहुत गिरावट आ गयी; अगली कई शताब्दियों तक, राजा राजकुमार कवियों को आश्रय तो देते ही थे, स्वयं भी कविता रचने का

अभ्यास करते थे। पाल राजसभा के बहुत-से कवियों के नाम ज्ञात हैं जिनमें कुछ पाल राजा भी हैं। धार का राजा भोज संरक्षक भी था और प्रतिभावान लेखक भी। बारहवीं शताब्दी के गाहड़वाल भी श्रीहर्ष नामक एक उत्तम कवि के आश्रयदाता थे, जो सम्राट् हर्ष से भिन्न है। उसका नलदमयंती की प्रेमकथा-विषयक काव्य अपनी कोटि की अन्य रचनाओं से कम नहीं। संस्कृत साहित्य और नाटक का उत्तर में अंतिम महत्त्व-पूर्ण केन्द्र बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन का दरबार था, जिसके राज्य को १२०० ईस्वी तक मुसलमानों ने रौंद डाला। पर पतन मुसलमानों की विजय के पहले ही सुस्पष्ट है।

एक नाटक अपने ढंग का अकेला है: शूद्रक का **मृच्छकटिक** (मिट्टी की गाड़ी)। यह माना जाता है कि इसका लेखक राजवंश का और किसी प्रकार से सातवाहनों से संबद्ध था; पर अन्य लोगों की भाँति उसके बारे में भी ठीक-ठीक कुछ ज्ञात नहीं। यह नाटक भास के कहे जानेवाले एक नाटक के अंश का अनुसरण करके उसे आगे बढ़ाता है, पर विषयवस्तु की दृष्टि से राजकीय जीवन और महाकाव्यों के प्रसंगों की उपेक्षा करके परंपरा को तोड़ता है। उसका नायक है ब्राह्मण सार्थवाह चारुदत्त जो अब दरिद्र हो चुका है; और नायिका है धनी, सुंदरी, प्रवीण और सुसंस्कृत गणिका वसंतसेना, जिसके पीछे राजा का उजड्ड साला, और स्थानीय अधिपति, शकार पड़ा हुआ है। यह गंवार खलनायक बार-बार अपने प्रयासों में असफल होने पर वसंतसेना का गला दबा देता है और उसे मरा समझ छोड़कर चल देता है, और नायक पर हत्या का अभियोग लगाता है। नाटक में एक अन्य गौण प्रेम-प्रसंग तथा एक लोकप्रिय विद्रोही द्वारा संचालित क्रांति की कथा भी है जो ठीक समय पर अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है। फलस्वरूप नायिका बच जाती है और नायक को वधिक के हाथों से छुड़ा लिया जाता है। इसमें विभिन्न पात्रों द्वारा बोली गयी प्राकृत में प्रादेशिक भिन्नताएँ हैं जो यथार्थ जीवन पर आधारित जान पड़ती हैं। वसंतसेना के वैभव के एक अकारण लंबे वर्णन को छोड़कर, नाटक में सभी अन्वितियों की रक्षा की गयी है, भाव और कर्म में संतुलन है, करुणा और हास्य का सामंजस्य है, और अभिनय-प्रदर्शन के लिए अत्यंत उपयुक्त होने के साथ पढ़ने में भी बहुत अच्छा है। यह उन दो कृतियों में से एक है जिन्हें (लंबी-लंबी व्याख्यात्मक टिप्पणियों के बिना) प्राचीन भारतीय साहित्य का रसास्वादन का इच्छुक कोई भी व्यक्ति किसी भी उपलब्ध अनुवाद में पढ़ सकता है।

दूसरी पुस्तक गद्य की है **दशकुमारचरित** जिसे उसके लेखक दंडिन ने अपूर्ण छोड़ दिया था और जिसमें कम-से-कम दो अन्य व्यक्तियों ने अवश्य कुछ जोड़ा है। ओज, रोचकता, समाज के सभी स्तरों के ज्ञान, खलाख्यान और रोमांटिक साहसिकता के पूरे क्षेत्र, संयत उल्लास और सूक्ष्म व्यंग्य की दृष्टि से कोई अन्य संस्कृत रचना इसके समान नहीं। दंडिन दक्षिण भारत का था और संभवतः ईस्वी सातवीं शताब्दी

में हुआ; वह कवि और क्षमतावान साहित्य-समालोचक तो था ही, साथ ही उत्कृष्ट गद्य-लेखक और अपने युग का सचमुच बहुश्रुत विद्वान था। उसके गद्य के साथ एक कठिनाई तो संस्कृत भाषा पर उसके पूर्ण अधिकार के कारण है, जिसके फलस्वरूप वह शब्दों से ऐसा खेल करता है कि अनुवाद संभव नहीं। अल्प क्षमतावान लेखकों के लिए यह रोग बन गया, जो भारतीय चित्र और मूर्तिकला के समांतर है जहाँ शिल्प और निपुणता ने कला को नष्ट कर दिया। यह दुर्बलता संस्कृत भाषा के ढाँचे और विकास में ही निहित थी। जैसा पतंजलि ने कहा है, शब्द शाश्वत हैं। लोग कुम्हार के पास जाकर उससे विशेष प्रकार का बर्तन बनाने की मांग कर सकते हैं; पर कोई वैयाकरण के पास जाकर यह नहीं कहता कि "मेरे लिए अमुक प्रकार का शब्द बना दो"। 'पदार्थ' शब्द का अर्थ भौतिक वस्तु भी है और शब्द का अर्थ भी। आदर्शवाद भाषा की रचना में ही मौजूद है, और यदि नये शब्द बनाना संभव नहीं था, तो लेखकों ने पुरानों को ही नये-नये ढंग से संयुक्त करके उन्हें नया अर्थ देने के आनंद से कभी अपने-आपको वंचित नहीं किया। **ब्राह्मण** और **उपनिषद** पुराने आनुष्ठानिक शब्दों से कोई नया सुविधाजनक अर्थ निकालने के लिए कई प्रकार की बचकानी व्युत्पत्तियों का प्रयोग करते हैं। अगला चरण धर्मशास्त्रियों ने यह रखा कि बाह्य जगत् को अयथार्थ घोषित करके शब्दार्थ के दुरूह सिद्धांतों में उलझ गये। लेखकों ने यह युक्ति अपनायी कि लंबे समस्त पदों से, जिनका संस्कृत भाषा के विशिष्ट रूप के कारण कई प्रकार से अन्वय किया जा सकता है, बहुत से भिन्न-भिन्न अर्थ निकालने लगे। ऐसी रचनाओं को रचने या पढ़ने के लिए अनंत अवकाश आवश्यक था; पर बारहवीं शताब्दी के अंत तक इस प्रवृत्ति ने बहुत सारे संस्कृत लेखन को सुगम-वर्ग पहेली के बौद्धिक स्तर तक उतार दिया। इसकी शैली एक अन्य महान् लेखक बाण ने स्थापित की, जिसकी **कादम्बरी** में कुछ समस्त पद इतने लंबे हैं कि छपे संस्करणों में एक-एक पद कई पंक्तियों तक चलता है। पर वह इतना कुशल लेखक था कि उसके ग्रंथ का नाम ही, जो वास्तव में उसकी नायिका का नाम है, अब कई भारतीय भाषाओं में 'उपन्यास' या 'प्रेमकथा' का नाम पड़ गया है। बाण सम्राट् हर्ष का राजकवि था। उसका **हर्षचरित** संस्कृत गद्य की उत्कृष्ट रचना है। वह एक रोमांटिक जीवनी है जिसका सही ऐतिहासिक अथवा बाह्य ब्यौरे की दृष्टि से कोई उपयोग नहीं, पर उसमें किसी सेना के अपने ही प्रदेश में ध्वंसकारी अभियान से होने वाले विनाश, आतंक और कष्टों जैसे विषयों के बहुमूल्य विवरण हैं। इसमें पहले सुबंधु की **वासवदत्ता** जैसी रचना से संभवतः **अरब की रातें** जैसी कहानी कहने की परंपरा विकसित होती, पर **कादंबरी** ने साहित्यिक विधा के रूप में संस्कृत गद्य को पूरी तरह समाप्त कर दिया।

कथासरित्सागर की जड़ें कौशाम्बी के वीर और साहसी राजा उदयन के इर्द-गिर्द

बनी मौर्य-पूर्व कथाओं में हैं। इस कथाचक्र में से किसी गुनाढ्य द्वारा पैशाची भाषा में किये गये एक विशाल संग्रह को परवर्ती लेखकों ने अपनी प्रेरणा का स्रोत स्वीकार किया। पर वह अब सर्वथा विलुप्त हो चुका है, इसलिए कभी-कभी लेखक और संग्रह दोनों के बारे में संदेह प्रकट किया जाता है। बुधस्वामिन और क्षेमेन्द्र के पाठान्तर विशुद्ध तुकबंदियाँ हैं; पर जैन कवि सोमदेव (लगभग १०७५ ईस्वी) के पाठ में कुछ साहित्यिक गुण मौजूद हैं, यद्यपि कोई उत्कृष्ट काव्य नहीं। कहानियों की विषयवस्तु से प्रकट होता है कि वे व्यापारियों और कारीगरों के साथ-साथ उच्च वर्णों के लोगों के भी मनोरंजन के लिए लिखी गयी थीं। गुप्तकालीन दरबारी शैली से भिन्न, उनके ऊपर प्राकृत और सातवाहनकालीन नागरक रुचि की छाप सुस्पष्ट है। दंडिन और बाण ने इसी कथा संग्रह से प्रेरणा प्राप्त की थी, जिसमें लौकिक और अलौकिक का खास भारतीय शैली में मिश्रण है। किन्तु जिन कहानियों का विश्व साहित्य में सर्वाधिक विदित योगदान माना जाता है, वे **पंचतंत्र** में हैं। यह ईसप की शैली में नीतिकथाओं का संग्रह है और ये ऐसे राजकुमारों की शिक्षा के लिए लिखी गयी थीं जो विधिवत शिक्षा का कष्ट न उठा सकते थे। इन कथाओं पर **अर्थशास्त्र** का प्रभाव सुस्पष्ट है; उसका कल्पित वाचक विष्णुशर्मन चाणक्य के नमूने पर गढ़ा गया है स्वयं जिसका भी असली नाम यही था। यह संग्रह पश्चिम में पिलपइ की नीति-कथाओं के रूप में सीरियाई और अरबी अनुवादों (**कलील ओ दिम्न**) के माध्यम से पहुंचा।

यह साहित्यदीप बुझने के पहले एक बार फिर बड़ी भव्यता से जगमगाया। अंतिम चरम प्रयास जयदेव के **गीतगोविन्द** में मिलता है, जो कृष्ण और उनकी अंतरंग सखी राधा के रहस्यमय मिलन के ऊपर नाट्यात्मक संगीतकाव्य है। इसमें मूल कामोत्तेजक मिथक और अनुश्रुति को उदात्त बना लिया गया है, यद्यपि फिर भी पाठक को रचना पर्याप्त कामोद्दीपक लगेगी। इस काव्य की संगीतात्मकता जयदेव की महान् कृति को इस कोटि की अन्य समस्त रचनाओं से ऊपर उठा देती है। पर जयदेव का जीवन सेन दरबार के उन सभी कवियों से भिन्न रहा था जिनमें वह १२०० ई० के लगभग शामिल हुए। ब्राह्मण युवक जयदेव मेधावी किन्तु गरीब था जिसका अपनी ही जाति की एक सुन्दर लड़की से प्रेम हो गया। वह उसे प्राप्त करने में सफल हुआ और फिर वे दोनों देश भर में नाचते-गाते भ्रमण करते रहे। उसकी पत्नी उसके लोक-भाषा में रचे गीतों के साथ नृत्य करती, जिनकी धुनें वह स्वयं तैयार करता था। उसकी स्थानीय भाषा की कविताएँ तथा संगीत-रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। यह भी संभव है कि **गीतगोविन्द** पहले लोक भाषा में रचा गया हो और फिर बाद में दरबार के लिए उसे संस्कृत में रूपांतरित किया गया हो। इसके साथ ही जयदेव से वैष्णव

सुधार की भी पूर्वसूचना मिलती है। यह सुधारान्दोलन शिव और पार्वती के अनुयायी स्मार्तो और किसी-न-किसी रूप में विष्णु-नारायण के भक्त वैष्णवों के बीच उग्र धार्मिक विवाद के रूप में प्रकट हुआ। बंगाल में विख्यात वैष्णव नाम चैतन्य

१६. हरि-हर दक्षिणार्ध में शिव और वामार्द्ध में विष्णु के लक्षणों सहित संयुक्त देवता यह एक आधुनिक बाजार में बिकने वाले चित्र से लिया गया है जिसे भक्तगण धातु अथवा पत्थर की अधिक मूल्यवान प्रतिमा के बदले में व्यवहार करते हैं। इनकी पूजा उन्नीसवीं शताब्दी से प्रमुख रही पर उससे शिव और विष्णु के भक्तों के बीच धार्मिक झगड़ा नहीं मिटा, जो वास्तव में छोटे और बड़े भूस्वामियों के दो विभिन्न वर्गों के बीच बढ़ते हुए विरोध का ही सूचक था।

(१४८६-१५२७) का है । दक्षिण में यह आन्दोलन शंकर के शैव अनुयाइयों के विरुद्ध रामानुज (बारहवीं शताब्दी) के साथ और भी पहले आया । इस झगड़े में सिर फूटने तक की नौबत आयी और यह उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक चलता रहा । असली बात का धर्म से कितना कम संबंध था यह एक सामान्य तथ्य से प्रकट हो जाता है । दोनों पक्ष बंगाल के विजेता मुसलमानों की ओर से उदासीन थे, अथवा उनकी वफ़ादारी से नौकरी तक करते थे । इन विजेताओं ने सभी संप्रदायों की मूर्तियाँ तोड़ी थीं, दोपाये अथवा चौपाये पवित्र पशुओं का वध किया था और समस्त ब्राह्मण रूढ़ियों को निर्ममता से कुचला था । इस झगड़े की जड़ में वास्तविक संघर्ष शिव और पार्वती के भक्त बड़े-बड़े सामंती, ज़मींदारों तथा उन छोटे पर अधिक उद्योगी भूस्वामियों के बीच था जो कृष्ण या विष्णु-नारायण के अनुयायी थे । इन दोनों देवताओं को हरिहर के रूप में मिलाने का संक्षिप्त प्रयास सफल नहीं हो सका, यद्यपि बहुत पहले शिव और पार्वती को उभयलिंगी संयोग और देवताओं के मातृदेवियों से विवाह के प्रयास तथा बहुत-सी उपासना-विधियों को अवतार के उपाय द्वारा एकत्र करने के प्रयास, सफल हो चुके थे । इसका कारण यह था कि पूर्ववर्ती धार्मिक एकीकरण से अधिक उत्पादन करने वाले समाज की सृष्टि हुई थी, जैसे पशुचारी और आहार संग्रहक मिलकर आहार-उत्पादन के काम में लगे थे । पर अब इतना आहार उपलब्ध न था कि सबका काम चल सके; संप्रदायों के संयोग से उत्पादन में कोई महत्त्वपूर्ण स्थायी वृद्धि नहीं हो सकती थी । इसीलिए झगड़े में इतनी कटुता थी किन्तु वैष्णव जीवन का नया स्वरूप जब पहले-पहल प्रकट किया गया तो उसका अपूर्व प्रभाव पड़ा । गाँवों में सुनते ही सारे लोग खुशी से नाच उठते, और अक्सर अपनी उमंग को प्रकट करने के लिए पड़ौस के गांव में जाते । भारतीय देहाती जीवन की इन अन्यथा बधिर और निष्क्रिय इकाइयों में यह चमत्कारी हलचल थी । जयदेव के जन्मस्थान केंडुली में आज भी गांववासी उसकी जयंती-गीत, संगीत और नृत्य के साथ मनाते हैं; इसके कारण कुछ और ही हैं; वह सुन्दर काव्य नहीं जिसे केवल विद्वान ही समझ सकते हैं । जयदेव की शुद्ध सौंदर्य के प्रति भक्ति इस बात के प्रत्यक्ष अनुभव से उपजी थी कि साधारण लोगों के जीवन में ऐसे सौंदर्य की कितनी अधिक आवश्यकता है ।

जयदेव से पूर्ववर्ती शताब्दी में मौलिकता के स्रोत अधिकाधिक सूखते जाने का प्रमाण उस समय के बहुत-से काव्य-संकलनों में मिलता है । प्राचीन संस्कृत काव्य का सबसे पुराना ज्ञात संकलन लगभग ११०० ईस्वी में पूर्वी पाकिस्तान के राजशाही ज़िले में, या उसके समीप, किसी बौद्धमठ (संभवतः जगद्दल) के किसी उपाधिकारी पंडित द्वारा हुआ; उसका संपादन केवल नेपाल और तिब्बत में सुरक्षित पांडुलिपियों

से किया जा सका। ऐसा ही एक विशिष्ट संग्रह भर्तृहरि के नाम से चलता है। संभव है कि इस नाम का कोई व्यक्ति, कोई यथेष्ट क्षमता-सम्पन्न किन्तु ग़रीब कवि, सचमुच रहा हो। यह नये प्रकार का काव्य जाति और सामाजिक रूढ़ियों से उत्पन्न ब्राह्मणों की दरिद्रता और असहायता की चर्चा करता है। इन रूढ़ियों के कारण संकीर्ण और संकुल पुरोहिती कार्य अथवा छोटे-छोटे सामंती रजवाड़ों के निरंकुश और क्षोभकारी संरक्षण के सिवाय कोई रास्ता न बचता था। प्रतिभा के अप्रयुक्त ही नष्ट होने की चेतना से, सामान्यतः सुगठित सूक्तियों के रूप में नया निराशासूचक काव्य उत्पन्न हुआ। उसमें निम्न मध्यवर्गीय नैतिकता पर कुछ छंद और कुछ कामोद्दीपक पद्य भी जोड़ दिये गये, जिससे प्रकट होता है कि साहित्यिक ऐसे विलास में डूबे थे जो कवि की पहुँच के बाहर था। अन्त में अनिवार्य सहवर्ती के रूप में सुन्दर भविष्य में इस निरर्थक जीवन से सर्वथा काल्पनिक 'वैराग्य' भी प्रकट हुआ क्योंकि कवि का जीवन सचमुच ही निरर्थक था। आज ऐसे भारतीय प्रायः भर्तृहरि के-से छंदों का घिसे-पिटे नीतिवाक्यों के रूप में प्रयोग करते पाये जाते हैं, जिन्हें थोड़ी-सी प्राचीन शिक्षा प्राप्त है और जो शारीरिक श्रम तथा यांत्रिक धंधों में काम करने से जी चुराते हैं।

प्रश्न स्वभावतः यह उठता है : क्या ऐसी कोई भी संस्कृत रचना न थी जो भारतीय चरित्र को उसी प्रकार रूप प्रदान करती जिस प्रकार सर्वेन्टीज़ के **डौन क्विज़ोट** ने इस्पानी साहित्यिक समुदाय पर अपनी छाप छोड़ी? केवल एक ही ग्रंथ इस कोटि तक पहुँचता है : **भगवद्गीता**, अथवा जिसे संक्षेप में **गीता** कहा जाता है। यद्यपि इसकी रचना तीसरी शताब्दी के अन्त से पहले नहीं हुई होगी, मगर उसे कृष्ण द्वारा कहा गया बताया जाता है और अत्यधिक स्फीत **महाभारत** में जोड़ दिया गया है। इसमें कृष्ण एक संपूर्ण और बहुत-कुछ जटिल दार्शनिक-धार्मिक सिद्धांत के प्रणेता के रूप में प्रकट होते हैं; यह इस देवता के लिए नया पद था; इसका सबसे समीपवर्ती एक मात्र उल्लेख **छांदोग्य उपनिषद** में है जिसमें प्रसंगवश 'देवकीपुत्र' कृष्ण को घोर आंगीरस ऋषि का शिष्य तो बताया गया है, पर कहीं शिक्षक या परमेश्वर नहीं।

गीता का आधार इस प्रकार बनता है। पांडव योद्धा अर्जुन को महाभारत युद्ध में, दोनों पक्षों की सेनाओं के युद्ध के लिए तैयार होते ही, स्वजनों के आसन्न संहार से बड़ी विरक्ति हुई और उसने अपना धनुष नीचे रख दिया। तब उसके सारथी ने, जो यदुओं के श्याम नेता स्वयं ही थे (अचरज की बात यह है कि यदु कबीला दूसरे पक्ष की ओर से लड़ रहा था) उसे अपना कर्त्तव्य करने का सफलतापूर्वक उपदेश दिया। यह भ्रातृघातक उपदेश ७०० सुगठित श्लोकों में दिया हुआ है, जिसे जल्दी-से-जल्दी पाठ करने में भी कम-से-कम तीन घंटे तो लगेंगे ही। इस बीच तो सारा युद्ध ही हारा जा चुका होता। कृष्ण, अब अपने-आपको परमेश्वर घोषित करते हुए,

प्रत्येक समकालीन दर्शन-पद्धति को बारी-बारी से अपनी कहते हैं, यद्यपि दर्पण जैसे सुस्पष्ट छंदों में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धांतों में से किसी का नाम नहीं लिया गया है। चूंकि सभी मत एक ही परमात्मा से उद्भूत हैं, इसलिए कोई खंडन-मंडन नहीं है, यद्यपि वैदिक यज्ञ और सामान्य कर्मकांड के उल्लेख में हलका-सा उपहास है। शुद्ध जीवन, अहिंसा, लोभ और स्वार्थ के त्याग की बड़ाई की गयी है। जब अर्जुन स्वभावतः परेशान होकर पूछता है, 'तो फिर आप मुझे संहार करने को क्यों कहते हैं ?' तो ईश्वर सीधे प्रश्न का सीधा उत्तर दिये बिना सफ़ाई से अपने उपदेश के अगले तत्त्व पर पहुँच जाते हैं। एक संकट की स्थिति आने पर दिव्य पुरुष अपना 'विराट' रूप प्रकट करता है, और दिखाता है कि वही सबका स्रष्टा भी है और संहारक भी। समस्त जगत्, स्वर्ग, पृथ्वी तथा अनेक पाताल लोक, सब उसी से व्याप्त हैं; सर्व-संहारक के रूप में उसने दोनों पक्षों के सभी व्यक्तियों का पहले ही भक्षण कर लिया है। अब तटस्थ भाव से अपने स्वजनों को मारने से अर्जुन को कोई पाप न लगेगा। जब तक परमेश्वर में चरम आस्था बनी हुई है, तब तक उस परमेश्वर में लीन होने का चरम लाभ निश्चित है। यदि अर्जुन ने इस विशुद्ध औपचारिक और प्रतीकात्मक युद्ध में विजय प्राप्त की, तो उसे अतिरिक्त पुरस्कार के रूप में इस लोक के एकछत्र प्रभुत्व का आनन्द भी प्राप्त होगा।

सधी हुई व्याख्यात्मक संस्कृत में यह दिव्य किन्तु बहुत-कुछ बिखरा हुआ संदेश, परस्परविरोधी बातों में मेल बैठाने के प्रयास और तीखे अन्तर्विरोधों को बिना कष्ट निगल जाने की क्षमता में, सर्वथा भारतीय है। उपदेशदाता परमेश्वर का यह चुनाव, जो उसकी बढ़ती हुई व्यक्तिगत पूजा से निर्धारित हुआ, उतना ही असंगत है जितना हेराक्लीज़ का समस्त यूनानी दार्शनिक कृतियों के साथ न्यू टेस्टामेंट के सार को समन्वित करके अपने ऐकिक सिद्धांत के रूप में प्रचारित करना होता। कृष्ण की गोपियों के साथ प्रेमलीला, मातृदेवियों के साथ खिलवाड़, अपने मामा की हत्या और **महाभारत** में अनिवार्य रूप से कुटिल उपदेश को देखते हुए, उसके किसी भी नैतिकता के उपदेश के प्रति कोई श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। वास्तव में **गीता** के लोकप्रिय होने में कुछ समय लगा। स्वयं अपने युग में भी वह कृति महाकाव्य के ब्राह्मण संपादकों का मुख्य प्रयोजन पूरा न कर सकी। इसलिए उसी महाकाव्य में संपूर्ण विजय के बाद एक फीकी-सी उत्तरकथा के रूप में, उसी परमेश्वर ने अर्जुन को **अनु-गीता** भी सुनायी। इसमें केवल ब्राह्मणों और ब्राह्मणवाद की प्रशंसा मात्र है। अब उसे कोई नहीं पढ़ता, जबकि पहली **गीता** की स्थिति, कालांतर में अधिकाधिक सुदृढ़ होती गयी। इसका बड़ा सीधा-सा कारण मध्यकालीन समाज के रूप-परिवर्तन में है।

ह्वानसांग ने एक ब्राह्मण की जाली कृति का उल्लेख किया है जो उसने एक

राजा को अपने बंधु-बांधवों के विरुद्ध युद्ध के लिए उकसाने के उद्देश्य से लिखी थी। संदर्भ से प्रकट होता है कि यह कृति **गीता** ही होगी, और वह उस समय उस प्रकार ब्राह्मणवाद का सार नहीं समझी जाती थी, जो बाद में उसे माना जाने लगा। उसे काम में लाने वाला सर्वप्रथम ब्राह्मण शंकर (लगभग ८०० ईस्वी) था जिसकी टीका आज भी मानक है, यद्यपि वह स्वयं शिव का उपासक था, और यद्यपि **गीता** में बौद्ध धर्म की बहुत-सी बातें संक्षेप में बड़े कारगर ढंग से विष्णु के अवतार के मुख से कहलायी गयी हैं। प्रतिद्वन्द्वी नेता रामानुज ने उसी **गीता** से बिल्कुल भिन्न ही प्रेरणा प्राप्त की। इस ग्रंथ को ज्ञानेश्वर ने एक उत्तम मराठी पद्यानुवाद द्वारा जनसाधारण तक पहुँचाया। इस अनुवाद की रचना तेरहवीं शताब्दी के अंत में हुई और मराठी भाषा में उसका वही स्थान है जो उसी युग की, किन्तु सर्वथा भिन्न, **डिवाइना कामेडिया** का इतालवी में है। आधुनिक युग में भी तिलक और गांधी ने **गीता** से भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के लिए आवश्यक आध्यात्मिक आधार के विषय में अपने-अपने निष्कर्ष निकाले। एक ही रचना से इतने विभिन्न व्यक्ति इतने विविध निर्देश स्पष्टतः इसीलिए पा सके, क्योंकि उसमें असंख्य विभिन्न विचार एक साथ मौजूद हैं। अपनी दैवी प्रामाणिकता के कारण वह एक ऐसा शास्त्रसम्मत ग्रंथ बन गया जिसका रूढ़िवादियों को अप्रिय लगने वाले निष्कर्ष निकालने के लिए भी उपयोग किया जा सकता था। जिस अन्धविश्वास को **गीता** ने इतना प्रोत्साहन दिया, उसी अन्धविश्वास के युग में **गीता** ने ही अस्वीकार की प्रवृत्ति को भी कुछ-कुछ जीवित रखा। पर **गीता** का उद्गम इतना अनिश्चित होने पर भी उसकी प्रामाणिकता इतनी बढ़ी ही कैसे ? सभी पुराण किसी-न-किसी देवता द्वारा, कुछ स्वयं कृष्ण द्वारा, कहे माने जाते हैं, पर किसी को इतनी शक्ति न मिली। क्यों ?

गीता की असाधारण सफलता का कारण है उसका भक्ति का नया सिद्धांत, एक ऐसे ईश्वर में अटूट आस्था जिसका बहुत-कुछ शंकास्पद व्यक्तिगत जीवन भी आड़े नहीं आने दिया गया। यह सामंती विचारधारा के सर्वथा अनुकूल था। भक्ति ही कृषिदास और परिचर को सामंती स्वामी के साथ, सामंत को ड्यूक के साथ, ड्यूक को राजा के साथ एक सुदृढ़ शृंखला में एक साथ जोड़े रखती है। सामंती समाज का वैचारिक आधार यही है—दासों की भक्ति के वास्तविक मानवीय पात्र चाहे जितने प्रेरणाहीन और चरित्रहीन हों। ठीक यह भक्ति-भावना ही सामंतवाद की जड़ थी; उसने ऐसे संदर्भ में बहुत-सी आदिम प्रथाओं को पुष्ट किया जिसे अब किसी प्रकार भी बर्बर नहीं कहा जा सकता था। राज-सामंतों ने सार्वजनिक रूप से अपना मांस काटकर उन दुष्ट प्रेतात्माओं को संतुष्ट करने के लिए चढ़ाया, जो हर्ष के पिता को किसी असाध्य रोग से मारे डालते थे। दक्षिण के गांग और पल्लव सरदार अपने स्वामी के

कल्याण के लिए देवी-देवता के सामने अपना सिर काटकर चढ़ा देते थे। इसकी आठवीं शताब्दी के बाद के बहुत-से शिलालेखों और मूर्तियों से पुष्टि होती है। बहुत-से अनुचर यह घोषणा करते हुए पाये जाते हैं कि अपने स्वामी की मृत्यु के बाद वे एक क्षण भी जीवित न रहेंगे। मार्कोपोलो ने भी यह लिखा है कि वे लोग अपने स्वामी राजा की चिता में कूदकर प्राण दे देते थे। इस भीषण कृत्य को सती प्रथा का ही विस्तार नहीं माना जा सकता, क्योंकि सती प्रथा का उल्लेख तो छठी शताब्दी के बाद शासक वर्ग में अधिकाधिक होता जाता है, और उसके सूत्र यूनानी विवरणों के आधार पर प्राग्-इतिहास तक खोजे जा सकते हैं; पर सामंती सरदारों के कार्य के बारे में यह बात नहीं है। भारतीय सामंतवाद की अंतिम अवस्था के ठीक प्रारंभ के साथ ही हम शंकर और **गीता** के महत्त्व को चरम शिखर पर पहुँचते पाते हैं। **गीता** की विसंगतियाँ पूर्णतः 'भारतीय चरित्र में' हैं; पर भारतीय चरित्र अपने सुपरिचित साँचे में सामंती युग तक पूरी तरह नहीं ढल पाया था। बारूद के उदय से अर्जुन के धनुष और बाद में सामंतवाद के नक्शे से उड़ जाने के बाद भी, बैंकों और शेयरों, रेलों और जहाजों, बिजली तथा कारखानों और मिलों की नयी दुनिया में भी, भारतीय बुद्धिजीवी, देशभक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए स्वभाववश **गीता** की ओर ही देखता था। जैसे-जैसे भारत अपनी आधुनिक समस्याओं से जूझता जाता है वैसे ही वैसे इस ग्रंथ का प्रभाव कम होता जाता है। **गीता** की जितनी भक्ति की जाती है उतनी वह पढ़ी नहीं जाती, और जितनी पढ़ी जाती है उससे कहीं कम समझी जाती है। भौतिक यथार्थ की पक्की पकड़ पर आधारित सुस्पष्ट चिंतन द्वारा ऐसे मिश्रित विचारों के अपदस्थ हो जाने के बाद ही यह कृति अपनी सशक्त अभिव्यक्ति और विचित्र सौंदर्य के लिए कुछ सौंदर्यमूलक आनन्द अवश्य देती रहेगी।

यह अंतिम कथन समस्त प्राचीन भारतीय संस्कृति के समाधि-लेख का भी काम दे सकता है।

अतिरिक्त टिप्पणी

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग द्वारा हाल के, किन्तु अप्रकाशित, कार्य द्वारा दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण बातों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है: भारत में लौह युग का आरंभ और गांगेय प्रदेश में आर्यों का प्रसार। प्रो० नूरुल हसन और आर० सी० गौड़ के निर्देशन में अतरंजीखेड़ा (उ०प्र०) की खुदाई में भांडों का ऐसा स्पष्ट क्रम मिला है जो हस्तिनापुर में बी०बी० लाल के कार्य के साथ मेल खाता है। यदि अलीगढ़ में प्राप्त विवरण को मैंने गलत नहीं समझा है तो लोहा पहले-पहल चित्रित धूसर भांडों के उस स्तर में मिला है जो रेडियो कार्बन

विधि से १००० ईसा पूर्व या उससे भी पहले का ठहरता है। उसके नीचे काले और लाल भांड हैं जिनके साथ थोड़ा-सा तांबा भी है, और जिसके पहले गेरू-धुले भाँडों की धातुपूर्व युग की सतह मिलती है। इसके नीचे प्राकृतिक और अछूती मिट्टी है। इसकी एक व्याख्या यह हो सकती है कि गेरू-धुले भांड जो कम पके हुए हैं और एक ऐसी मोटी दूरव्यापी सतह में एकत्र हैं जिसमें न चूल्हे मिलते हैं न फर्श, पशुचारियों के मौसमी शिविरों से आये होंगे। काले और लाल भांड अधिक सघन क्षेत्र में हैं जो लोगों की अधिक स्थायी प्रकार की वस्ती सूचित करता है, जिनके आने से पहले प्रकार के भाँडों पर रोक लगी, ऐसे भाँड किसी बड़ी मध्यवर्ती बंजर सतह के बिना ही अचानक मिलने बंद हो जाते हैं। दूसरे संचय के लोग उत्तरी राजस्थान के उसी प्रकार के लोगों के समान रहे हो सकते हैं; पर आर्य लोग जहाँ जाते थे वहीं की भांड बनाने की पद्धति अपना लेते थे। चित्रित धूसर भाँडों को पूरु भाँड कहना चाहिए; उनका लोहे से संबंध उल्लेखनीय है। यह नई धातु प्रचुर परिमाण में मिलती है जिससे भूमि की स्थायी तौर पर सफ़ाई और वास्तविक खेती सूचित होती है। साथ ही धातु की वृद्धि के कारण चित्रित भाँडों का स्थान सादे उपयोगी धूसर भाँडों ने ले लिया। इसके बाद से इतिहास की प्रगति शीघ्रता से होती है, पर अधिक निश्चित निष्कर्षों से पहले व्यापक खुदाई और विस्तृत विवरणों का प्रकाशन अत्यंत आवश्यक है। यह भी उल्लेखनीय है कि अलीगढ़ दल के क्षेत्र-सर्वेक्षणों में समान रचना वाले बहुत-से अन्य संचय भी पश्चिमी उत्तर प्रदेश (एटा जिला) में मिले हैं; इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत परिणाम किसी एक ही स्थल तक सीमित नहीं हैं।